॥ ओ३म् ॥
शतपथ-पाथेयम्
लेखक
आचार्य रामानन्द

शतपथ-पाथेयम्

॥ ओ३म् ॥

शतपथ-पाथेयम्

: लेखक :

आचार्य रामानन्द

शिमला

: संपादक :

मुनि सत्यजित्

वानप्रस्थ साधक आश्रम

आर्यवन, रोजड़, पत्रालय : सागपुर, जि. साबरकांठा, गुजरात.

सत्यं फाउंडेशन

लुधियाना, पंजाब

—: सौजन्य :—

श्रीमती रमा व श्री सुरेश मुंजाल

श्रीमती अनु व श्री समीर मुंजाल

श्रीमती स्वाति व श्री गौतम मुंजाल

प्रकाशन माह : माघ २०७८ विक्रमी, फरवरी २०२२
सृष्टि संवत् १९६०८५३१२२, दयानन्दाब्द—१९८

संस्करण : प्रथम - २००० प्रतियाँ

मूल्य : इस पुस्तक का स्वाध्याय

प्राप्तिस्थान : **सुरेशचंद्र मुंजाल**
२८०१, गुरदेव नगर, लुधियाना—१४१००१ (पंजाब)
दूरभाष : ०१६१—२४०२२७९

: प्रकाशक :

सत्यं फाउंडेशन

कोहाढ़ा माछिवारा रोड, गाँव मानगढ, जि. लुधियाना, पंजाब—१४१११२

लेसर टाईप सेटिंग : राज ग्राफिक्स, ११, पुनाजी एस्टेट, शनिदेव मंदिर के पास,
धोबीघाट, अहमदाबाद, गुजरात—३८०००१ दूरभाष : ०९९२५७९१९०२

अनुक्रमणिका

★ ★ ★

भूमिका

शतपथ ब्राह्मण यजुर्वेद का ब्राह्मण ग्रन्थ है। ब्राह्मण ग्रन्थों को महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेद के व्याख्यान-ग्रन्थ कहा है । महर्षि ने अपने वेदभाष्य में बहुत्र शतपथ ब्राह्मण का संकेत दिया है कि यह मन्त्र शतपथ में व्याख्यात है । शतपथ ब्राह्मण के आरम्भ से ही यह प्रतीत होने लगता है कि यह यज्ञ का व्याख्यान ग्रन्थ है । भारतीय परंपरा में यज्ञ विभिन्न रूपों में सर्वत्र व्याप्त है। चाहे नित्य कर्म हों या नैमित्तिक या काम्य, सर्वत्र विभिन्न यज्ञों का विधान व प्रयोग मिलता है। इन यज्ञों में वेद मन्त्रों का विनियोग भरा पड़ा है । अतः शतपथ ब्राह्मण को वेद–व्याख्यान ग्रन्थ व यज्ञ–व्याख्यान ग्रन्थ भी कहा जा सकता है ।

श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ को श्रेष्ठतम रीति से करने के लिए इसकी विधि को ठीक से जानना आवश्यक है । ये विधियाँ क्यों की जाती हैं ? इसका उल्लेख इसकी चर्चा विवेचना के साथ यहाँ मिलता है । यज्ञ प्रेमियों में यज्ञ करते समय श्रद्धा के कारण यह भावना बनी रहती है कि हम यज्ञ की छोटी से छोटी क्रिया को ठीक से कर सकें, साथ ही एक भय के कारण भी यज्ञ को ठीक से जानने समझने की भावना बनी रहती है । वह भय यह है कि यज्ञ जैसे पवित्र कर्म में मेरे से कोई त्रुटि न हो जाय, अज्ञानता–असावधानी से कोई दोष न हो जाय कि जिससे कोई अज्ञात अनिष्ट हो जाय । यज्ञ के प्रति गम्भीर प्रत्येक व्यक्ति को शतपथ ब्राह्मण से बहुत अधिक सहायता प्राप्त होती है । यज्ञ के समस्त विधि-विधानों को जानकर ही संतुष्टि प्राप्त होती है कि अब अज्ञात अनिष्ट की संभावना न्यूनतम है ।

यज्ञ प्रेमी मात्र इतने से संतुष्ट नहीं होते कि कोई पुरोहित आकर उनका यज्ञ करा दे, हमें बस इसकी व्यवस्था करनी है, यज्ञ के बारे में जानने का कार्य हमारा नहीं, पुरोहित का है । यज्ञ में कोई त्रुटि न हो इसका दायित्व हमारा नहीं, पुरोहित का है। यज्ञ प्रेमी स्वयं भी यज्ञ के विधि-विधानों को जानना व समझना चाहते हैं ।

यज्ञ की परंपरा को चाहने वालों के लिए यह प्रसन्नता की बात है कि शतपथ ब्राह्मण जैसा ग्रन्थ हमारे पास आज भी उपलब्ध है । उसकी सुसंगत व्याख्या करने वाले अनेक विद्वान् आर्य समाज में उपलब्ध रहे हैं व हैं। शतपथ ब्राह्मण के व्याख्याकारों में पं. बुद्धदेव विद्यालङ्कार (स्वामी समर्पणानन्द) जी का नाम सदा आदरणीय रहेगा। शतपथ ब्राह्मण को देखने—समझने में इन्होंने विशेष व महत्त्वपूर्ण दृष्टि प्रदान की है।

शतपथ-पाथेयम् इस पुस्तक के लेखक स्मृतिशेष **आचार्य रामानन्द जी,** शिमला ने यज्ञ व शतपथ पर दशकों कार्य व चिंतन किया है। उनका यह लेखन उनके देहावसान के कारण पूर्ण न हो सका, यह खेद का विषय है । लुधियाना के मुंजाल परिवार में ये वर्षों से कुल पुरोहित रहे हैं व लगातार प्रति वर्ष चतुर्वेद परायण यज्ञ कराते रहे हैं । इस काल में उनके यज्ञ व शतपथ ब्राह्मण सम्बन्धित व्याख्यान भी लगातार होते रहे हैं । यज्ञप्रेमी मुंजाल परिवार में भी श्रीमती रमा मुंजाल की यज्ञ सम्बन्धी श्रद्धा-लगन तो विशिष्ट है ही, किन्तु जिज्ञासा भी बहुत रही है । इसी का परिणाम है कि यह ग्रन्थ प्रकाशित हो पा रहा है ।

आचार्य रामानन्द जी ने यज्ञ प्रेमियों के लिए आवश्यक छोटे-छोटे विषयों को शतपथ ब्राह्मण के अनुसार सप्रमाण किन्तु सरल भाषा में लिखा है । उनके चिंतन की दिशा पं. बुद्धदेव विद्यालंकार (स्वामी समर्पणानन्द) जी के अनुरूप रही है । उन्होंने स्वामी जी का नाम व उनका अभिप्राय अनेकत्र दिया है । यज्ञ पर किया गया उनका परिश्रम व चिंतन और अधिक सार्थक हो सकता था, यदि वे कुछ वर्ष और जीवित रह पाते व इस ग्रन्थ को पूर्ण कर पाते ।

मुंजाल परिवार की आचार्य रामानन्द जी प्रति विशेष श्रद्धा रही है । मुंजाल परिवार १३ वर्षों से प्रतिवर्ष चतुर्वेद पारायण यज्ञ इन्हीं के निर्देशन व ब्रह्मात्व में करता रहा है । अन्य अनेक यज्ञ भी परिवार में व सामाजिक रूप से भी होते ही रहते हैं । यज्ञ के लिए विशेष हवि का निर्माण व उसके प्रयास दुर्लभ हैं । इस परिवार पर प्रभु की कृपा है व इनका पुरुषार्थ है कि ये यज्ञ को परंपरा से करते चले जा रहे हैं । यह मुंजाल परिवार अब तक पिछले १३ वर्षों में १३ बार चतुर्वेद पारायण यज्ञ

कर चुका है । ये प्रतिवर्ष ४ सामवेद पारायण यज्ञ भी १३ वर्षों से करते आ रहे हैं, इस प्रकार कुल ५२ बार यह हो चुका है । इनके प्रयास स्तुत्य हैं । इन पर प्रभुकृपा बनी रहे ।

मुंजाल परिवार की इस पुस्तक के प्रकाशन की तीव्र इच्छा रही है और इसे अब मूर्त रूप मिल गया है । यह पुस्तक जहाँ यज्ञ प्रेमी जन सामान्य के लिए उपयोगी सिद्ध होगी, वहाँ शास्त्रीय कर्मकाण्डी विद्वानों के लिए भी रुचिकर व विशेष दृष्टि की बोधिका होगी । आशा है आचार्य रामानन्द जी व मुंजाल परिवार का यह प्रयास आपको सार्थक लगेगा ।

इस पुस्तक को यथासंभव शुद्ध लेख में प्रकाशित करने का प्रयास किया गया है, पुनरपि शेष त्रुटियों के रहने की संभावना से मना नहीं किया जा सकता । आशा है विद्वान् पाठक उदार दृष्टि बनाये रखेंगे व त्रुटि से अवगत करायेंगे ।

इस पुस्तक के श्रमसाध्य संशोधन में आर्ष गुरुकुल, वानप्रस्थ साधक आश्रम, आर्यवन, रोजड़, गुजरात के वरिष्ठ **ब्रह्मचारी शिवनाथ आर्य** ने दो बार पूरा अवलोकन किया, दिल्ली की **विदुषी बहन कंचन आर्या** ने जो कि इन दिनों आश्रम में ही थीं, अपनी दुर्बलता व अस्वस्थता में भी विशेष पुरुषार्थ से इसका संशोधन किया। मैं व्यक्तिगत रूप से व समस्त यज्ञ प्रेमियों की ओर से दोनों का हार्दिक धन्यवाद करता हूँ । इसे टंकित करने वाले व मुद्रण करने वाले समस्त व्यक्तियों का भी धन्यवाद व उन्हें शुभ आशीर्वाद ।

विनीत

मुनि सत्यजित्

वानप्रस्थ साधक आश्रम,

आर्यवन, रोजड़, साबरकांठा, गुजरात

स्मृतिशेष लेखक
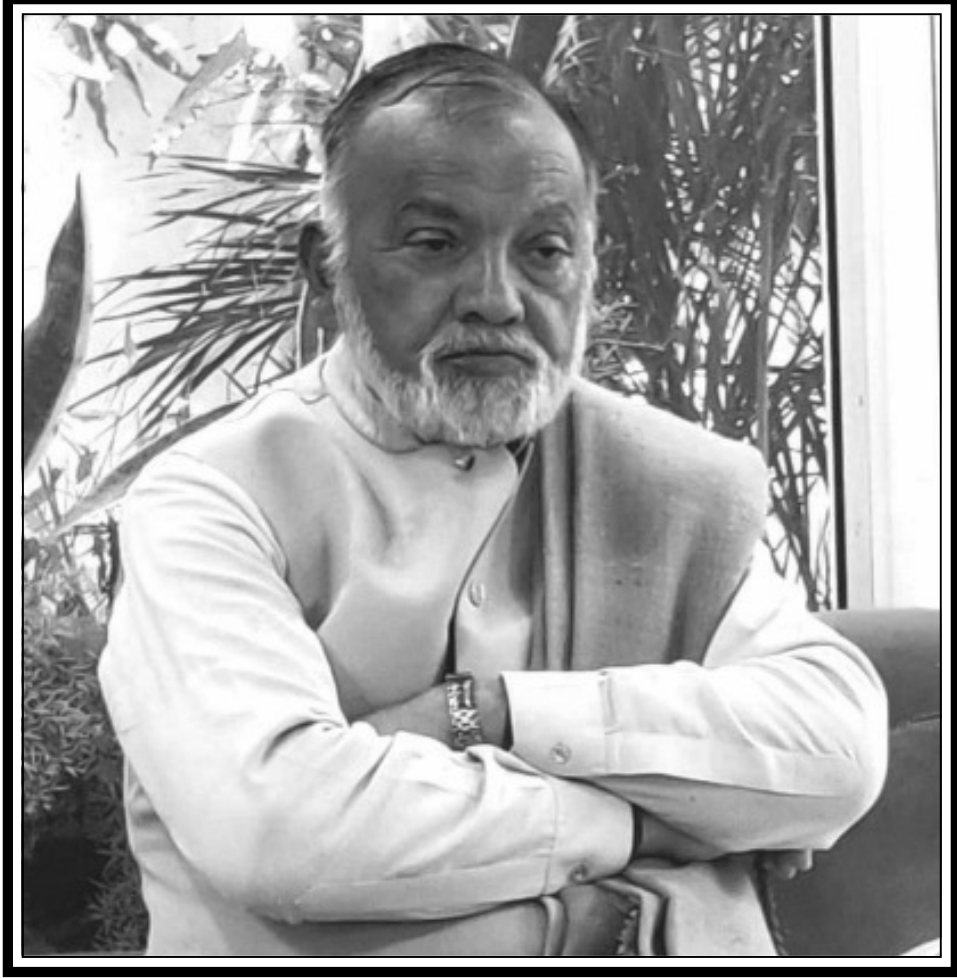
आचार्य रामानन्द जी

शिमला

व्रतोपासन विधि

किसी भी कार्य की सिद्धि व सफलता व्रत के अधीन हुआ करती है। व्रत का पालन करने वाला व्रती बनकर ही उस कर्म की उपासना करने में सक्षम हो सकता है।

'व्रत' का अर्थ निश्चयात्मक स्थिति होना है। जिसका सीधा अर्थ है कि मैंने इस सत् कर्म को अवश्य ही करना है। आज की तरह भोजन न करना यह व्रत नहीं माना जा सकता। यह व्रत की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। यह तो अपराध करके अपराध का प्रायश्चित्त रूप है। गुरु ने पाठ याद करने के लिए दिया, शिष्य ने पाठ याद नहीं किया तो गुरु शिष्य को दण्ड के रूप में एक–तीन–या सात दिन एक समय ही भोजन करने का दण्ड देता था। यही उसका प्रायश्चित्त हुआ करता था। आओ! हम सभी महर्षि याज्ञवल्क्य के अनुसार व्रती बनने का प्रयत्न करें क्योंकि याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं –

''व्रतम् उपैष्यन्'' १–१–१–१

यज्ञ करने से पूर्व यजमान को व्रती बनने की इच्छा वाला होना चाहिए। व्रती–संयमी ही यजमान हो सकता है और यजमान वही हो सकता है जो यज्ञ को मान देता हो, सम्मान देता हो। यही यजमान शब्द का अर्थ भी हो सकता है। अतः यज्ञ को मान देने वाला व्रती ही यजमान होगा।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ब्रह्मचारी का जब उपनयन संस्कार करने का विधान किया उस समय भी व्रत विधायक मन्त्रों का व्याख्यान अनिवार्य माना है :–

ओ३म् अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयम्।
तेनार्ध्यसमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि।।१।।

ओ३म् वायो व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयम्।
तेनार्ध्यसमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि।।२।।

ओ३म् सूर्य व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयम्।
तेनार्ध्यसमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि।।३।।

ओ३म् चन्द्र व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयम्।
तेनार्ध्यसमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि।।४।।

ओ३म् व्रतानां व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयम्।
तेनार्ध्यसमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि।।५।।

व्रत के रूप में इन पाँच मन्त्रों का विधान एक ब्रह्मचारी के लिए किया गया है। जिसने जीवन का आधारभूत उपनयन संस्कार करना है। वह भी अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और ईश्वर को साक्षी मानता हुआ व्रती बनता है और हमने तो जीवन को सफल बनाने के लिए संसार का श्रेष्ठतम यज्ञ कर्म करना है। अतः उसके लिए व्रती बनना परमावश्यक है। इसीलिए महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपने बहुमूल्य ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण का प्रारम्भ इसी प्रतिज्ञा सूत्र के साथ किया –

''व्रतम् उपैष्यन्'' १–१–१–१

अर्थात् हमारे अन्दर व्रती बनने की एक चाहना होनी चाहिए। इच्छा शक्ति ही कार्य की साधिका होती है। यही महर्षि याज्ञवल्क्य की चाहना है।

* * *

व्रती कैसे बनें ?

''अन्तरेवाहवनीयं च गार्हपत्यं च प्राङ् तिष्ठन्।।

जब भी हमारे अन्दर व्रती बनने की अभिलाषा जागरित हो तो उसी समय जो भी हमारे व्रत का प्रतीक साधक हो उसी को हमने साक्षी अवश्य बनाना है जिससे लोगों को ज्ञात हो सके कि हम व्रती हैं अथवा हम व्रती बनने जा रहे हैं।

स्वा० श्रद्धानन्द जी महाराज जब वकील थे तो वे शराब व मांसादि के व्यसनी थे। मांस का परित्याग करने की एक दिन प्रबल इच्छा मन में जागरित हुई तो उस दिन होटल में साथियों के साथ एक मेज पर भोजन करने के लिए बैठे थे। भोजन की थाली आयी। थाली में एक कटोरी में मांस परोसा हुआ था। उसे देखा और कटोरी को सामने दीवार पर पटक कर मारा। मांस के सारे टुकड़े इधर–उधर बिखर गये, साथियों के कपड़े भी छींटों से गन्दे हो गए तो लोगों ने पूछा – मुन्शीराम ! यह आपने क्या किया ? मुन्शीराम ने उत्तर दिया – आपको पता होना चाहिए कि मैंने मांस खाना छोड़ दिया है। साथी कहने लगे – यह बात आप मुख से भी कह सकते थे कि मैं अब मांस नहीं खाता। कटोरी पटकने की अशिष्टता क्यों की ? अब मुन्शीराम की अन्तरात्मा बोलती है – मैंने कटोरी इस लिए पटक के दीवार पर मारी है कि सबको ज्ञात हो जाए कि – ''मुन्शीराम ने मांस खाना छोड़ दिया है।।''

इसे कहते हैं – व्रत। बुराई को छोड़कर अच्छाई को ग्रहण करना व्रत हुआ करता है। वर्तमान की तरह एक सेर सेब, दो दर्जन केला और दो किलो दूध गटक कर यह कहना कि मेरा तो व्रत है। यह प्रचार करना मिथ्यावादिता है। इसे व्रत नहीं कहा जा सकता, यह उपवास हो सकता है। इसे व्रत की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है।

अब प्रश्न यह है कि यदि हमने व्रती बनना है तो हमें व्रत कैसे लेना चाहिए ? इसका विधान उपरोक्त कण्डिका में महर्षि याज्ञवल्क्य ने इस तरह से किया है –

आहवनीयं च – आहवनीय अग्नि और

गार्हपत्यं च – गार्हपत्य अग्नि के

अन्तरेण – मध्य में

प्राङ् तिष्ठन् – पूर्वाभिमुख खड़ा होकर व्रत के विधान की इच्छा करता है।

यहाँ पर इस बात का ध्यान रखना होगा कि हमारे व्रत का साक्षी 'अग्नि' देव होगा। क्योंकि 'अग्नि' ही सबका अग्रणी होता है, नेता होता है। प्रत्येक कार्य का साधक होता है। इसे ही 'अग्निर्वै देवानां मुखम्' अग्नि को ही सब देवताओं का मुख माना गया है।

इस कण्डिका में अग्नियों का ही विधान है – **एक है** –

गार्हपत्याग्नि – यह अग्नि गृहस्थ की पाकशाला में निरन्तर प्रज्वलित रहनी चाहिए, क्योंकि इसी के आधार पर परिवार का पालन–पोषण होता रहता है। मन्त्रपूर्वक पाकशाला के चूल्हे में इस अग्नि को प्रदीप्त किया जाता है। गृहस्थ का यही धर्म है, अतः इसे **'गार्हपत्य'** अग्नि कहते हैं।

द्वितीय – आहवनीय अग्नि है – गार्हपत्य अग्नि से लेकर जिस अग्नि को यज्ञ कुण्ड में स्थापित किया जाता है उसे आहवनीय अग्नि कहा जाता है। इसीलिए जब हम यज्ञ कुण्ड में अग्नि को स्थापित करने से पूर्व – ''ओ३म् – भूर्भुवः स्वः'' का उच्चारण करते हुए अग्नि का आह्वाहन करते हुए दीप को प्रदीप्त करते हैं। यही अग्नि यज्ञ कुण्ड में स्थापित होती है। उसी से हमारा यज्ञ चलता है। इसे ही हम **आहवनीय** अग्नि मानते हैं।

गार्हपत्य अग्नि और आहवनीय–अग्नि ये दोनों मानव जीवन का आधार हैं। इसीलिए याज्ञवल्क्य भी विधान करते हैं कि इन दोनों अग्नियों के मध्य ही खड़ा होकर व्रती बनना है। खड़े कैसे होना है? इसका विधान करते हुए महर्षि – याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''प्राङ् तिष्ठन्'' इति'' १–१–१–१

अर्थात् पूर्वाभिभाव खड़ा होना है। पूर्व दिशा वह दिशा है जहाँ से सूर्य उदय होता है। ''सूर्यसमः ज्योतिरिति'' हम भी सूर्य की तरह चमकने–दमकने वाले बनें यही भावना यजमान के प्रति, जिसने व्रती बनना है, महर्षि याज्ञवल्क्य की रही होगी। इसीलिए उन्होंने – 'प्राङ् तिष्ठन्' अर्थात् पूर्वाभिमुख खड़े होने का विधान किया है। यहीं से यजमान भी पूर्वाभिमुख यज्ञ करने के लिए बैठता है। जीवन के मुख्य कर्तव्य हमें भी पूर्वाभिमुख बैठकर करने चाहिए।

* * *

व्रत कैसे ग्रहण करें ?

सभी व्रती होना चाहते हैं, परन्तु हमें यह ज्ञात ही नहीं कि हमें वह व्रत कैसे ग्रहण करना है ? जिससे हम व्रती बन सकें। हम खड़े तो हो जाते हैं, हाथ भी जोड़ लेते हैं, किन्तु दिशा का ज्ञान नहीं होता कि किस दिशा की ओर खड़े होकर हमने व्रत ग्रहण करना है, उसके लिए महर्षि याज्ञवल्क्य ने पूर्वाभिमुख खड़े होने का विधान किया है।

पूर्वाभिमुख खड़े भी हो जाओ, हाथ भी जोड़ लो। पर इतने मात्र से व्रती नहीं बन पाओगे। यह बात याज्ञवल्क्य को स्वीकार्य नहीं है, अतः अपने अमूल्य ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण में लिखते हैं–

''अप उपस्पृशति'' १–१–१–१

अर्थात् हाथ में जल ही ग्रहण नहीं करना अपितु इसके द्वारा आचमन भी करना है। उसका पान करना है।

जल ही का स्पर्श क्यों करना है? जल से ही आचमन क्यों करना है ? इस जिज्ञासा को शमन करने के लिए जल शब्द पर ही विचार कर लेना चाहिए। जल में 'ज' और 'ल' दो अक्षर हैं। 'ज' वह पदार्थ है जो हमारे शरीर में जीवन संचार करता है और 'ल' वह पदार्थ है जिससे शरीर में लय गति आती हो। अतः वह पदार्थ जिससे शरीर में जीवन व गति आती है, वह जल है। जल के ही महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए वेद कहता है –

'आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे।।1 ।। अथर्व. १/५/१

यह जो जल है वह हमारे लिए सुखदायी है वह ही हमें अन्न देने वाला है, वह हमारे ज्ञान का साधन बना रहे।

योो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः।

उशतीरिव मातरः ।।2।। अथर्व. १/५/२

इन जलों का कल्याणकारी रस इस लोक में हमें प्राप्त होना चाहिए और ये जल माता के समान हमारे लिए कल्याण करने वाला हो।

तस्मा अरङ्गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ।

आपो जनयथा च नः ।।३।। अथर्व. १/५/३

ये दिव्य जल जिन वस्तुओं की प्राप्ति के लिए उपयोगी हैं उनकी प्राप्ति में हम पर्याप्त यत्न करें और वे जल हमें उनकी प्राप्ति करावें।

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।

शंयोरभि स्रवन्तु नः।।४।। अथर्व. १/६/१

ये उत्तम जल हमारे अभीष्ट अर्थात् अभिलषित वस्तु की प्राप्ति में तथा हमारी रक्षा के लिए कल्याणकारी साधन बनें। सदैव हम पर सुखों की अभिवृष्टि करते रहें।

ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम्।

अपो याचामि भेषजम्।।५।। अथर्व. १/५/४

ये उत्तम जल अन्न आदि के उत्पादक हैं, मानव जाति के जीवन के साधन हैं और सभी औषधियों की औषधि है। हम ऐसे दिव्य जलों को सदैव चाहने वाले बनें।।

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।

अग्निं च विश्वशम्भुवम्।।६।। अथर्व. १/६/२

चन्द्रमा अथवा सोमलता अपने गुण और कार्यों से प्रकट होते हैं। जल में समस्त प्रकार की औषधियों का सार है और विश्व के लिए उपयोगी विद्युत् भी उसी में है।

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम।

ज्योक् च सूर्यं दृशे।।७।। अथर्व. १/६/३

जलीय प्राण हमें लम्बे समय तक सूर्य को देखने के लिए अर्थात् लम्बी आयु के लिए और शरीर की समस्त शक्तियों के लिए श्रेष्ठ औषध देते रहते हैं। लम्बी आयु का एक मात्र साधन यह जल ही है।

इदमापः प्रवहत यत्किं च दुरितं मयि।

यद्वाहमभिदुद्रोहः यद्वा शेप उतानृतम्।।८।। ऋग्. १/२३/२२

शरीरस्थ हम जो कुछ भी भले–बुरे कार्य करते हैं आत्मा के साथ उसके लिए उत्तरदायी रहते हैं और मृत्यु के अनन्तर भी उसे धारण करते हैं।

आपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगस्महि।

पयस्वानग्न आ गहि तं मा सं सृज वर्चसा।।९।। ऋग्. १/२३/२३

सभी प्राणियों को पिछले किये हुए कर्मों का फल वायु, जल और अग्नि आदि पदार्थों के माध्यम से इस जन्म वा अगले जन्म में प्राप्त होता ही है।

अतः जल को ही अमृत माना गया है। यह ऋग्वेद वर्णित जल का महत्त्व है, इसके अतिरिक्त अथर्ववेद भी वर्णन करता है –

शं न आपो धन्वन्या३ः शमु सन्त्वनूप्याः।

शं नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ आभृताः। शिवा नः सन्तु वार्षिकीः।।

अथर्व. – १/६/४

वह दिव्य जल चाहे निर्जल प्रदेश का हो, चाहे सजल प्रदेश का, ये दोनों ही जल हमारे लिए सुखदायी हों। फावड़े से खोद कर निकाला जल और घड़े में रखा जल भी कल्याणकारी हो और वर्षा के माध्यम से बरसने वाला जल भी सुखदायी हो।

जल सब तरह से सब स्थानों में हमारा उपकारी होता है, अतः महर्षि याज्ञवल्क्य अपने ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण में लिखते हैं –

''अप उपस्पृशति''

* * *

आचमन

'आचमन' प्रक्रिया कर्मकाण्ड का एक मुख्य अङ्ग है। इसको बिना किये कोई भी कर्मकाण्ड का कर्म फलीभूत नहीं होता।

'आचमन' शब्द 'आङ्' उपसर्ग 'चमु' भ्वादिगण की धातु से सम्पन्न है। जिसका अर्थ 'पान' करना है। सम्पूर्ण जल का पान एक ही साथ जिस प्रक्रिया में किया जाता हो उसे 'आचमन' कहते हैं। इसीलिए आचमन की प्रक्रिया के लिए 'आचमतीति आचमनम्' का प्रयोग किया जाता है।

आचमन की अपरिहार्यता को देख कर यह आचमन किसी भी तरल पदार्थ से किया जा सकता था। जैसे तेल, दुग्ध घृतादि से। फिर जल से ही क्यों? आचमन अनिवार्य है? इस जिज्ञासा की उपरति पर याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''तद् यद् अप उपस्पृशति'' १–१–१–१

तो यह जल से आचमन करता है क्योंकि –

''अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति'' १–१–१–१

यज्ञानुष्ठानार्थ मनुष्य अपवित्र है। उसमें यह अपवित्रता इस कारण से है कि वह बात–बात में झूठ बोलता है। याज्ञवल्क्य झूठ बोलने को अपवित्रता का द्योतक मानते हैं। अतः उसका यज्ञानुष्ठानार्थ पवित्र होना अनिवार्य है। क्योंकि याज्ञवल्क्य का मानना है –

''तेन पूतिरन्तरतः''। १–१–१–१

इस आचमन की प्रक्रिया से यजमान अन्दर से पवित्र होता है। याज्ञवल्क्यानुसार यज्ञानुष्ठान से पूर्व बाह्य शुद्धि ही अनिवार्य नहीं अपितु अन्दर की पवित्रता भी

अपरिहार्य है। तभी जाकर यज्ञ कर्म के अनुष्ठान का फल उपलब्ध होगा। पवित्रता पवित्र वस्तु के उपस्पर्शन से ही प्राप्त है याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''मेध्या वा आपः'' १–१–१–१

जल निश्चय से पवित्र है। संसार में जल से अतिरिक्त कोई भी पदार्थ पवित्र नहीं है। अतः उसी के पान से अन्दर से भी पवित्रता आती है। अतः याज्ञवल्क्य कहते हैं–

''मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति'' १–१–१–१

यज्ञोपयुक्त पवित्र होकर व्रत को धारण करना चाहिए। शास्त्र जल को ही पवित्र मानता है। अतः जल से ही आचमन करना चाहिए यही सिद्धान्त है।

शास्त्रीय वचन है –

''आचमनान्तेन कर्म कुर्यात्''

इस शास्त्रीय वचनानुसार सारा कार्य – कर्म आचमन के पश्चात् ही प्रारम्भ होना चाहिए। इसीलिए महान् याज्ञिक महर्षि याज्ञवल्क्य ने पूर्व में ही लिख दिया है कि मनुष्य अपवित्र है, क्योंकि वह झूठ बोलता है। जल पवित्र है इसीलिए ईश्वर स्तुति, प्रार्थना, उपासना से पूर्व सर्वप्रथम वह आचमन करता है। जल शान्त तथा पवित्र है, मेधा के लिए हितकर है, मैं भी मेध्य अर्थात् मेधाव्यापारानुकूल अवस्था में बैठकर ईश्वर को ध्याऊँ अतः जल से ही आचमन किया जाता है।

यजमान सहित सभी यज्ञ कुण्ड के चारों तरफ बैठें। याज्ञिक अपने–अपने जल पात्र से अपने दाहिने हाथ की हथेली पर इतना ही जल ग्रहण करें जो कण्ठ से नीचे हृदय प्रदेश तक ही पहुँच सके। ये आचमन कितने हों ? इस प्रश्न के उत्तर में बोधायन सूत्र (४–६–३) में लिखा है –

''त्रिराचमेत्''

अर्थात् तीन आचमन करने चाहिएँ।

इसी तरह गोपथ ब्राह्मण में भी लिखा है –

''त्रिः आचमति''

इसकी व्याख्या में बोधायन में लिखा है –

''प्रथमे यत् पिबति तेन ऋग्वेदं प्रीणति।

द्वितीयेन यजुर्वेदं प्रीणति।

यत्तृतीयं तेन सामवेदं प्रीणति'' ।। ४–६–४ ।।

इस प्रकार यजमान ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद को तृप्त करके अपने को भी ज्ञान–कर्म व उपासना रूप त्रयीविद्या से संयुक्त करता है तथा तीन तरह के आधिभौतिक, आधिदैविक व आध्यात्मिक दुःखों से विमुक्त होकर बड़ी श्रद्धा से पवित्रता के साथ आचमन करता हुआ बोलता है –

ओ३म् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा।। 1 ।।

हे सर्वरक्षक ! अमर स्वामिन् ! आप मेरे बिछौना रूप हो अर्थात् सकल जगत् के आधार और आश्रय भूत हो, यह मैं सत्य निष्ठा के साथ सद् वचन द्वारा आचमन करता हूँ।

ओ३म् अमृतापिधानमसि स्वाहा।।2 ।।

हे सर्वरक्षक ! अविनाशी परमात्मन् ! आप हमारे लिए ओढ़नी रूप अर्थात् हमारे आच्छादक, वस्त्र रुप हो सब ओर से हमारी रक्षा करने वाले हो। यह मैं सत्यनिष्ठ होकर आचमन क्रिया द्वारा अन्तःकरण में ग्रहण करता हूँ।

ओ३म् सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा।।३ ।।

सब तरह से सर्वरक्षक अविनाशी प्रभु को अपना रक्षक बताते हुए प्रभु से प्रार्थना करता है कि सच्चाई से प्राप्त किया हुआ धन और यश मेरी शोभा बढ़ाए अर्थात् जो कुछ भी मुझ यजमान को उपलब्ध हो वह सुपथ से प्राप्त हो। सत्यनिष्ठापूर्वक अन्तःकरण से मेरी यह प्रार्थना है। इसीलिए याज्ञवल्क्य ने भी अन्तःकरण की पवित्रता के लिए आचमन को अनिवार्य अङ्ग के रूप में स्वीकारते हुए लिखा –

''तेन पूतिरन्तरतः'' इति।।

* * *

व्रतधारण

'व्रतम्' ''सत्यं वै देवा अनृतं मनुष्याः''

महर्षि याज्ञवल्क्य का सिद्धान्त है कि व्रती बन कर ही याज्ञिकों को यज्ञादिकर्म करने में प्रवृत्त होना चाहिए। अव्रती के लिए इन कृत्यों में कोई भी स्थान नहीं है। अतः ऋषि लिखते हैं –

''सोऽग्निमेवाभीक्षमाणो व्रतमुपैति'' ।। १–१–१–२

अर्थात् जैसे भौतिक अग्नि अन्धकार को दूर करता हुआ प्रकाशमान होकर हमारा पथ प्रदर्शक है उसी तरह अग्नि की तरह तेजस्वी वह परमपिता परमात्मा भी अग्नि रूप होकर सदैव हमारा पथ प्रदर्शक है उसी प्रभु को हृदय से स्मरण करता हुआ यजमान व्रत ग्रहण करता हुआ मन्त्र बोलता है –

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि।। १–१–१–२, ४।।

हे अग्ने ! ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! मैं शपथ पूर्वक हृदय से आपको स्मरण करता हुआ मानता हूँ कि आप ही सम्पूर्ण व्रतों के स्वामी हैं, व्रतों के रक्षक हैं। अतः मैं भी अपने जीवन में व्रत को आत्मसात् करूँगा। व्रत को धारण करूँगा। मेरा व्रत है कि मैं आजीवन सत्य का ही पालन करूँगा और असत्यता का सर्वथा त्याग करूँगा।

सत्य पालन को ही शास्त्रकारों ने व्रत की प्रथम श्रेणी में रखा है। आज व्रत का स्वरूप विकृत हो गया। भोजन न करना ही व्रत मान लिया गया जो मिथ्यावादिता है। इसे व्रत नहीं कहते, यह तो सर्वथा प्रायश्चित्त माना गया है। सत्य को धारण करना, उसे आत्मसात् करना ही व्रत है।

नास्ति सत्यसमो धर्मः सत्याद्विद्यते परम्।
नहि तीव्रतरं किञ्चिदनृतादिह विद्यते।।

सत्यवचन व सत्यवादिता से बढ़कर कोई धर्म नहीं और सत्य से बढ़कर कोई वस्तु संसार में नहीं है। इस संसार में झूठ से बढ़ कर कोई तीव्रगामी नहीं है। झूठ जल्दी फैलता है और जल्दी ही नष्ट होता है।

अश्वमेधसहस्रञ्च सत्यञ्च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते।।२।।

एक तुला के पलड़े पर अश्वमेध सहस्र यज्ञ के लाभ को रख दो और एक तरफ सत्य को रखो। उस तुला पर भी सत्य का पलड़ा भारी पड़ेगा। अतः जीवन में सत्य को ही ग्रहण करना चाहिए, असत्य को नहीं।

सत्यमेव व्रतं यस्य दया दीनेषु सर्वदा।
काम–क्रोधौ वशौ यस्य स साधु कथ्यते बुधैः।।३।।

जिस व्यक्ति ने आजीवन सत्याचारण का व्रत लिया हो तथा सदैव जो दीन–हीन प्राणियों पर दया दृष्टि रखता है, काम और क्रोध पर निरन्तर जिसकी पकड़ है, इन दोनों को जिसने अपने वश में कर रखा है, उसी व्यक्ति को विद्वान्, सज्जन अथवा साधु मानते हैं। गेरुए वस्त्रधारी ही साधु नहीं होते, सत्य की अनुपालना करने वाले दयालु, जितेन्द्रिय ही साधु श्रेणी में माने जाते हैं।

ये वदन्तीह सत्यानि प्राणत्यागेऽप्युपस्थिते।
प्रमाणभूता भूतानां दुर्गाण्यतितरन्ति ते।।४।।

प्राणों का संकट आने पर भी जो सत्य वचन का परित्याग नहीं करते, वे ही इस संसार में प्रामाणिक आदर्श पुरुष बने रहते हैं। लोग उनके जीवन का बार–बार उदाहरण देते रहते हैं वही कहा करते हैं –

रामादिवत् प्रवर्तित्वं न रावणादिवत्।।

वत्स ! संसार में तुम्हारा व्यवहार श्रीराम की तरह होना चाहिए, न कि रावण की तरह। श्रीराम ने जीवन में सत्याचरण को अपनाया अतः वे हमारे मर्यादा पुरुषोत्तम आदर्श श्रीराम बन गए। रावण ने पापाचरण किया अतः वह हमारे लिए मर्यादाहीन पापाचारी राक्षस हुआ।

सत्य का पालन करने वाला व्यक्ति कठिन से भी कठिनतम आपदाओं से निवृत्त होने वाला होता है।

सत्यहीना वृथा पूजा सत्यहीनो वृथः जपः।
सत्यहीनं तपो व्यर्थमूषरे वपनं यथा।।५।।

जैसे बंजर भूमि में बीज का बोना निरर्थक होता है क्योंकि वहाँ बोया गया बीज फलीभूत ही नहीं होता, उसी तरह उस पूजा का कोई लाभ नहीं जिसमें सत्यता न हो, उस जप का भी कोई लाभ नहीं है जिसमें सत्यता न हो, वह तो वृथा आडम्बर ही है, दिखावा मात्र है। वह तप भी किसी काम का नहीं जिसमें सच्चाई नहीं। सत्यहीन पूजा, जप व तप किसी काम के नहीं हैं। इनका तो सत्यहीनता में सर्वथा परित्याग कर लेना चाहिए।

गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः।
अलुब्धैर्दानशूरैश्च सप्तभिर्धार्यते मही।।६।।

गाय, ब्राह्मण, वेद, सती नारियों, सत्य वचन का पालन करने वाले भद्र पुरुष, अलोभी, दान में शूरवीर – इन सात पुरुषों पर ही यह धरती खड़ी है। यह धरती इन सातों से ही गौरवान्वित है।

भूमिः कीर्तिर्यशो लक्ष्मीः पुरुषं प्रार्थयन्निह।
सत्यं समनुवर्तन्ते सत्यमेव भजेत्ततः।।७।।

संसार की ये चार वस्तुएँ – भूमि, सम्मान, यश और लक्ष्मी–स्वतः ही उनका अनुवर्तन करती हैं जो जीवन में सत्य का पालन करते हैं। यदि संसार में भूमिवान्, सम्मानवान्, यशस्वी और लक्ष्मीपति धनवान् बनना चाहते हो तो सत्य का पालन व आचरण करो।

त्रीण्येव तु पदान्याहुः पुरुषस्योत्तमं व्रतम्।
नु द्रुह्येच्चैव दद्याच्च सत्यं चैव परमं वदेत्।।८।।

पुरुषोत्तम बनने के लिए तीन ही व्रतों का विधान शास्त्रकारों ने किया है। सर्वप्रथम, पुरुष को किसी से भी अभिद्रोह नहीं करना चाहिए। द्वितीय, भूतमात्र पर दयावान् होना

चाहिए और तृतीय, जीवन में निरन्तर सत्य–वचन का परिपालन करना चाहिए। अद्रोह, दया की भावना और सत्यवादिता–ये तीनों गुण पुरुष को पुरुषोत्तम बनाते हैं। हमें भी इन तीनों गुणों की पालना करते हुए पुरुषोत्तम बनना चाहिए।

सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद्विद्यते परम्।
सत्येन विधृतं सर्वं सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्।।९।।

संसार में सत्य वचन का परिपालन करना ही साधुता है, सत्य से बढ़कर अन्य कोई वस्तु संसार में नहीं है। सत्य ही ने सब कुछ धारण किया हुआ है और सभी सत्य में प्रतिष्ठित है। सत्य पर ही संसार निर्भर है।

असत्प्रलापं पारुष्यं पैशुन्यमनृतं तथा।
चत्वारि वाचा राजेन्द्र न जल्पेन्नानुचिन्तयेत्।।१०।।

निरर्थक बोलना, कठोर वाणी का प्रयोग करना, चुगली करना और झूठ बोलना–ये चारों वाणी के प्रयोग हे राजन्! मनुष्य को नहीं करने चाहिए और न ही इनके विषय में कभी भी हमें चिन्तन करना चाहिए।

मानाद्वा यदि वा लोभात् क्रोधाद्वा यदि वा भयात्।
योऽन्यायादन्यथा ब्रूते स नरः पापमाप्नुयात्।।११।।

जो व्यक्ति अभिमानवश, लोभवश अथवा क्रोध में या भय से अथवा अन्याय के वशीभूत होकर असत्य वाणी का प्रयोग करता है वह पाप को प्राप्त करता है, वह पापी कहलाता है। हम भी पापी न बनें इसीलिए याज्ञवल्क्य लिखते हैं।

व्रतमुपैति इति

अग्नि को साक्षात् देखता हुआ व्रत ग्रहण करता है। जब व्रती बनाया तो यहाँ और अधिक स्पष्ट करने की कोई बात नहीं उसका व्रत सत्यानुपालन ही है।

* * *

कृतज्ञता

मनुष्य को कार्य सिद्धि पर कृतज्ञता अभिव्यक्त करनी चाहिए। यह जीवन की व्यावहारिकता भी है विशेषतः मनुष्य के लिए। कुछ लोग कृतघ्नता करते हुए देखे जाते हैं। उनके लिए जितना भी परोपकार करो उसका कोई मूल्य नहीं। वे जीवन में दगा ही करेंगे। पाश्चात्य जगत् में सुकरात नाम का दार्शनिक हुआ। उसके दो शिष्य थे–अरस्तु और प्लैटो। अरस्तु सदैव अभिमानी रहा उसने जीवन में गुरु के दार्शनिक विचारों को अपने ही नाम से प्रकाशित किया। एक बार भी वह गुरु का नाम लेना उचित नहीं समझता था, अभिमानी था, यही कृतघ्नता है।

दूसरी ओर प्लैटो था, जब तक उसके गुरु सुकरात जीवित रहे उसने अपने दर्शन को भी गुरु के नाम से प्रकाशित किया। कहीं भी अपना नाम नहीं आने दिया, यह है कृतज्ञता। हमारे जीवन में भी कृतज्ञता आनी चाहिए, कृतघ्नता नहीं। आज बहुधा जीवन में कृतघ्नता ही देखने को मिलती है, कृतज्ञता बहुत कम देखी जा सकती है।

प्रभु की कृपा से हमने यज्ञ किया। उस यज्ञ को हमने मनसा–वाचा–कर्मणा समर्पित होकर किया। उसमें हमें सफलता भी उपलब्ध हुई, क्योंकि हमने सकाम यज्ञ किया है क्योंकि हमारी प्रार्थना रही –

''यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्।।

ऋग्. १०/१२१/१०

हमने जिस कामना से तेरे यज्ञ को सम्पन्न किया है वह मेरी कामना पूर्ण होनी चाहिए। वह कामना है कि हम धन–ऐश्वर्यों के स्वामी बनें। कामना पूर्ण भी हो जाती है और धन ऐश्वर्यों के स्वामी भी बन जाते हैं। परन्तु हमारे अन्दर कृतज्ञता होनी चाहिए

कि यह सब कुछ ईश्वरीय कृपा से सम्पन्न हुआ है। मेरी कोई औकात नहीं थी। इसी भावना को प्रेरित करने के लिए याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''**अथ संस्थिते विसृजते**'' १–१–१–३

जब यजमान का यज्ञ सम्पन्न हुआ तो यज्ञ करने से पूर्व उसने जो व्रत लिया था उसका वह विसर्जन करता है और अब इस प्रतिज्ञा मन्त्र को कृतज्ञता के साथ उच्चारण करता है –

''अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधि
इदमहमनृतादुपैषम्।। १–१–१–३

हे अग्ने ! ज्ञानस्वरूप परमात्मन् व्रतों के रक्षक स्वामिन्! मैंने आप की कृपा से व्रत को आत्मसात् कर लिया है, उस व्रत को धारण करने में आपकी कृपा से ही समर्थ हुआ हूँ। वह मेरा व्रत आपकी दया से सम्यक् सिद्ध हुआ है, उसके परिपालने में समर्थ हुआ हूँ। यहाँ कृतज्ञता के लिए याज्ञवल्क्य का स्पष्ट आदेश है कि –

एतद् यो यज्ञस्य संस्थामगन्नराधि हि अस्मै यो यज्ञस्य
संस्थामगन्नेतेन न्वेव भूयिष्ठा इव व्रतमुपयन्ति
अनेन तु एव उपेयात्।। १–१–१–३

अर्थात् जो यजमान यज्ञ की समाप्ति को प्राप्त हो गया है, वह इसी मन्त्र से अधिकतम व्रत की अनुपालना करे उसे धारण करे और अन्त में प्रार्थना करे। प्रभु का उपरोक्त मन्त्र से आभार अवश्य अभिव्यक्त करे। यही मनुष्यता है।

* * *

मनुष्य और देवत्व की परिभाषा

इस संसार में मुख्यतया दो धारायें ही प्रवाहित हो रही हैं, उनमें एक है मानवतावादी धारा और दूसरी है देवतावादी।

सर्वप्रथम हमारे समक्ष यह प्रश्न पैदा होता है –

''को वै मनुष्यः'' ?

इस जिज्ञासा का उत्तर देते हुए आचार्य यास्क अपने महान् ग्रन्थ निरुक्त में लिखते हैं

''मत्त्वा कर्माणि सीव्यतीति'' निरुक्त ३–७

जो अच्छी तरह से सोच विचार कर कर्मों को करना जानता है हम उसे मनुष्य कहते हैं।

महाराज भर्तृहरि तो स्पष्ट शब्दों में परिभाषा करते हैं –

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।। नीतिशतक ७/१६

प्रवृत्तियाँ भोजनादि का खान–पान, निद्रा, भय और सन्तानोत्पत्ति की इच्छा, ये चारों प्रवृत्तियाँ मनुष्य और पशुओं में समान रूप से पायी जाती हैं। फिर कौन सी ऐसी प्रवृत्ति है जिसके कारण हम पशुता छोड़कर मनुष्यता की श्रेणी में आते हैं ? उसके लिए भर्तृहरि कहते हैं कि मनुष्य में धर्म नाम का एक ऐसा तत्त्व है जिसके कारण मनुष्य को पशुता से भिन्न किया जा सकता है। यदि धर्म मनुष्य के पास न हो तो वह भी पशु तुल्य है।

वह धर्म कहाँ है ? एतदर्थ मनु महाराजा कहते हैं –

''वेदोऽखिलो धर्ममूलम्''

सम्पूर्ण वेद ही धर्मों का मूल है इसीलिए महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं –

''वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना–पढ़ाना और सुनना–सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।''

महर्षि के मतानुसार वेद हमारे लिए परम धर्म हैं। मनुष्य की परिभाषा करते हुए ऋषि अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश (स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश) में लिखते हैं –

''मनुष्य उसी को कहना जो कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख–दुःख और हानि–लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं किन्तु अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओं की, चाहे वे महा अनाथ, निर्बल और गुण रहित क्यों न हों – उनकी रक्षा उन्नति प्रियाचारण और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती, सनाथ, महाबलवान् और गुणवान् भी हो तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे अर्थात् जहाँ तक हो सके वहाँ तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु इस मनुष्यपन रूप धर्म से पृथक् कभी न होवे।''

महर्षि के वचनानुसार और शास्त्रकार के मतानुसार यही धर्म मनुष्यपन का होना चाहिए। पुनश्च महर्षि दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका में लिखते हैं –

''जैसे आजकल के स्वमत की स्तुति, मण्डन और प्रचार करते और दूसरे मत की निन्दा, हानि और बन्द करने में तत्पर होते हैं वैसे मैं भी होता, परन्तु ऐसी बातें मनुष्यपन से बाहर हैं, क्योंकि जैसे पशु बलवान् होकर निर्बलों को दुःख देते और मार भी डालते हैं जब मनुष्य शरीर पाके वैसा ही कर्म करते हैं, तो वे मनुष्य स्वभावयुक्त नहीं, किन्तु पशुवत् हैं और जो बलवान् होकर निर्बलों की रक्षा करता है वही मनुष्य कहलाता है और जो स्वार्थवश होकर परहानि मात्र करता है, वह जानो पशुओं का भी बड़ा भाई है।''

हम जब यजमान बनकर यज्ञ सम्पादित करते हैं तो हमारा व्यवहार भी मनुष्यवत् होना चाहिए, न कि पशुवत् क्योंकि यज्ञ जहाँ स्वान्तःसुखाय होता है वहाँ उसे परहिताय भी माना गया है।

शतपथ ब्राह्मण की व्याख्या करते हुए स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज ने उसकी भूमिका में जो यज्ञ का लक्षण दिया है उसी से आप यज्ञ की सार्थकता समझ सकते हैं। वे लिखते हैं –

''कल्याणार्थिना सामुदायिकं योगक्षेममुद्दिश्य समुदायाङ्गतया
क्रियमाणं कर्म यज्ञः।।

अर्थात् कोई कल्याणार्थी अपने आपको समुदाय का अंग मानकर जिस समुदाय का वह अङ्ग हो उसके सामुदायिक योग–क्षेम–सिद्धि के लिए जो कर्म करता है वह यज्ञ है। वहीं पर उन्होंने स्वीकार किया है –

सामुदायिकं योगक्षेमं पुरस्कृत्य क्रियमाणं कर्म–देव है।

और इसका उल्टा

स्वार्थाय क्रियमाणं कर्म आसुर है।

यही मनुष्यत्व व असुरत्व है। मनुष्यपन को जीवित रखने के लिए यज्ञमय होना परमावश्यक है।

देवत्व के सन्दर्भ में भी महर्षि दयानन्द का प्रामाणिक व प्रासाङ्गिक वचन मानता हुआ यहाँ उन्हीं के वचनों को उद्धृत करता हूँ –

''देव'' विद्वानों को, और अविद्वानों को असुर, पापियों को
राक्षस, अनाचारियों को पिशाच मानता हूँ । (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश)

यहाँ ऋषि स्पष्ट शब्दों में केवल मात्र विद्वानों को ही देवता मानते हैं क्योंकि कहा भी गया है –

''विद्वांसो हि देवाः'' इति।।

ऋषि ने देवों को ही पूज्य मानते हुए वहीं पर लिखा –

''उन्हीं विद्वानों, माता, पिता, आचार्य, अतिथि, न्यायकारी राजा और धर्मात्माजन, पतिव्रता स्त्री और स्त्रीव्रत पति का सत्कार 'देव पूजा' कहलाती है।

ऋषि का यह कथन महत्त्वपूर्ण है। अत एव देव पूजा को भी हम यज्ञ स्वीकार कर सकते हैं। इसी तरह की देव पूजा–रूप–यज्ञ से ही एक अच्छे समाज का निर्माण होना सम्भव है।

देव कौन हो सकते हैं ? इसी सन्दर्भ में पुनः सत्यार्थ प्रकाश के दशम समुल्लास में ऋषि लिखते हैं –

मातृ–देवो भव। पितृ–देवो भव। आचार्य–देवो भव।
अतिथि–देवो भव।

माता, पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा करना देव पूजा कहाती है।

हमें भी इन्हें देव मानकर इनकी पूजा करके देव पूजा को सार्थक करना चाहिए। अन्य तो पाखण्ड है।

देव के सन्दर्भ में ऋषि दयानन्द फिर चतुर्थ समुल्लास में लिखते हैं –

''विद्वांसो हि देवा'' यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है –

जो विद्वान् हैं उन्हीं को देव कहते हैं, जो सांङ्गोपाङ्ग चारों वेदों के जानने वाले हों उनका नाम 'ब्रह्मा'। और उनसे न्यून पढ़े हों उनका नाम 'देव' अर्थात् विद्वान् है।।

यज्ञ कराने वाला वेद मन्त्र का पाठ करता है। यज्ञ के लिए वेद का स्वाध्याय करता है। उसी से वेद की भी रक्षा होती है अतः ऋषि के मतानुसार जो विद्वान् है, वेद को मानता और जानता है वह देव है।

अब हम इस सन्दर्भ में महर्षि याज्ञवल्क्य के विचारों से अवगत होने का प्रयत्न करते हैं कि महर्षि इस सन्दर्भ में अपने ग्रन्थ में क्या विचार अभिव्यक्त करते हैं। याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति। सत्यं चैवानृतं च'' ।। १–१–१–४

संसार में दो ही तरह की वाक् प्रकाशित हैं। उनमें एक सत्य है और दूसरी अनृत है। तीसरी के लिए कोई अवकाश नहीं। छल–कपट करना मनुष्य श्रेणी में नहीं, देवत्व में तो उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, अतः महर्षि याज्ञवल्क्य घोषणा करते हैं –

''सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः'' । १–१–१–४

सत्य वचन का ही प्रयोग करना तथा सत्याचरण करना ही देवत्व का लक्षण है। अनृत अर्थात् झूठ का बोलना और आचरण करना मनुष्य का एक स्वाभाविक सा गुण है। इसीलिए व्रत लेता हुआ यजमान घोषणा करता हैः–

इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीति तन् मनुष्येभ्यो
देवानुपैति। १–१–१–४

व्रती होने के पश्चात् यजमान अनृत से हट कर सत्य को प्राप्त होता है। इस प्रतिज्ञा से यजमान मनुष्यों से निकल कर सत्य स्वरूप देवों में सम्मिलित हो जाता है।

हमारे जीवन का लक्ष्य भी देवत्व होना चाहिए। यह देवत्व तभी आयेगा जब हम सत्य वचनानुसार सत्याचरण में भी प्रवृत्त होंगे। इसी से उस परम निधान परमात्मा को जानने का हमारे द्वारा प्रयत्न किया जा सकता है – कहा भी है –

सत्येन लभ्यस् तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।।

और भी वर्णन किया गया है –

सत्यमेव जयते नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्।।

इस सत्यव्रत की विस्तृत सत्यता को स्वीकार करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं –

''सत्यमेव देवाः''

अर्थात् मनुष्य का सत्यभाषण, सत्याचरण, सत्य व्यवहार – यह सत्य परायणता ही उनमें देवत्व की उत्पादिका है। यह यजमान पर निर्भर करता है, वह जिस समय भी

यह निश्चय कर लेता है कि अब मैं सत्य की ओर जाऊँगा उसी समय में वह देवत्व श्रेणी में प्रवेश कर लेता है। अतः याज्ञवल्क्य अपने शास्त्र में लिखते हैं –

''स वै सत्यमेव वदेत्। १–१–१–५

अर्थात् मनुष्य सदैव सत्य ही बोले क्योंकि

''एतद् ह वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम्''। १–१–१–५

निश्चय से ही देव इसी सत्यरूपी व्रत का आचरण करते हैं। उसका परिणाम उनकी सत्यरूपता है। उस सत्यरूपी व्रत के ग्रहण के प्रयोजन को अभिव्यक्त करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''तस्मात्ते यशो यशो ह भवति य एवं विद्वान् सत्यं वदति''। १–१–१–५

अर्थात् जो सत्यभाषण, सत्याचरण, सत्यव्यवहार तथा सत्यपरायणता को अपनाता है वह यशस्वी जीवन से युक्त हो जाता है। जो यजमान सत्यरूपी व्रत को जीवन में निश्चय पूर्वक ग्रहण कर लेता है वह यशरूप अर्थात् कीर्तिमान हो जाता है। इसीलिए जब आचमन करते हैं तो अन्त में हम प्रार्थना करते हैं –

''सत्यं यशः श्रीर्मयी श्रीः श्रयताम् स्वाहा।।

यशस्वितापूर्ण जीवन को व्यतीत करना हमारा लक्ष्य होना चाहिए। अतः हमें याज्ञवल्क्य वचनानुसार

''स वै सत्यमेव वदेत्''। १–१–१–५

इस प्रतिज्ञा वाक्य का पालन करना चाहिए। तभी हम मनुष्यत्व से देवत्व को प्राप्त कर सकेंगे।

* * *

८–अष्टमपाथेयम्

उपवास (व्रत)

वर्तमान में एक धारणा है कि जब भी हम कोई धार्मिक कृत्य करते हैं तो उस में उपवास (व्रत) रखना अनिवार्य समझते हैं, बिना उपवास के कृत्य–कर्म के दूषित होने का भय बना रहता है। अतः यजमान व इतर जन उस दिन निराहार रह कर ही उस धार्मिक यज्ञादि कर्मों को सम्पादित करना अपना धर्म मानते हुए उस दिन भोजन नहीं करते।

यह उपवास क्या है ? करना चाहिए व नहीं करना चाहिए ? यह जानने के लिए हमें याज्ञवल्क्य की व्यवस्था को जानकर जीवन में उसका पालन करते हुए उपवास (व्रत) रखना चाहिए। तो इस सन्दर्भ में महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं –

''अथातोऽशनाशनस्यैव''। १–१–१–७

अब हम 'व्रतोपायन के दिन जिस दिन हमने व्रत रखा है उस दिन कुछ खाना चाहिए या नहीं', इस सन्दर्भ में विचार करते हैं। सर्वप्रथम इस विषय में सवयस् के पुत्र आचार्य आषाढ़ का मत अभिव्यक्त करते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''तद् उ ह आषाढः सावयसोऽनशनमेव व्रतं मेने''। १–१–१–७

इस सन्दर्भ में सवयस् के पुत्र आचार्य आषाढ़ निश्चयपूर्वक अनशन अर्थात् अभक्षण व कुछ भी न खाने को व्रत मानता है। अतः व्रतोपायन के दिन व्रती को कुछ भी नहीं खाना चाहिए। तभी उपयन अर्थात् उपवास होगा। यह उपवास क्या है? इसे समझना है। इस सन्दर्भ में भी उसी कण्डिका में उपदेश दिया गया है –

''मनो ह वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति त एनमेतद् व्रतम् उपयन्तं विदुः''। १–१–१–७

देव गणों में सामर्थ्य है कि निश्चय से ही मनुष्य के मन के भाव को जान लेते हैं तथा उस यजमान के भाव को, उस व्रत को धारण करने वाले को भली प्रकार जान लेते हैं।

यजमान ने किस उद्देश्य से उपवास (व्रत) किया है ? उसका ज्ञान सर्वप्रथम मन को होता है। देव लोग मन में ही उपवास करते हैं। अतः उन देवों ने सर्वप्रथम ही मन में उपवास कर जान लिया कि –

''प्रातर्नो यक्ष्यत इति ते अस्य विश्वे देवा गृहानागच्छन्ति
तेऽस्य गृहेषूपवसन्ति स उपवसथः'' ।। १–१–१–७

जिस यजमान के मन में जिन देवताओं ने आवास कर दिया है उन्हें प्रथम ही ज्ञात हो जाता है कि यजमान प्रातः ही हमारे लिए यजन करेगा। इस तरह उपवास के दिन सभी देवता इस यजमान के घरों में (मन में) समीप में वास करते हैं, अतः वही उपवसथ होता है। इस कण्डिका की व्याख्या करते हुए महान विद्वान् पं. बुद्धदेव जी (स्वामी समर्पणानन्द जी) महाराज ने जो सुन्दर व्याख्यान किया है उसे जन कल्याण के लिए यहाँ उद्धृत करता हूँ। स्वामी जी लिखते हैं –

''आजकल हिन्दी भाषा में 'उपवास' शब्द का अर्थ 'कुछ न खाना' यह समझा जाता है। परन्तु इस शब्द में यह अर्थ किस प्रकार आ गया इस बात पर इस प्रकरण में बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है। उपवास की व्याख्या में वे कहते हैं कि देव लोग मनुष्य के मन को भली प्रकार जान लेते हैं। हमारी सम्मति में 'आजानन्ति' का अर्थ 'आते हैं' यह लीजिए। व्रतोपायन के दिन यज्ञ करने के अभिलाषी यजमान के मन में दिव्य, पवित्र भाव अतिथि होकर आते हैं, क्योंकि वह व्रतोपायन के समय देख लेते हैं कि कल प्रातः काल यह हमारे निमित्त हवन करेगा। इसलिए उस दिन सब पवित्र भाव, सब प्रकार की दिव्य उमंगे उसके घर में डेरा करती हैं। सो इन अर्थों में देव लोग उसके घर आकर उसके समीप बसते हैं। इसी लिए यह उपवसथ कहलाता है।।''

इस कण्डिका की सुन्दर व्याख्या में भी स्वामी जी लिखते हैं –

''देव लोग अर्थात् दिव्य भाव मनुष्य के मन को जान लेते हैं अथवा उसमें आ बसते हैं, क्योंकि वे व्रतोपायन के समय ही जान लेते हैं कि प्रातः काल हमारे लिए यज्ञ करेगा। तो उस समय सब प्रकार की पवित्र उमंगें तथा पवित्र मानसिक शक्तियाँ, उसके घर में आती हैं। सो क्योंकि उस दिन देव लोग पवित्र भावरूप से उसके घर आकर उसके उप अर्थात् समीप रहते हैं इसी लिए वह दिन 'उपवसथ' कहलाता है।''

वर्तमान में अज्ञानतावश उपवास (व्रत) का विकृत रूप अपना लिया, 'भोजन न खाने' को ही हमने उपवास मान लिया जो उचित नहीं। इसी बात को प्रमाणित करते हुए याज्ञवल्क्य आचार्य आषाढ का मत उद्धृत करते हुए लिखते हैं –

''तत् नु एव अनवक्लृप्तम्'' । १–१–१–८

यह बात सर्वथा अनुचित है कि यजमान पूर्व में ही भोजन कर ले। भोजन करने पर असहमति व्यक्त करते हुए आचार्य आषाढ लिखते हैं –

''यो मनुष्येष्वनश्नत्सु पूर्वोऽश्नीयात् अथ किमु यो देवेष्वनश्नत्सु पूर्वोऽश्नीयात् तस्मादु नैवाश्नीयात्'' ।। १–१–१–८

यह बात बड़ी अनुचित है कि कोई घर पर आये मनुष्य अतिथियों को भोजन न करा कर उनसे पूर्व ही भोजन कर ले, तब उसका तो क्या कहना ? जो देवों को घर बुला कर देवों को भोजन कराये बिना उनसे पूर्व भोजन कर ले।

'इसीलिए व्रतोपायन के दिन भोजन नहीं करना चाहिए' महर्षि याज्ञवल्क्य ने आचार्य आषाढ का मत अभिव्यक्त कर दिया। अब हम उपवास के सन्दर्भ में महर्षि याज्ञवल्क्य का सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

तद् उ ह उवाच याज्ञवल्क्यः – यदि नाश्नाति पितृदेवत्यो भवति
यदि उ अश्नाति देवान् अत्यश्नाति इति। १–१–१–९

सर्वप्रथम जिस दिन व्रतोपायन हो यदि उस दिन भोजन न किया जाए तो यजमान पितृदेवत्व अर्थात् भोजन न करने से क्षीणकाय हो जाएगा।

यदि वह उस दिन भोजन कर लेता है तो देवों का अपमान करके उनका अनादर करके खाता है।

ऐसा करना भी उचित प्रतीत नहीं होता। न खाने से शरीर में क्षीणता आती है और खाने से देवों का अनादर होता है। ऐसी स्थिति में क्या व्यवस्था हो इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं –

''स यदेवाशितमनशितं तदश्नीयादिति'' । १–१–१–९

पूर्वोक्त दोनों दोषों से बचने के लिए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि – यजमान को ऐसा करना चाहिए जिस पदार्थ के खाने पर भी ऐसा प्रतीत हो कि मैंने कुछ खाया ही नहीं है अर्थात् वह पदार्थ जो खाने पर भी न खाने के बराबर हो उसे खा लेना चाहिए। ऐसा पदार्थ कौन–सा होगा? इस की व्यवस्था देते हुए ग्रन्थकार कहता है –

''यस्य वै हविर्न गृह्णन्ति तदशितमनशितं स यदश्नाति
तेनापितृदेवत्यो भवति यदि उ तदश्नाति यस्य हविर्न
गृह्णन्ति तेनो देवान्नात्यश्नाति'' ।। १–१–१–९

अर्थात् जिस पदार्थ की हवि यज्ञ में न चढ़ाई जाये अर्थात् जो पदार्थ यज्ञ में आहुति देने के काम न आवे वह पदार्थ खाने पर भी न खाए हुए के समान होता है। अतः वह खा लेना चाहिए। यदि यजमान कुछ खा लेता है तो उसे पितृदेवत्य अर्थात् व्रत विघातिनी क्षीणता दोष नहीं लगता। ऐसा पदार्थ खाने पर जो हवि रूप में उपयोग नहीं होता तब उसे देवों का अनादर करने का दोष भी नहीं लगता।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि उपवास का अर्थ थोड़ा खाना, बहुत खाना, सर्वथा न खाना आदि कुछ भी नहीं। उपवास शब्द का अर्थ तो समीपवास अर्थात् देवों के समीप उनके सान्निध्य में बसना होता है। हमें देवों की समीपता प्राप्त हो इसी भाव को लेकर उपवास करना चाहिए। इसी में उपवास की सार्थकता भी है।

अगली कण्डिका में इस सन्दर्भ को प्रतिपादित करते हुए याज्ञवल्क्य एक और व्यवस्था भी स्थापित करते हैं –

''स वा आरण्यमेवाश्नीयात्'' या वा आरण्या ओषधयो यद्वा वृक्ष्यं तदु ह स्म।।
१–१–१–१०

व्रतोपायन करता हुआ यजमान जिस दिन उपवास करे उस दिन जंगली पदार्थ अर्थात् जंगल में उत्पन्न होने वाले फल, कन्द, मूलादि ही औषधियों का हल्का भक्षण

करे। उन्हीं वन्य वृक्ष के फलों का सेवन भी वह कर सकता है। इतर क्षेत्रीय अर्थात् किसान की खेती में उत्पन्न पदार्थों का व्रतोपायन में निषेध समझना चाहिए। यहाँ उदाहरण देते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं –

''आहापि बर्कुर्वार्ष्णो माषान्मे पचत न वा
एतेषां हविर्गृह्णन्तीति तदु तथा न कुर्याद् व्रीहियवयोर्वा
एतदुपचं यच्छमीधान्यं तद् व्रीहियवावेवैतेन भूयांसौ
करोति तस्मादारण्यमेवाश्नीयात्'' ।। १–१–१–१०

वह यजमान जंगली पदार्थ ही खावे। यजमान अपनी इच्छानुसार अन्य पदार्थों को जो जंगली से प्रतीत होते हों उन्हें ही हविष्यान्न न बनाएँ। इसीलिए उदाहरण के रूप सन्देश देते हैं कि बर्कुर्वार्ष्ण नामक एक यजमान के व्रत के समय कहना प्रारम्भ किया कि –

यज्ञ में हविष्यान्न का निषेध है अतः ''उड़द' को हवि के रूप में कहीं भी प्रयोग नहीं किया जाता इसलिए मेरे लिए ''उड़द'' ही पका दी जाये। ''उड़द'' के सेवन से भर पेट भोजन के पश्चात् ही यज्ञ कर लिया जाये परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए क्योंकि यह शास्त्रीय विधि के अनुरूप नहीं है। यजमान यज्ञ में धान और जौ की हवि देता है। जब इन दोनों पदार्थों से हवि दी जा सकती है तो फलियों से पैदा होने वाली दाल आदि भी उसी तरह पैदा होती है, अतः वह भी अन्न श्रेणी में आती है। वह भी उन्हीं की तरह खेतों में उपजती है। जौ, व्रीहि आदि में ही दालों का मिश्रण कर उस सामग्री को यजमान बढ़ाता है उसी से फिर आहुति चढ़ाता है। इसलिए सदैव जंगली पदार्थों का ही सेवन उपवास (व्रत) के समय यजमान को करना चाहिए।

व्रतोपायन के दिन यजमान को कहाँ सोना है, कहाँ बैठना है ? इसकी व्यवस्था करते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''स आहवनीयागारे वैतां रात्रिं शयीत। गार्हपत्यागारे वा
देवान्वा एष उपावर्त्तते यो व्रतमुपैति स यानेवोपावर्त्तते
तेषामेवैतन्मध्ये शेतेऽधः शयीताधस्तादिव हि श्रेयस उपचारः।।

१–१–१–११

उस दिन यजमान को चाहिए कि यजमान आहवनीयाग्निशाला में अथवा गार्हपत्याग्निशाला में ही रात्रि को शयन करे। यजमान इसे अवश्य समझे। क्योंकि उपवास (व्रत) धारण करने से ही यजमान भी देवों की श्रेणी में सम्मिलित हो जाता है। जिसकी श्रेणी में यजमान सम्मिलित हुआ है सो उसे उन्हीं के बीच सोना चाहिए।

यजमान को उस दिन भूमिशयन करना चाहिए। नीचे सोकर या बैठ कर ही बड़ों के प्रति अभिवादन की रीति प्राचीनतम है। यही देवों की सर्वश्रेष्ठ पूजा अर्थात् सेवा भी होती है।

यज्ञ की सफलता के लिए हमें भी इसी तरह का उपवास (व्रत) रखना चाहिए। उपवास में इन्हीं व्यवस्थाओं का पालन होना चाहिए। यही हम सबके लिए श्रेयस्कर हैं।

* * *

प्रणीतापात्र (जलपात्र)

यज्ञ में इस पात्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कर्मकाण्ड में इस पात्र को प्रणीतापात्र कहा गया है। उसके लिए याज्ञवल्क्य कहते हैं –

स वै प्रातरप एव। प्रथमेन कर्मणाभिपद्यतेऽपः
प्रणयति यज्ञो वा आपो यज्ञमेवैतत्प्रथमेन कर्मणा–
भिपद्यते ताः प्रणयति यज्ञमेवैतद् वितनोति।। १–१–१–१२

यजमान प्रातः काल जिस यज्ञ को करता है उसमें सबसे पहला काम जल से ही पड़ता है। वह काम क्या है ? यजमान यज्ञकुण्ड के पास रखे हुए घट से जल को लेकर 'प्रणीता पात्र' में डालता है। घट से प्रणीता–पात्र में जल डालने को ही **प्रणयन** कहते हैं, यह शास्त्र विध्यनुकूल लाया गया 'आपः' अर्थात् जल डाला जाता है। वह पात्र 'प्रणीता–पात्र' कहा जाता है।

वर्तमान में हम कलश को ही रखते हैं जल से भरकर। उसी से यज्ञ में प्रयोग के लिए जल ग्रहण किया जाता है।

यह आप (जल) ही उस पात्र में क्यों डाला जाता है? अन्य पदार्थ क्यों नहीं? इस जिज्ञासा पर याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''यज्ञो वा आपः''

अर्थात् प्रणीता पात्र में जल ही डाला जाता है क्योंकि जल ही यज्ञांग होने से साक्षात् 'यज्ञरूप' है। वह जल साक्षात् यज्ञरूप इसलिए भी है क्योंकि सबसे पहले यह जल प्रणयनरूप प्रथम कर्म द्वारा यज्ञ को ही प्राप्त होता है। जल प्रणयन से ही यज्ञ का विस्तार होता है। यही यज्ञ के विस्तार का एकमात्र साधन है।

यज्ञ में इस जल को, लाभ–प्राप्ति का एक मात्र साधन मानते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं–

यत् एव आपः प्रणयति। अद्भिर्वा इदं सर्वमाप्तं
तत्प्रथमेनेवैतत्कर्मणा सर्वम् आप्नोति।। १–१–१–१४

यजमान यज्ञ में जो जल का प्रणयन करता है उसका उद्देश्य इस क्रिया द्वारा सब कुछ प्राप्ति का हुआ करता है क्योंकि 'आपः' का अर्थ यहाँ जल ही नहीं, प्राप्ति का भी बोधक है। हमें भी सब कुछ प्राप्त हो अतः 'प्रणीता पात्र' में जल रखा जाता है। आज वही कलश जो यज्ञ में रखा गया है उसे ही हम प्रणीता पात्र मानकर यज्ञ को सम्मानित करते हैं।

यहाँ 'सब कुछ' से अभिप्राय है कि यज्ञ में जो कुछ भी प्राप्त होता है उसे होता, अध्वर्यु और अग्नीध्र भी प्राप्त नहीं करा सकते। यहाँ तक यजमान भी उसे प्राप्त नहीं कर सकता परन्तु प्रणीता में प्रणयनक्रिया से सुरक्षित जल ही सब कुछ प्राप्त करने में समर्थ है।

यह जल प्रणयन विधि इतनी अनिवार्य और शक्तिशालिनी क्यों है ? कैसे है ? किसलिए है ? इन सभी बातों का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

यद् उ एव आपः प्रणयति। देवान् ह वै यज्ञेन यजमानान्
तान् असुर रक्षसानि ररक्षुः न यक्ष्यध्व इति
तद् यद् अरक्षन् तस्माद् रक्षांसि।। १–१–१–१६

अर्थात् यजमान यह जो जल प्रणयन विधि करता है उसका अभिप्राय यही है कि जब–जब भी देवों ने यज्ञ करना प्रारम्भ किया तब–तब असुरों ने आकर देवों को यज्ञ करने से रोका है। स्पष्ट शब्दों में कहा कि देवो! अब तुम और यज्ञ नहीं करोगे। राक्षसों ने देवों को यज्ञ से रोका इसीलिए उन्हें ''राक्षस' कहते हैं। अतः जो भी यज्ञ में विघ्न–बाधा उत्पन्न करता है उसे हम राक्षस कहते हैं। हमें यज्ञ रोक कर राक्षस नहीं बनना, यज्ञ करते हुए देव बनना है। अतः यज्ञ को सञ्चालित करने के लिए सर्वप्रथम जल प्रणयन विधि को हमने प्रतिपादित करना है।

इस जल प्रणयन विधि का अन्य भी महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। देवताओं ने तो यज्ञ करना था। वे डरने वाले नहीं थे क्योंकि उन्होंने एक 'वज्र' को देख लिया। यह वज्र और कोई

नहीं आपः अर्थात् जल ही था। उन्होंने निश्चय किया कि इस जलरूपी वज्र को जब हम ग्रहण करेंगे तो हमारा यह यज्ञ निर्विघ्न सम्पन्न होगा क्योंकि यह जल जिधर से भी निकलता है बड़ों–बड़ों को इसे रास्ता देना पड़ता है। यह जल बिना किसी और की सहायता से ही अपना रास्ता स्वयं बना डालता है। यदि रुक भी जाता है तो रुका हुआ जल बड़े–बड़े लौह पदार्थों को गला देता है। यही विचार कर देवों ने इस वज्र को उठाया तथा उसका भयरहित अनाष्ट्रे अर्थात् नाशकारी असुर भावों से रहित विघ्न बाधाओं से रहित शान्त स्थान पर इस यज्ञ को विस्तृत किया। अब निश्चय पूर्वक हम कह सकते हैं कि यज्ञ को भी भय रहित, आसुरी प्रवृत्तियों से रहित, शान्त स्थान पर करना चाहिए। तभी जाकर यज्ञ का विस्तार हो पायेगा। इसी भावना से प्रेरित होकर यजमान जल का प्रणयन करता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी यज्ञ से पूर्व शान्तिकरण का प्रकरण दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने भी याज्ञवल्क्य से प्रेरित होकर अथर्ववेदीय इन दो मन्त्रों को उस प्रकरण में रखा है। मन्त्र हैं –

ओ३म् – अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु।। अथर्व. १९/१५/५

यज्ञ करने से पूर्व याज्ञवल्क्य के मतानुसार यजमान प्रभु से प्रार्थना कर रहा है –

हे परमपिता परमात्मन् ! यह तेरा अन्तरिक्ष लोक हमें निर्भयता प्रदान करे। तेरा ही यह द्युलोक व पृथिवी लोक भी हमें निर्भयता प्रदान करे। चाहे पश्चिम हो चाहे पूर्व हो, चाहे उत्तर हो चाहे दक्षिण हो, नीचे हो चाहे ऊपर हो, मुझ यजमान को जिसने प्रभु तेरा यज्ञ करना है उसे निर्भयता–निर्भयता ही प्रदान करो। इसका पद्यानुवाद है –

''मेरे प्रभु अन्तर्यामी ! सब विधि अभय प्रदान करो।
अन्तरिक्ष, द्यावा, पृथिवी सब दिशा भय का नाश करो।।

वहीं दूसरा मन्त्र इस तरह से है –

ओ३म् – अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।।

अथर्व. १९/१५/६

हे परमपिता परमात्मन् ! हमें कभी भी मित्र से भय न हो तथा अमित्र अर्थात् शत्रु से तो कभी भी हमें भय न हो। जिन्हें हम जानते हैं और नहीं भी जानते हैं उनसे भी हमें भयरहित कर दो। चाहे दिन हो चाहे रात हो हम सर्वथा भय से मुक्त रहें। सारी की सारी दश दिशाएँ हमारे लिए मित्र की तरह व्यवहार करने वाली हों।

इस जल प्रणयन से यजमान ने क्या करना है ? इसे कहाँ स्थापित करना है ? इस सन्दर्भ में भी याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''ताः उत्सिच्योत्तरेण गार्हपत्यं सादयति''।। १–१–१–१८

यजमान ने यज्ञ में जो जल प्रणयन विधि की है उस जल को यज्ञवेदी पर उड़ेलता हुआ उसे गार्हपत्य का प्रतीक जो दीपक है उसके समीप उत्तर दिशा की ओर रखता है।

इससे हमें ज्ञात हो जाना चाहिए कि यज्ञ का दीपक हमेशा यज्ञ कुण्ड के उत्तर में रखा जायेगा। वही गार्हपत्याग्नि का प्रतीक भी है और उसी के साथ जल प्रणयन विधि का पात्र भी वहीं पर स्थापित होगा।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने यज्ञ की सुन्दर प्रक्रिया अलंकारिक रूप में प्रस्तुत करते हुए लिखा–

''योषा वा आपो वृषाग्निर्गृहा वै गार्हपत्यः''। १–१–१–१८

अर्थात् जल ही स्त्री है, अग्नि ही पुरुष है तथा गार्हपत्य ही घर है। भौतिक यज्ञ में स्त्री व पुरुष यजमान के रूप में हैं और उनकी पाकशाला की अग्नि गार्हपत्य अग्नि का कार्य करती है इन तीनों द्वारा ही यज्ञ सम्पन्न होता है। सुरक्षा के लिए ही जल का प्रणयन करता है।

इस के आगे याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

स यद् गार्हपत्ये सादयति। गृहा वै गार्हपत्यो गृहा वै
प्रतिष्ठा तद् गृहेष्वेवैतत्प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति तथा
उ हैनमेष वज्रो न हिनस्ति तस्माद् गार्हपत्ये सादयति।। १–१–१–१९

अर्थात् वह अध्वर्यु उस जल प्रणयन विधि के पात्र को गार्हपत्य के समीप रखता है। गार्हपत्य ही घर है। इसे घर इसलिए माना गया क्योंकि इसके बिना यज्ञ चलता ही नहीं। अतः वह घर ही यज्ञ के ठहरने का उचित स्थान है। जब जल प्रणयन विधि में वह पात्र उत्तर दिशा में गार्हपत्य अग्नि के समीप स्थापित कर लिया जाता है तब वह वज्र यजमान को नहीं मार सकता। इसलिए उसे गार्हपत्य के समीप रखा जाता है, रखना भी चाहिए।

यह जल का प्रणयन इसलिए भी किया जाता है कि इस प्रक्रिया से यजमान सब कुछ प्राप्त करना चाहता है। इसीलिए जल को ''आपः'' कह कर पुकारा गया है। याज्ञवल्क्यानुसार इस यज्ञ में जिसे होता, अध्वर्यु तथा अग्नीध्र अर्थात् अध्वर्यु का सहयोगी वेदी के दक्षिणाभिमुख खड़ा होकर ''श्रौषट्'' का प्रयोग करता है ये उसे प्राप्त नहीं करा सकते। इसलिए इसे जल प्रणयन विधि से प्राप्त किया जाता है।

वाणी संयम तप

यजमान के लिए यज्ञ में यह सबसे बड़ा तप है। अपनी वाणी पर वह संयम करे। जब तक यज्ञ कर्म चलता है तब तक उससे सम्बन्धित क्रिया को करने वाला हो। निरर्थक प्रलाप न करता हुआ वह एकमात्र वाणी का तप करे। अपनी वाणी को यज्ञ में ही नियन्त्रित करे। इसीलिए याज्ञवल्क्य उपदेश देते है –

''अथ वाचं यच्छति'' १–१–२–२

अर्थात् विवेक और श्रद्धा से यज्ञकर्म में प्रवृत्त हुए यजमान को जब तक उसका यज्ञ सम्पन्न नहीं हो जाता तब तक उसे वाणी का संयमन करना चाहिए। मौन धारण करना चाहिए। वह इसलिए भी है क्योंकि यज्ञपरायण व्यक्ति की वाणी भी यज्ञ ही है। वाणी के दुष्ट कर्म के सन्दर्भ में मनुमहाराज ने मनुस्मृति में गीत गाया है :–

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्।। मनु. १२–६।।

अर्थात् कड़वी व मिथ्या वाणी, निन्दा करना एवं व्यर्थ बकवास करना – ये वाणी से सम्बन्धित चार दुष्ट कर्म है।

(1) कड़वी वाणी – एक समय की घटना है कि एक पद यात्री भूखा प्यासा एक गाँव से गुजर रहा था। उसके पास एक परने के कोने में थोड़े से चावल बँधे हुए थे। उसने एक दरवाजे पर खड़े होकर घर की एक वृद्धा से पोटली के चावल पकाने की प्रार्थना की। वृद्धा ने भी उसकी प्रार्थना को स्वीकार किया। चावल पकने तक दोनों आपस में वार्तालाप करने लगे।

वार्तालाप दरवाजे पर बन्धी एक भैंस से शुरु हुआ–

यात्री बोला – यह भैंस किसकी है ?

वृद्धा – यह भैंस तो मेरी है।

यात्री – यह भैंस तो बहुत मोटी है और इसके रहने वाले कमरे का दरवाजा तो बहुत छोटा है। अन्दर आते जाते अगर यह भैंस अन्दर ही मर गई तो इसे बाहर कैसे निकालोगी ?

वृद्धा – मूर्ख ! तुम्हें मेरी भैंस के मरने की ही बात सूझ रही है और कुछ नहीं।

यात्री – आप को कमा कर कौन देता है ?

वृद्धा – मेरा एक नौजवान बेटा है। वह फौज में भर्ती है। वही कमा कर देता है।

यात्री – अगर युद्ध हुआ और तेरा बेटा यदि युद्ध में मारा गया तो कौन तुझे पालेगा ?

पुत्र के मरने की बात सुनते ही वृद्धा पागल सी हो गई। उसने चूल्हे पर पकते हुए चावल की पतीली उठाई और यात्री के कन्धे पर लटक रहे परने की ओर इशारा करते हुए कहा – अपने इस कफन को निकाल यहाँ धरती पर बिछा दे। यात्री ने जैसे ही परना बिछाया वृद्धा ने उबलते हुए चावल उस पर डाले और उस यात्री को भाग जाने के लिए कह दिया। क्योंकि उस यात्री को मरने के अतिरिक्त कुछ भी सूझता नहीं था।

यात्री भी परने को लटकाकर गाँव के मध्य से चल पड़ा। परने से चावल का पानी धारा प्रवाह से निकल रहा था लोगों ने परने से बहते हुए पानी को देख कर यात्री से पूछा यह क्या है ?

यात्री ने अपनी गलती का एहसास करके लम्बी साँस भरते हुए कहा – कुछ नहीं यह तो मेरी कड़वी वाणी का रस है।

कटु वचन हमारे पतन का कारण बनता है, दुःख का कारण होता है। इसीलिए कविवर तुलसीदास कहते हैं –

तुलसी मीठे वचन से सुख उपजत चहुँ ओर।
वशीकरण यह मन्त्र है, तजिये वचन कठोर।।

इसी पर महात्मा कबीर कहाँ चुप रहने वाले थे उन्होंने भी घोषणा कर दी –

शब्द सम्भारे बोलिए, शब्द के हाथ न पाँव।
एक शब्द कर औषधि, एक शब्द कर घाव।।
ऐसी वाणी बोलिए, मन का आपा खोए।
ओरन को शीतल करे आपहु शीतल होये।।

वाणी के कड़वेपन के व्यवहार को समझते हुए एक शायर भी कह उठा –

कुदरत को न पसन्द है सख्ती जुबान में।
पैदा न की इसीलिए हड्डी जुबान में।।

अत वेद भी हमें उपदेश देता है –

''वाचं वदत भद्रया''

मनुष्य को सदैव भद्र तथा कल्याणकारी वाणी का ही प्रयोग करना चाहिए।

एक शहर में बेर बेचने वाली एक वृद्धा एक गली में आवाज लगा रही थी – मीठे बेर ले लो – मीठे बेर ले लो।

आवाज सुनकर एक बालक आया और बोला माँ बेर कैसे दिये हैं ?

वृद्धा बोली – पच्चीस पैसे के ढाई सौ ग्राम।

बालक – पर माँ मेरे पास तो पैसे नहीं हैं।

पर वृद्धा माँ शब्द और बालक की मुद्रा से इतनी प्रभावित हुई कि उसने मुट्ठी भर के बेर उस बच्चे को दे दिये जिसने बड़े प्यार से उसे ''माँ'' कह कर पुकारा था।

बच्चा भी उछल–कूद करता हुआ अपने दूसरे साथियों के पास चला गया। साथियों ने पूछा–ये बेर कहाँ से लाये हो।

बालक बोला – वह ''माँ'' जो पीपल के चौराहे पर बैठी है उसी ने दिए हैं। वह बड़ी अच्छी माँ है। मुझे बिना पैसे के ही उसने बेर दे दिये हैं।

उद्दण्ड बालक – छी–छी–छी उस बूढ़ी खसूट को तू माँ कहता है ? देखना मैं कैसे बेर लाता हूँ।

उद्दण्ड बालक वृद्धा के पास गया और समीप जाकर बोला – 'ऐ मेरे बाप की लुगाई। मुझे भी बेर दे।।'' फिर क्या था, वृद्धा ने बेर तो क्या, उसके सिर पर पत्थर मार दिया। बालक के सिर से खून निकलने लगा। लोगों ने खून निकलने का कारण पूछा। उसने भी कहा– ''यह खून नहीं मेरी वाणी का कड़वा रस है। मैंने इस वृद्धा को अपने पिता की लुगाई कहा था क्योंकि मैंने समझा बाप की लुगाई ही तो माँ होती है।'' वहाँ उपस्थित लोग हँसने लगे उसकी नादानी पर।

महाभारत का युद्ध भी तो भीमसेन के मुख से निकले कड़वे वचनों के कारण ही हुआ था क्योंकि जल को सूखा और सूखे में जल समझ कर तैरने वाले दुर्योधन को उसने कहा था – ''अन्धे के घर अन्धा पैदा हुआ है।'' यही कठोर वाणी महाभारत के युद्ध का कारण बनी। महाभारत न हो अतः वेद कहता है –

''वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु''

वाणी का स्वामी परमपिता परमात्मा हमारी वाणी को सदैव मीठा बनाये।

(2) मिथ्या वाणी – आर्य समाज के प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपना सम्पूर्ण जीवन ही सत्य के लिए न्यौछावर कर दिया। उनका मानना था कि –

''सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सदा उद्यत रहना चाहिए।

सन्त कबीर भी कहते हैं –

''साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदय साँच है, ताके हिरदय आप।।

संस्कृत कवि कहता है –

अश्वमेधसहस्रञ्च सत्यञ्च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते।।

अर्थात् हजारों अश्वमेध यज्ञ का फल और सत्य को एक तुला पर रखने पर हजारों अश्वमेध से सत्य का पलड़ा ही भारी रहने वाला है। सत्य का महत्त्व इतना बड़ा है। अतः जीवन में सत्य को ही अपनाना श्रेयस्कर माना है।

गुरु शिक्षा के अनन्तर समावर्तन संस्कार करता है। उस समय भी वह प्रथम उपदेश देता है –

''सत्यं वद''

हे ब्रह्मचारी ! जीवन में तुमने सदैव सत्य ही बोलना है। इसीलिए मनु महाराज जी कहते हैं –

''सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न् ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
सत्यं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः।। मनु–४–१३८ ।।

अर्थात् सदैव सच बोलो, मीठा बोलो, प्रयत्न करो कि अप्रिय सत्य न बोला जाए। प्रिय और सच ही बोलना हमारा सनातन धर्म है। इसी का पालन मनुष्य को करना चाहिए क्योंकि सत्य ही धर्म है।

महाभारत में कौरवपक्ष के सेनापति द्रोणाचार्य थे। युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए उन्हें पराजित करना अनिवार्य था। उन्हें पराजित करने के पश्चात् ही युद्ध में विजय अपेक्षित थी।

श्री कृष्ण ने द्रोणाचार्य को पराजित करने के लिए युधिष्ठिर को तैयार किया, क्योंकि युधिष्ठिर ही सत्यवादी थे और द्रोणाचार्य युधिष्ठिर की बात पर विश्वास करते थे।

श्री कृष्ण ने युधिष्ठिर को तैयार किया कि यदि युद्ध में द्रोणाचार्य को विचलित किया जाए तो ही युद्ध में विजय प्राप्त हो सकती है। द्रोणाचार्य अपने पुत्र से अथाह प्यार करते हैं। यदि अश्वत्थामा के मरने की सूचना उन तक दी जाए तो द्रोणाचार्य विचलित हो जायेगा। उसी समय का लाभ उठाकर द्रोणाचार्य को मारा जा सकता है, तभी युद्ध में पाण्डव पक्ष की विजय हो सकती है। इसके लिए युधिष्ठिर को तैयार किया गया और युधिष्ठिर ने द्रोणाचार्य के समीप युद्धस्थली में ''अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा'' इस वाक्य को दो भागों में विभक्त कर ''अश्वत्थामा हतः'' यह जोर से उच्चरित किया तथा नरो वा कुञ्जरो वा'' इसे धीमे से उच्चारित किया। झूठ के पाप से बचने के लिए, क्योंकि युद्ध में तो अश्वत्थामा नाम का हाथी ही मारा गया था।

किंवदन्ती है कि सत्यवादी युधिष्ठर का रथ धरती से चार अंगुल ऊपर चलता था, इस तनिक से असत्य व्यवहार के कारण धरती पर आ गिरा और जो जीवन में निरन्तर असत्य का व्यवहार दिन–रात करते हैं उनका हाल क्या होगा ? किसी कवि ने ठीक ही कहा है –

सत मत छोडो साहिबा, सत छाडेया पत जाय।

सत की बन्धी लच्छमी फेर मिलेगी आय।।

ऋग्वेद में वाग्–आम्भृणी (वागाम्भृणी) एक सूक्त आया है जो वाणी के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण घोषणा करता है –

अहमेव स्वयमिदं वदामि

जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।

यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि

तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्। ऋग्वेद–१०–१२५–५।।

स्वयं मैं वाणी यह घोषणा करती हूँ कि मुझे देवताओं ने और मनुष्य इन दोनों ने प्रीतिपूर्वक सेवित किया है अर्थात् दैववाक् और मनुष्यवाक् के रूप में इस संसार में मैं स्वयं प्रकाशित हुई हूँ।

मैं अपनी इच्छानुसार जिसकी चाहना करती हूँ जिसे वरण करती हूँ वह व्यक्ति इस संसार में तेजस्विता से युक्त जीवन व्यतीत करने वाला हुआ करता है, वही ब्राह्मण अर्थात् वेद विद्वान् बनता है, वही ऋषि व सुमेधा से युक्त जीवन व्यतीत करता है। कोई ऋषि बनता है और कोई विरला ही सुमेधा युक्त होता है। वहीं दूसरा प्रसिद्ध मन्त्र है –

अहं रुद्राय धनुरातनोमि

ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।

अहं जनाय समदं कृणोमि

अहं द्यावा पृथिवी आ विवेश।। ऋग्. १०–१२५–६।।

वाणी फिर घोषणा करती हुई कहती है –

मेरे प्रति इस संसार में जो दुष्टता का प्रयोग करता है अर्थात् जो मेरा अनुचित प्रयोग करता है उसके लिए निरन्तर मैं प्रत्यञ्चा सहित धनुष लिए खड़ी रहती हूँ। उस पर धनुष से बाणों का प्रहार करती हूँ।

जो ब्रह्मविद्वेषी है अर्थात् जो ज्ञान के प्रति, ब्राह्मण के प्रति, वेद के प्रति तथा ईश्वर के प्रति विद्वेष करते हैं तथा जो हिंसक प्रवृत्ति के लोग हैं उनकी निश्चय से ही मैं हत्या कर देती हूँ, मार देती हूँ अथवा उनका विनाश करती हूँ। मेरे ही सामर्थ्य से व्यक्ति मस्ती से जीवन व्यतीत करने वाला बनता है। मेरे ही शुभाशीर्वाद से मदमस्त रहता है। मैं ही द्युलोक और पृथिवी लोक में सर्वत्र प्रकाशित हूँ। सर्वत्र मेरी ही शक्ति कार्य करती है इस बात को तुम जानो।

इसीलिए वाणी का समुचित प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि ''वाक्वज्रो हिनस्ति'' अर्थात् वाणीरूपी वज्र वाणी के दुरुपयोग के कारण मनुष्य को कभी भी मार सकता है। वाणीरूपी यह वज्र हमें मारने में समर्थ न हो इसीलिए महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं –

''अथ वाचंयमः''

अतः वाणी पर संयम रखो। यह अनिवार्य भी है क्योंकि याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''वाग् वै यज्ञोऽविक्षुब्धो यज्ञं तनवा इत्यथ प्रतपति''। १–१–२–२

यज्ञ में यजमान को वाणी का संयमन करना चाहिए। वह इसलिए करना चाहिए क्योंकि यज्ञ–परायण व्यक्ति की वाणी भी यज्ञ है। यजमान भी इस यज्ञ को बराबर अविक्षुब्ध होकर करे इसीलिए मौन धारण करता है। अतः मन्त्रों का ही उच्चारण करते हुए मनुष्य वाक् का प्रयोग न करें यही मौन से अभिप्रेत है।

* * *

यज्ञ का मुख्य साधन शकट (गाड़ी)

महर्षि याज्ञवल्क्य ने यज्ञ करने के लिए विविध पात्र और प्रक्रियाओं का निर्देश अपने ग्रन्थ में किया है। सर्वप्रथम यज्ञार्थ यज्ञ के पात्र को तपाना है अर्थात् शुद्ध करना है। यज्ञ के पात्र सर्वथा शुद्ध पवित्र और साफ–सुथरे होने चाहिए। उच्छिष्टता यज्ञ में स्वीकार्य नहीं है। तदनन्तर सर्वप्रथम घृतपात्र को तपाया जाता है क्योंकि निर्देश भी है – ''घृतं तीव्रं जुहोतन'' अच्छी तरह तपाये गये घृत से ही यजमान को यज्ञ करना चाहिए। तपाने का अभिप्राय व्यक्त करते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

अथ प्रतपति प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तं
रक्षो निष्टप्ता अरातय इति वा।। १–१–२–२

अर्थात् यजमान को यज्ञ कर्म करने से पूर्व अपने भीतर विद्यमान राक्षस को फूँक देना चाहिए। यज्ञ का एक अर्थ दान भी है। ऐसा दान जिसमें अहं भाव न हो। इसीलिए आहुति देते हुए यजमान घोषणा करता है ''स्वाहा इदन्न मम'' यही यज्ञ हुआ करता है। ऐसी स्थिति में यदि यजमान के अन्दर अदानशीलता का भाव आ जाए तो उस राक्षस को फूँक देना चाहिए। नित्य–प्रति यज्ञ करते हुए यजमान के मन में कभी यह भाव पैदा हो जाये कि 'आज नहीं कल यज्ञ करेंगे' तो ऐसे उत्पन्न हुए भावरूपी राक्षस को भी तपा कर फूँक देना चाहिए। मन के यज्ञ–निरोधक सभी भावों को फूँक देना चाहिए। इसीलिए आगे कहा –

''निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः''

अर्थात् तपाना राक्षसों को निकालने का एक मात्र साधन है। यज्ञविरोधी उन दुर्भावनाओं को इतना तपाओ कि राक्षस निकल जावें। उन दूषित विचारों को इतना तपाओ कि वे राक्षस निकल जावे क्योंकि वे छिपकर अन्दर रहते हैं। इसीलिए कहा है –

''निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः'' इति।।

अर्थात् राक्षसों को इतना तपाओ कि तप कर निकल जावें। फिर यह दूषित विचार कि ''आज हमने यज्ञ करना नहीं कल देख लेंगे'' पैदा ही न हो सके। यही राक्षस है जो हमें यज्ञादि सत्कर्मों को करने से रोकते हैं। यजमान को इन राक्षसों से बचना है।

तपाने की प्रक्रिया के पश्चात् यजमान हविष्य पदार्थ जिसमें रखा जाता है उस हविर्धान शकट (गाड़ी) में से अर्थात् यज्ञ की छोटी सी गाड़ी से हविष्य पदार्थ लेने के लिए उस यज्ञ शकट (गाड़ी) के पास जाता है। वह हवि पदार्थ भी उदात्त भावनाओं से ही ग्रहण करना चाहिए। ''जाकी रही भावना जैसी'' नियमानुसार सारे का सारा प्रपञ्च भावना पर आश्रित रहता है। यज्ञ कुण्ड में अग्नि की स्थापना करते हुए यजमान दम्पति की उदार भावना रहती है तथा मन्त्र गाते हैं –

''द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा'' यजु. ३–५

अर्थात् हे परमेश्वर ! आपकी कृपा से मैं महत्ता या गौरवता में आपके द्यौलोक के समान तेजस्विता से युक्त हो जाऊँ तथा श्रेष्ठता में एवं महानता में भी पृथिवी लोक के समान विशाल हृदय से युक्त हो जाऊँ। तेजस्विता व उदारशीलता ये दोनों गुण यजमान में होने चाहिए। नीतिकार का कहना भी है –

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।(पञ्चतन्त्रमपरीक्षितकारकम् ३८)

यह अपना है और यह पराया है इस तरह की गणना वही लोग करते हैं जिनकी सोच छोटी होती है परन्तु उच्च सोच वाले विशाल हृदय वाले लोगों के लिए तो सारी धरती ही अपने घर के समान हुआ करती है। इसीलिए याज्ञवल्क्य भी हविर्धान को ग्रहण करते समय इस विधि–विधान का निर्देश करता है –

''उर्वन्तरिक्षमन्वेमि'' १–१–२–४

अर्थात् यज्ञार्थ यज्ञ शकट से हविर्धान इसलिए ग्रहण करता हूँ क्योंकि इस यज्ञ के माध्यम से मैंने भी अन्तरिक्ष की ओर प्रस्थान करना है। मेरा यज्ञ अन्तरिक्ष को प्राप्त हो और मैं भी अन्तरिक्ष लोक की ओर प्रस्थान करने वाला बनूँ। संसार में हम देखते हैं कि लतादि ऊर्ध्वमुखी बन्धन में रहती हैं और वृक्षादि अधोमुखी बन्धन में, पर पुरुष

तो बन्धन रहित होकर अन्तरिक्ष में विचरण करता है। साथ ही राक्षस भी इसी प्रकार अन्तरिक्ष में विचरते हैं, उनसे कैसे बचाव हो ? इसी बात को याज्ञवल्क्य कहते हैं –

''अनु रक्षश्चरति अमूलम् उभयतः परिछिन्नं
यथायं पुरुषोऽमूल उभयतः परिच्छिन्नोऽन्तरिक्षमनुचरति।। १–१–२–४

अन्तरिक्ष में विचरते हुए उन राक्षसों से कैसे बचा जा सके? उसके लिए यजमान इस मन्त्र के उच्चारण से अपना बचाव करता हुआ पढ़ता है –

''उर्वन्तरिक्षमन्वेमीति''। १–१–२–४

इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ अन्तरिक्ष को नाशक जीवों से रहित निर्भय और निष्कण्टक करता है। इसी मन्त्र के भाग की सुन्दर व्याख्या करते हुए स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती लिखते हैं –

इस मन्त्र का तात्पर्य है कि गृहस्थों के मकान खुले और हवादार होने चाहिए जिससे नाशक जीव उनमें न पल सकें। साथ ही ''द्यौ'' अर्थात् पति तथा ''पृथिवी'' अर्थात् पत्नी के सम्बन्ध से उत्पन्न ''अन्तरिक्ष'' अर्थात् ''गृहस्थाश्रम'' भी ''उरु'' अर्थात् विशाल होना चाहिए। पति–पत्नी के परस्पर व्यवहार में भी बड़ी उदारता तथा स्वाधीनता होनी चाहिए। ऐसा न हो कि एक दूसरे की सन्देहशीलता के कारण एक दूसरे का दम घुटने लगे जैसा कि तंग मकान में लगता है''।

यजमान को भी यज्ञ की शकट से हविर्धान ग्रहण करते हुए उच्च भावनाओं से युक्त व विशाल हृदय होकर अन्तरिक्ष की तरह बनने की कामना करनी चाहिए तभी जाकर अन्तरिक्ष की ओर हमारा गमन हो सकेगा।

हविर्धान शकट की उपादेयता को याज्ञवल्क्य ने तीन भागों में विभक्त किया है जिसमें प्रथम उपादेयता के सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

'स वा अनस एव गृह्णीयात्''। १–१–२–५

अर्थात् हविर्धान को निश्चय से ही शकट से ग्रहण करना चाहिए। ग्रहण करने के मुख्य प्रयोजन को प्रतिपादित करते हुए याज्ञवल्क्य महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं –

''अनो ह वा अग्रे''। १–१–२–५

अर्थात् यदि हविर्धान शकट से लिया जाता है तो वह अग्रगामी का प्रतीक होता है क्योंकि शकट को आगे चलाया जाता है। शकट का अग्रगामी होना ही प्रतीक है कि यज्ञ करते हुए यजमान को आगे बढ़ना है अतः शकट से ही ग्रहण करें। घर से ग्रहण करने पर याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''पश्चेव वा इदं यच्छालम्'' । १–१–२–५

घर में रहने वाला हविर्धान तो एक खड़ी रहने वाली वस्तु से लावेगा। वह तो खड़े रहने का ही प्रतीक होगा। आगे लिखा गया है –

''स यदेवाग्रे तत्करवाणीति तस्मादनस एव गृह्णीयात्'' । १–१–२–५

इस पंक्ति की व्याख्या सुन्दरता के साथ स्वामी समर्पणानन्द महाराज ने की है जो इस तरह से है – ''हमें तो सन्तान को और अपने आपको सदा अग्रगामी बनाना है, इसलिए एक स्थान पर खड़ी न रहने वाली किन्तु आगे बढ़ने वाली चीज अर्थात् गाड़ी में रख कर लावें। जिसका तात्पर्य यह है कि सन्तान को जहाँ तक माता–पिता पहुँचे हों वहीं तक खड़े न रहना चाहिए, किन्तु सदा प्रगतिशील, आगे बढ़ने वाला होना चाहिए। गाड़ी आगे बढ़ने वाली है, घर तो पीछे रहने वाली चीज है। जो आगे बढ़ने का काम हो वही मैं करूँ, इस भावना से गाड़ी में से अन्न लें।।''

अब दूसरी उपादेयता के सन्दर्भ में लिखते हैं –

''भूमा हि वा अनः। तस्माद् यदा बहु भवति अनोवाह्यम्
अभूत् इत्याहुः तद् भूमानमेव एतद् उपैति तस्माद् अनस एव गृह्णीयात्।।
१–१–२–६

याज्ञवल्क्य इस कण्डिका में बहुत ही सुन्दर बात लिखते हैं कि घर में लम्बी–लम्बी गाड़ियों का होना मात्र समृद्धि का चिह्न माना जाता है। जब भी किसान के घर बहुत अन्न पैदा होता है तो कहा जाता है उसके घर गाड़ी भर अन्न हुआ है। यही वाक्य उसको समृद्धि की ओर ले जाता है इसीलिए गाड़ी से ही हविर्धान को ग्रहण किया जाता है। तात्पर्य यह है कि जिसके घर में अन्नादि की समृद्धि न हो उसे यज्ञादि करने में कष्ट होता है। हविर्धान को शकट से इसी लिए ग्रहण किया जाता है कि हमारे घर अन्नादि से भरपूर हों।

तृतीय उपादेयता के सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''यज्ञो वा अनः'' १–१–२–७

वास्तव में यज्ञ नाम संचरन का है। यह शकट भी विविध अवयवों से निर्मित होने के कारण संघटनात्मक वस्तु है। उसमें पहिए, हविर्धान, ईषादण्ड आदि अनेक अंग परस्परोपकारक होकर एक शकट का रूप धारण करते हैं। इसी लिए याज्ञवल्क्य ने घोषणा की कि –

''यज्ञो हि वा अनः''

यज्ञ ही शकट है। आगे याज्ञवल्क्य व्यवस्था देते हुए कहते हैं –

''तस्मादनस एव यजूँषि सन्ति न कौष्ठस्य न कुम्भ्यै।।'' १–१–२–७।।

यजुर्वेद की ऋचाएँ शकट पर घटती हैं किसी अन्य पर नहीं न कोष्ठ व कुम्भी अर्थात् धान के कोठे व घड़े पर नहीं घटती। अतः शकट से ही हवि को ग्रहण करें।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने यहाँ अन्य व्यवस्था देते हुए लिखा है –

''उतो पात्र्यै गृह्णन्ति। अनन्तरायम् उ तर्हि यजूंषि जपेत्।।'' १–१–२–८

कोई–कोई पात्रों से भी हवि लेते हैं। उनके लिए विधान किया गया है कि जो पात्रों में से लें वे ''धूरसि धूर्व्वादि'' मन्त्र लगातार पढ़ें। जब ऐसा करेंगे तभी पात्रों से ली गई हवि यज्ञीय होगी। यहाँ पर शकट की उपादेयता के संदर्भ में स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज अपने भाष्य में लिखते हैं कि – ''हमारी समझ में तो तात्पर्य यह है कि शकट में जो तीन भाव १. अग्रगामिता, २. भूमा, ३. यज्ञरूपता, उपलक्षित थे उनके स्थान में पात्री ग्रहण करने वालों ने एक ब्राह्मणानुमोदन को ही पर्याप्त समझा, क्योंकि वे इसमें ही तीनों को समाविष्ट समझते थे; क्योंकि ब्राह्मण किसी बात का तब ही अनुमोदन करते हैं जब वह उचित हो, किन्तु याज्ञवल्क्य महाराज ने ब्राह्मणों को भी मर्यादा में बाँधने के लिए शकट का ही विनियोग कल्पित किया है।

अब याज्ञवल्क्य स्तुति का विधान करते हैं और लिखते हैं –

''अथ जघनेन कस्तम्भीमीषामभिमृश्य जपति''। १–१–२–१२

अब यजमान शकट को खड़ा करने के लिए आधारभूत जो दण्ड लगाया गया है उसको तथा पीछे की ओर गाड़ीवान के बैठने के स्थान ईषा का स्पर्श करके जाप करता है, स्तुति करता है। ओर बोलता है – हे शकट तू –

१. देवानामसि वह्नितमम् – तू देव वाहक है, देवों को वहन करने वालों में सर्वश्रेष्ठ है।
२. सस्नितममसि – प्रजा के लिए कल्याण बाँटने वालों में श्रेष्ठ है।
३. पप्रितममसि – तू ही सर्वथा पूर्णतम है।
४. जुष्टतममसि – तू ही लोक तर्पण का मूर्धन्य व सेवा करने वालों में मूर्धन्य है।
५. देवहूतममसि – तू ही देवों के आह्वान का सर्वश्रेष्ठ साधन है।
६. अह्रुतमसि – भंग, वक्रादि अर्थात् कुटिलता आदि दोषरहित हविर्धान है।
७. हविर्धानं दृंहस्व – तू हविर्धान सदैव वृद्धि को प्राप्त हो।
८. मा ह्वाः – तू यजमान के लिए कभी भी कुटिल हिंसक न बन।

इस तरह से शकट की स्तुति यजमान द्वारा की जाती है फिर जाकर –

''उपस्तुताद् रातमनसो हविः गृह्णानि'' इति

रातमनसः अर्थात् हतमनस्क – शकटमय होकर स्तुति करता हुआ मैं यज्ञ की इस हवि को ग्रहण करूँ। ऐसी प्रार्थना करें। अन्त में इसका महत्त्वपूर्ण प्रयोजन दर्शाते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''मा ते यज्ञपतिः ह्वार्षीदिति यजमानो वै यज्ञपति–
स्तद् यजमानाय एव एतद् अह्वलाम् आशास्ते'' ।। १–१–२–१२

यज्ञ का यजमान कुटिलता से रहित हो क्योंकि यजमान ही यज्ञपति होता है। सो यह यजमान के लिए उसकी अविचलता की कामना करता है। अविचल भाव से स्थिरता युक्त होकर यज्ञ करना चाहिए।

अब हवि को ग्रहण करने के लिए शकट पर पैर रखता है। उस समय भी स्तुति रूप में यजमान कहता है –

''विष्णुस्त्वा क्रमतामिति,'' १–१–२–१३

अर्थात् विष्णु तुझ पर पैर रखे अर्थात् परमेश्वर ही तुझ पर कृपा करे। वह तेरे यज्ञ को अपनी छत्र–छाया में निष्पादित करे, क्योंकि –

''यज्ञो वै विष्णुः स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विचक्रमे।। १–१–२–१३

अर्थात् विष्णु नाम यज्ञ का है, यज्ञ को ही विष्णु माना गया है। उस यज्ञरूप विष्णु ने देवों के लिए तीन पाद से इस ब्रह्माण्ड को लाँघते हुए मार्ग का निर्माण किया –

उस विष्णु ने प्रथम पाद से इस प्रत्यक्ष पृथिवी लोक को आच्छादित किया अर्थात् सेवित किया है।

द्वितीय पाद से अन्तरिक्ष लोक आच्छादित किया

तृतीय पाद से ''द्यु'' लोक को आच्छादित किया

यज्ञ मानव–जीवन में विक्रान्ति को पैदा करता है। यज्ञ शिक्षा देता है कि पृथिवी लोक पर रहते हुए तुम्हारा उद्देश्य ''द्यु'' लोक तक होना चाहिए। यह सब यज्ञ से सम्भव है।

शकट पर पैर रखने के बाद यजमान खड़ा होकर शकट में पड़े धान्य राशि को देख कर कहता है –

''उरु वातायेति, प्राणो वै वातस्तद् ब्रह्मणा एव एतत् प्राणाय वाताय उरुगायं कुरुते।। १–१–२–१४

अर्थात् पर्याप्त वायु को प्राणों के लिए ग्रहण करता हूँ। वायु ही प्राण है। इस ब्राह्मण वचनानुसार प्राण के लिए प्राणवृद्धि अर्थात् कीर्तन करता है कि तुझे मैं इस लिए ग्रहण करता हूँ कि मेरे प्राण बलिष्ठ हों।

प्रेक्षण के पश्चात् याज्ञवल्क्य अपक्षेपण का विधान करते हुए लिखते हैं –

''अथ अपास्यति''। १–१–२–१५

शकट में पड़े हविर्धान्य में यदि तृणादि हों तो उन्हें फेंक देना चाहिए क्योंकि हविधान्य तो स्वच्छता से युक्त होना चाहिए क्योंकि वह यज्ञ का साधन है और उसे यज्ञ में चढ़ाया जाना है। उन तृणादि दोषों को निकालते हुए वेद मन्त्र पढ़ना चाहिए जो इस तरह से है –

''अपहतं रक्ष'' इति यदि अत्र किञ्चिदापन्नं भवति यदि उ

नाभ्येव मृशेत् तत् नाष्ट्रा एव एतद् रक्षांसि अतोऽपहन्ति।। १–१–२–१५

अर्थात् यजमान प्रेक्षण के बाद तृणादि दोषों को दूर फेंकता हुआ प्रार्थना करे कि मेरा यह हविर्धान्य तृणादि दोषों से रहित हो। यदि इसमें तृणादि दोष न भी हो तो भी इस मन्त्र का पाठ करे क्योंकि इसके माध्यम से नाशकारी दोषों को दूर भगाना है।

यज्ञ करने से पूर्व हविर्धान को ग्रहण करने से पूर्व ही अन्तस्थ ईर्ष्या, द्वेषादि राक्षसों को दूर भगा देना चाहिए। यजमान यदि इनसे रहित भी हो तो प्रार्थना करे कि ये सभी राक्षस मेरे जीवन में नहीं आने चाहिए।

शकट से हविर्धान में से हवि के ग्रहण करने का विधान याज्ञवल्क्य ने इस तरह किया है–

''अथ अभिपद्यते''

अर्थात् तृणादि दोष हटाने के पश्चात् ही व्रीहियों को हाथ में लेता है। याज्ञवल्क्य ग्रहण करने का भी विधान करते हुए लिखते हैंः–

''यच्छन्तां पञ्चेति।

पञ्च वा इमा अङ्गुलयः पाङ्क्तो वै यज्ञस्तद् यज्ञमेव

एतद् अत्र दधाति।। १–१–२–१६

''यच्छन्तां पञ्चेति'' यजुः मन्त्र बोलकर पांचों अङ्गुलियों को मिला कर मुट्ठी से भर–भर कर व्रीहियों को हवि के लिए ग्रहण करता है। एक हाथ की अंगुलियाँ पांच होती हैं। ये जब संघटित होती हैं तभी इन्हें ''पांक्त'' माना गया है। याज्ञवल्क्य इसी को यज्ञ मानते हैं और उसी यज्ञ को यजमान भी धारण करता है।

पञ्च महाभूतों का जहाँ समावेश होता है वहीं यज्ञ होता है। यज्ञ का शकट (गाड़ी) ही इस का प्रतीक है, यह यज्ञ का महत्त्वपूर्ण साधन है।

विशेष – शकट (यज्ञ की गाड़ी) में रखे हविर्धान में से हवि ग्रहण करने के मुख्यतया महत्त्वपूर्ण तीन प्रयोजन हैं –

१. **अग्रगामिता –** जो यजमान इस रीति से हवि ग्रहण करता है उसमें निरन्तर आगे बढ़ने की भावना जागरित होती रहती है। वह समाज का अग्रणी नेता बनता है, उसमें नेतृत्व की शक्ति का समावेश होता है। अतः शकट से ही हवि ग्रहण कर यज्ञ करना चाहिए।

२. **भूमा –** जो यजमान इस तरह से यज्ञ करता है वह प्रचुर मात्रा में धन–धान्य से सम्पन्न रहता है। क्योंकि अग्न्याधान करते हुए भी हम प्रार्थना करते हैं –

''अग्निम् अन्नादम् अन्नाद्याय आदधे।।''

केवल–मात्र अन्नादि द्रव्यों का भक्षण करने वाली यज्ञीय अग्नि के भक्षणीय अन्न की प्राप्ति के लिए यज्ञकुण्ड में अग्नि को स्थापित करता हूँ। यह यजमान की प्रार्थना हुआ करती है।

यज्ञीय शकट में प्रचुर मात्रा में व्रीहियों का उपयोग होता है। तभी शकट का ग्रहण होता है। अतः उसी से हवि ग्रहण करने का तात्पर्य भी यही है कि हमारे पास भी प्रचुर मात्रा में अन्नादि होना चाहिए। हम भी धनधान्य से परिपूर्ण होने चाहिए। यह प्रतीकात्मकता ही ''भूमा'' का प्रतीक है।

३. **यज्ञरूपता –** हमारे जीवन में संगठित होकर यज्ञ करने की भावना जागरित होनी चाहिए क्योंकि यज्ञ संगठन का प्रतीक है, यज्ञ करने से परिवार जुड़ा रहता है, समाज भी जुड़ा रहता है। देश भी फिर संगठन में बन्धा रहता है।

अतः याज्ञवल्क्य के नियमानुसार शकट से हवि ग्रहण करनी चाहिए। पात्र से ग्रहण करने का तो वैकल्पिक प्रावधान है। इसीलिए याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''स वै अनस एव गृह्णीयादिति''।

* * *

हवि ग्रहण करने का विधान

वैदिक मतानुसार यज्ञ करना व करवाना भी भारतीय संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। ''अयज्ञियो हतवर्चा भवति'' इस सिद्धान्त के अनुसार जो यज्ञ नहीं करता वह श्री रहित, अवर्चस्वी होकर जीवन को व्यतीत करने वाला हुआ करता है। अयशस्वी का जीवन निरर्थक हुआ करता है। अतः इस यज्ञरूपी महान् कर्म को महानता के साथ विधि विधानानुसार ही करना चाहिए। यज्ञ का मुख्य अंग हवि को माना गया है अतः यज्ञ से पूर्व यज्ञार्थ इसे कैसे ग्रहण करना है? इस संदर्भ में याज्ञवल्क्य ने कुछ विधान प्रतिपादित करते हुए लिखा –

''अथ गृह्णाति''

शकट के दर्शन–स्पर्शन के पश्चात् यजमान ने हवि को ग्रहण करना है। ग्रहण करते हुए यजमान की उदात्त–भावना, संङ्कल्प होना चाहिए। तदनन्तर वह यजुर्वेद का यह मन्त्र पढ़ता है –

''देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् अग्नेय
जुष्टं गृह्णामीति .... सत्यं देवा अनृतं मनुष्याः।। १–१–२–१७

याज्ञवल्क्य ने इस मन्त्र को पढ़ने का विधान किया है, जिसका अभिप्राय यह है कि – मैं यजमान परमपिता परमात्मा की आज्ञा से, उसी की कृपा से विधि व विधान रूप दोनों ''अश्वि'' कर्मों के अधिष्ठाता प्रभु के ही सामर्थ्य से, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के बलिहर्त्ता 'पूषा' प्रभु के ही हाथों द्वारा अपने हृदय के संकल्पनुसार अग्निरूप, ज्ञानरूप परमात्मा के लिए इस हवि को प्रीतिपूर्वक ग्रहण करता हूँ। क्योंकि वह सविता ही निश्चय से देवों का प्रेरक है। भुजाएँ अश्वि देव की हैं और हाथ पूषा के हैं। इन दोनों से हवि देवताओं के लिए ग्रहण करता है। सत्य ही देव हैं, झूठे मनुष्य हैं। अतः देवताओं के लिए सत्यपूर्वक हवि ग्रहण करें। शर्त यह है कि उस हवि को ग्रहण करने के लिए यजमान

में यज्ञ के प्रति, देवों के प्रति प्रीति अवश्य होनी चाहिए। इसीलिए याज्ञवल्क्य द्वारा ''जुष्टं गृह्णामीति'' तथा जीवन में सत्यता रहे, अतः ''सत्यं देवा अनृतं मनुष्याः'' कहा गया है।

इतना ही नहीं यहाँ हवि ग्रहण से पूर्व यजमान के लिए याज्ञवल्क्य आदेश देते हैं –

''अथ देवतायाऽआदिशति'' ।। १–१–२–१८

यजमान को चाहिए कि यज्ञ करने से पूर्व यज्ञ के निमित्त को स्मरण कर लेना चाहिए तथा उस देवता का स्मरण अवश्य कर लेना चाहिए। जिसके निमित आपने हवि को समर्पित करना है। क्योंकि याज्ञवल्क्य का मानना है कि –

''सर्वा ह वै देवता अध्वर्यु हविर्ग्रहीष्यन्तमुपतिष्ठन्ते मम नाम
ग्रहीष्यति मम नाम ग्रहीष्यतीति ताभ्य एवैतत्सहसतीभ्योऽसमदं करोति।।''
१–१–२–१८

निश्चय से ही सभी देवता हवि ग्रहण करने की इच्छा से अध्वर्यु के समीप उपस्थित हो जाते हैं। सभी की इच्छा रहती है कि अध्वर्यु हवि ग्रहण करने के लिए मेरा नाम लेगा, मेरा नाम लेगा। यथा पूर्व में दर्शाया गया है – ''अग्नये जुष्टं गृह्णामीति'' अर्थात् प्रसन्नतापूर्वक अग्नि के नाम पर मैं हवि को समर्पित करने के लिए लेता हूँ।

हमें भी यज्ञ करने से पूर्व इस बात का ध्यान रखना होगा कि जैसे ही अध्वर्यु हवि ग्रहण करने के लिए जाता है वैसे ही सारे देवता वहाँ उपस्थित हो जाते हैं कि अध्वर्यु कब मेरा नाम लेगा। इन सब इकट्ठे हुए देवताओं में विरोध पैदा न हो, गड़बड़ घोटाला या आपाधापी पैदा न हो। इसीलिए एक देवता का नाम लेता है। यही ''असमद्'' करना है। अविरोध उत्पन्न करना है।

देवता का नाम ग्रहण इसलिए भी अनिवार्य है कि अध्वर्यु उस देवता को हवि से बान्धता है। बान्धने के प्रयोजन को दर्शाते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''यावतीभ्यो ह वै देवताभ्यो हवींषि गृह्यन्त ऋणमु ह एव
तास्तेन मन्यन्ते यदस्मै तं कामं समर्द्धयेयुर्यत्काम्या गृह्णाति तस्माद् वै
देवताया आदिशत्येवमेव यथापूर्वं हवींषि गृहीत्वा।।'' १–१–२–१९

अर्थात् अध्वर्यु लोकोपकार व यजमान के कल्याणार्थ देवता का नाम ग्रहण करता है। इसका प्रयोजन यह भी है कि नाम लेकर वह उस देवता को अपने उस संकल्प का ऋणी बना देता है। तदनन्तर देवता भी ऋण मुक्ति के लिए उसके संकल्प को पूर्ण कर लेता है। संकल्पपूर्वक नाम लेने से देव ऋणी हो जाता है। जिस संकल्प से उसकी आराधना की गई है उसे वह पूरा करे इसीलिए देवों का नाम ग्रहण किया जाता है। इसीलिए देवता का नाम ग्रहण करना ही चाहिए। उसी तरह अन्य हवियों में भी देवता का नाम ग्रहण करना चाहिए, यही याज्ञवल्क्य का आदेश है।

देवता नाम ग्रहण करने के पश्चात् अन्य कार्य करने का निर्देश देते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''अथाभिमृशति।।'' १–१–२–२०

अब हवि का स्पर्श करता है। यज्ञ से पूर्व इस प्रक्रिया को किया जाता है। यह प्रक्रिया करते हुए निम्नलिखित मन्त्र का पाठ करना चाहिए।

''भूताय त्वा नारातय'' इति तद् यत् एव गृह्णाति
तद् एव एतत्पुनराप्याययति।। १–१–२–२०

अर्थात् हवि को स्पर्श करते हुए हमारा यह संकल्प होना चाहिए कि हे हवि ! हम तुम्हें भूतमात्र के कल्याण के लिए ग्रहण करते हैं, अदान की भावना के लिए नहीं। इसी लिए 'स्वाहा' शब्द के पश्चात् 'इदन्न मम' कहा जाता है। हम में त्याग की भावना जागरित हो अदान की भावना नहीं। तब इस भावना से हवि को ग्रहण किया जाता है तभी जाकर यज्ञ बढ़ता है। यजमान बढ़ता है।

हवि–प्रेक्षण – हवि स्पर्श के पश्चात् उसे देखता है। किस तरह देखना है ? देखने का प्रयोजन क्या है ? इस सन्दर्भ में भी याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

अथ प्राङ् प्रेक्षते।। १–१–२–२१

तदनन्तर पूर्व की ओर मुख करना चाहिए। पूर्वाभिमुख ही यजमान बैठता है।

''स्वरभिविख्येषमिति'' ।। १–१–२–२१

अर्थात् मैं निरन्तर प्रकाशमान सुखदायी यज्ञ को सर्वतो भावेन देखने वाला बनूँ। स्वर के सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य कहते हैं –

''यज्ञो वै स्वरहर्देवाः सूर्यस्तत्स्वरेवैतदतोऽभिविपश्यति''।

स्वः के चार अर्थ हैं – यज्ञ, दिन, देव और सूर्य। ये सभी प्रकाशमय यज्ञ हैं। इसका तात्पर्य है कि हम अन्धकार से परे प्रकाश की ओर बढ़ने वाले बनें। इसलिए हवि को देखता है।

देखने के पश्चात् शकट से हवि को लेकर लौटना है और लौटते हुए भी मन्त्र का विधान याज्ञवल्क्य ने किया है –

''अथावरोहति। दृंहन्तां दुर्याः पृथिव्यामिति गृहा वै दुर्यास्ते
हैत ईश्वरो गृहा यजमानस्य''।। १–१–२–२२

हविर्धान शकट से हवि ग्रहण करके लौटते हुए प्रार्थना करें कि इस धरती पर हमारे घर वृद्धि को प्राप्त हों। यज्ञ से ही हमारे घर दृढ़ता से युक्त हो सकते हैं। यजमान को कोई भी च्युत तथा विक्षुब्ध न कर सके इसीलिए याज्ञवल्क्य ने कहा –

''दृंहन्तां दुर्याः पृथिव्याम्'' यहां दुर्य नाम घर का है। अतः हमारी प्रार्थना होगी कि इस पृथिवी पर जिस पर हम यज्ञ कर रहे हैं, वहाँ हमारे घर व गृहजन दृढ़ होने चाहिए। अतः हवि देने का प्रयोजन बताते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं –

''अग्ने हव्यं रक्षेति तदग्नये चैवैतद् हविः परिददाति
गुप्त्या अस्यै च पृथिव्यै तस्मादाहाग्ने हव्यं रक्षेति।। १–१–२–२३

''अग्ने हव्यं रक्ष'' इस यजु मन्त्र से हे अग्ने! मेरे हव्य की रक्षा कर यह प्रार्थना कर अपनी हवि को अग्नि देव को देता है, रक्षा के लिए देता है। इस पृथिवी की रक्षा के लिए देता है। इसीलिए प्रार्थना करता है – हे अग्ने ! मेरे हव्य की रक्षा कर।। इति

* * *

पवित्रीकरण

यज्ञ में पवित्रता का विशेष महत्त्व है। यज्ञ सर्वथा शुद्ध व पवित्र भाव से किया जाना चाहिए। यह पवित्रता आभ्यान्तरिक व बाह्य दोनों तरह से होनी चाहिए। यजमान अन्दर से भी अपने–आपको पवित्र करे तथा बाहर से भी उसके वस्त्रादि सर्वथा पवित्र होने अनिवार्य हैं। इसी लिए प्रोक्षणीपात्र जो यज्ञ में रखा जाता है उसमें पवित्री रखी जाती है। उससे छिड़काव किया जाता है। यह सभी प्रक्रिया पवित्रता के लिए की जाती है। अतः याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''पवित्रे करोति।'' १–१–३–१

अर्थात् यज्ञ से पूर्व पवित्रियाँ बनाता है। उन्हें बनाता हुआ मन्त्र पढ़ता है –

''पवित्रे स्थो वैष्णव्या''विति यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञिये
स्थ इत्येव एतदाह।। १–१–३–१

अर्थात् विष्णु देवता से सम्बन्धित ये दोनों पवित्रियाँ हैं। इस यजु मन्त्र को पढ़ता है। यज्ञ ही विष्णु है। अतः ये पवित्रियाँ भी यज्ञोपयोगी होती हैं। इन्हें यज्ञार्हा माना गया है, इसी सन्दर्भ में पुनः याज्ञवल्क्य कहते हैं –

''ते वै द्वे भवतः। अयं वै पवित्रं योऽयं पवते सोऽयमेक इवैव
पवते सोऽयं पुरुषेऽन्तः प्रविष्टः प्राङ् च प्रत्यङ् च ताविमौ
प्राणोदानौ तदेतस्यैवनुमात्रां तस्माद् द्वे भवतः।। १–१–३–२

अर्थात् वे पवित्रा दो होती हैं। यह पवित्र करने का कार्य करता है। अतः संसार में इसे पवित्रा कहा गया है। इसीलिए पवित्र करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। ये दो क्यों होती हैं? कैसे होती हैं? इसका भी समाधान करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं – यह पुरुष के अन्दर रहने वाला है जो अन्दर और बाहर आता–जाता रहता है। ये दोनों प्राण और उदान हैं। जो अन्दर आता है उसे प्राण और जो बाहर निकलता है

उसे उदान कहते हैं। प्रोक्षणी पात्र में स्थित जल को भी अन्दर से बाहर छिड़का जाता है इसी अनुकरणरूपता के कारण ये दो ही होती है।

यहाँ इस वक्त यह समझ लेना चाहिए कि यहाँ अपान को ही उदान माना गया है। प्राण तथा उदान के विषय में आचार्य सायण ने अपने भाष्य में इसके विपरीत इस प्रकार लिखा है–

> इडापिङ्गलादिनाड़ीद्वारा बहिर्निर्गच्छन् प्राणः प्राङित्यु–
> च्यते तयैव द्वारा पुनरन्तः प्रविशन् प्रत्यङित तावेतौ
> वृत्तिभेदौ प्राणोदानौ इत्युच्यते।।

अर्थात् इडा पिङ्गलादि नाड़ियों द्वारा जिस वायु को बाहर निकाला जाता है उसको प्राण तथा उन्हीं नाड़ियों द्वारा जिस वायु को अन्दर ग्रहण किया जाता है उसे प्रत्यङ् जाना जाता है। वृत्तिभेद से दोनों को प्राण और उदान के रूप में पुकारा जाता है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में इनका स्वरूप प्रकाशित करते हुए लिखा है –

(प्राण) भीतर से वायु का निकालना (अपान) बाहर से वायु को भीतर लेना।

सायण ने अपने भाष्य में 'उदान' शब्द को 'अपान' का ही वाचक यहाँ माना है तथा इसके लिए तै. (स. २–२–१०२) का प्रमाण दिया है।

आन्तरिक शुद्धि प्राणों पर ही निर्भर करती है। एतदर्थ प्राणों का बाहर फैंकना और अन्दर ग्रहण करना प्राणायाम पर ही निर्भर करता है। आन्तरिक शुद्धि हो अतः प्राणायाम की साधनभूत ये दो पवित्रियां याज्ञवल्क्य मानता है। परन्तु यहां याज्ञवल्क्य तीसरी पवित्रा का विधान करते हुए लिखते हैं –

> ''अथो अपि त्रीणि स्युः। व्यानो हि तृतीयो द्वे न्वेव
> भवतस्ताभ्यामेताः प्रोक्षणीरुत्पूय ताभिः
> प्रोक्षति तद् यद् एताभ्याम् उत्पुनाति।। १–१–३–३

अथवा यदि यजमान की इच्छा हो तो वे पवित्रियां तीन भी हो सकती हैं। तीसरी का नाम 'व्यान' है। 'व्यान' के द्वारा सम्पूर्ण शरीर की सभी तरह की चेष्टाओं को जीव करने में समर्थ होता है। व्यान द्वारा हम सम्पूर्ण अंग–प्रत्यंगों की पवित्रता का भी प्रावधान याज्ञवल्क्य ने चाहा है परन्तु उनका मानना है कि वे दो ही प्राण और उदान के रूप में होती हैं। उन दो प्रोक्षणियों को पवित्र करके ही पवित्रता का प्रोक्षण करता है।

मनुष्य के शरीर के अन्दर देव और राक्षस दोनों ही विद्यमान हैं। देव के रूप में इन्द्र है और राक्षस के रूप में वृत्रासुर है। जब हमारा ऐश्वर्य बढ़ता है तो समझो हमारा इन्द्र बढ़ रहा है परन्तु ऐश्वर्य का नाश होता है तो राक्षसी प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं। राक्षसी प्रवृत्तियाँ न बढ़ें इसीलिए आचमन करते हुए अन्तः में प्रार्थना होती है –

'ओ३म् सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा।।

सत्याचरण, यशस्विता, विजय लक्ष्मी इन तीनों की ऐश्वर्य शोभा मुझ में स्थित हो यही प्रार्थना मैं करता हूँ। यज्ञ से पूर्व यजमान ऐश्वर्य की ही प्रार्थना करता है।

जल को पवित्र माना गया है। संसर्ग से जल भी दूषित हो जाता है उसे भी पवित्र करना पड़ता है। अतः याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

..त इमे दर्भास्ता हैताऽअनापूयिताऽआपोऽस्ति

वा इतरासु सँसृष्टमिव यदेना वृत्रः पूतिरभिप्राऽस्रवत् तद् एव आसाम् एताभ्यां पवित्राभ्याम् अपहन्त्यथ मेध्याभिरेव अद्भिः प्रोक्षति तस्माद्वा एताभ्याम् उत् पुनाति।।

१–१–३–५

अर्थात् पवित्र जल से ही यह दर्भ उत्पन्न हुए हैं। सर्वत्र बाह्य जल यद्यपि अपवित्रता से युक्त है तथापि प्रोक्षणीपात्र में लिया जल इन दर्भों से पवित्र होकर पवित्रियों के द्वारा दोषों को दूर भगाता है। निश्चित रूप से पवित्र जल से ही प्रोक्षण अभिसिंचन करता है। इसीलिए इन पवित्राओं से पवित्र करता है। पवित्र करते हुए मन्त्र पढ़ता है –

''सवितुर्वः प्रसव उत्पुनामि अच्छिद्रेण
पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः'' ।। १–१–३–६

वह अध्वर्यु पवित्र करता हुआ मन्त्र द्वारा प्रार्थना कहता है – हे जल! जिस तरह सूर्य सभी देवों का आज्ञापक है, जिस तरह से वह सूर्य अपनी किरणों से निरन्तर इस संसार को शुद्ध करता है उसी तरह तुम भी सूर्य की किरणों की तरह हमें पवित्र करो। वह पवित्रता छिद्र रहित अर्थात् सम्पूर्णता से युक्त होनी चाहिए। वह बाह्य व आभ्यान्तरिक भी होनी चाहिए। इसीलिए पवित्र पवित्रियों से अभिषिञ्चन करता है। आगे याज्ञवल्क्य प्रोक्षणीपात्र को पकड़ने व प्रोक्षण अर्थात् अभिषिञ्चन के प्रयोजन के सन्दर्भ में लिखते हैं –

ताः सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणेनोदिङ्गयति।। १–१–३–७

उस पात्र को अध्वर्यु वाम हस्त में पकड़ता है तथा दाहिने हाथ से उदिङ्गन अर्थात् ऊपर की ओर अभिसिंचन करता है। बाएँ हाथ से जल पकड़ना चाहिए, दाएँ से ही जल द्वारा अभिसिंचन करना अपेक्षित है। अभिसिंचन करते हुए निम्न मन्त्र का पाठ करना होता है – ऋत्विक् उसका पूजन करता हुआ बोलता है –

''देवीरापोऽग्रेगुवो अग्रेपुव'' इति।। १–१–३–७

हे दिव्य गुणों से युक्त जल देव! आप हमारे इस यज्ञ को आगे ले जाइये और यज्ञपति को भी आगे ले जाने की कृपा करें। जिस तरह से प्रथम दृष्ट्या आप पवित्रता से युक्त है उसी तरह से हमारे इस यज्ञ और यज्ञपति यजमान को भी पवित्र करने की कृपा करें। इस मन्त्र में दो शब्द हैं। उन्हें समझना आवश्यक है। तदनन्तर ही इसके महत्त्व को हम समझ सकते हैं –

सर्वप्रथम – अग्रेगुवः–

''अग्रेगुवः'' इस शब्द का अर्थ है जो निरन्तर आगे रहने वाला है। जो कभी भी पीछे नहीं रहता। यज्ञ हम भी इसीलिए कर रहे हैं कि हम भी यज्ञ करते हुए परिवार के, समाज के तथा राष्ट्र के अग्रणी बनें। नेतृत्व शक्ति से युक्त हम हों। उस उदात्त भावना से प्रेरित होकर जल का अभिसिंचन करना चाहिए। जल का एक गुण यह भी है कि वह रास्ता किसी से नहीं मांगता, वह रास्ता स्वयं बना लेता है। हम भी पथप्रर्दशक बनें ऐसी भावना जागरित होनी चाहिए –

द्वितीय है – अग्रेपुवः

''अग्रेपुवः'' इस शब्द का अभिप्राय है – सबसे पवित्र ओर सभी पदार्थों को सबसे पहले पवित्र करने वाला। यह प्रोक्षणी जल हमारे यज्ञ को भी पवित्र करे तथा यजमान के जीवन में भी पवित्रता लावे।

जल दिव्यगुण युक्त पदार्थ है। जल सदा प्रवहणशील है। इसीलिए नदियाँ निरन्तर समुद्र की ओर बहती रहती हैं। हमारा जीवन भी प्रगतिशील बने, यही 'अग्रेपुवः' से अभिव्यक्त होता है।

'जल' ही को पवित्र माना है अतः यह हमें पवित्र बनाये तथा हम भी पवित्र जीवन को व्यतीत करने वाले बनें। इसीलिए जल–प्रोक्षण किया जाता है।

पवित्र हवि को ही देने का विधान करते हुए याज्ञवल्क्य ने एक और विधि का विधान किया है, जिसे सभी को अपनाना चाहिए। याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''प्रोक्षिताः स्थेति। तद् एताभ्यो निह्नुतेऽथ हविः
प्रोक्षयत्येको वै प्रोक्षणस्य बन्धुर्मेध्यम् एव एतत् करोति'' ।। १–१–३–१०

''शुद्ध भावनाओं से अभिषिक्त वह हवि हो'' यह पढ़कर शुद्धभाव से अभिषिक्त हवि के समक्ष विनयावनत होकर हवि का प्रोक्षण करना चाहिए। विनयावनत होना ही हवि से बंधुपना है, ऐसे हवि का प्रोक्षण करना ही हमारा प्रयोजन है। विनयावनत होकर हवि प्रोक्षण करना ही जीवन की मेध्यता पवित्रता है, नम्रीभूत होकर सभी कार्य यज्ञ में करने चाहिएँ।

प्रोक्षण जलसिंचन भी देवता को निमित्त करके करना चाहिए। जिस–जिस देवता के लिए हवि देनी हो तो 'अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि – इस तरह उनके नाम पर उसे पवित्र करता है। अतः याज्ञवल्क्य आदेश देते हैं –

''अथ यज्ञपात्राणि प्रोक्षति'' ।। १–१–३–१२

अब अध्वर्यु यज्ञपात्रों पर जल छिड़कता है। यही प्रतीक है कि यज्ञ के पात्र सर्वथा पवित्र साफ सुथरे होने चाहिएँ। अशुद्धता यज्ञ में अपेक्षित नहीं है इसीलिए साफ किए गए यज्ञपात्रों पर प्रोक्षणी जल का छिड़काव कर लेना चाहिए। जिससे यज्ञ में पात्रों की पवित्रता बनी रहे। इसीलिए जल छिड़कते हुए मन्त्र बोलता है –

''दैव्याय कर्म्मणे शुन्धध्वं देवयज्याया'' इति।। १–१–३–१२

अर्थात् तुम दैव कर्म जो देवयज्ञ अर्थात् देवों का संगतिकरण है उसके लिए शुद्ध हो जाओ। अपवित्रता के कारण तुम्हारे अन्दर जो अशुद्धि – अपवित्रता उत्पन्न हो गई है। उसे मैं शुद्ध करता हूँ, पवित्र करता हूँ। यदि किसी और व्यक्ति ने व नौकरादि ने बिना हाथादि धोए या किसी और कारण से अपवित्रता लायी है या अपवित्र हाथों से छुआ है तो उसे प्रोक्षणी जल से शुद्ध कर लेना चाहिए। इसीलिए कहा गया है –

''यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामी''ति।। १–१–३–१२

सर्वाशुचिता को सवर्तोभावेन शुद्ध करता हूँ।

शुद्धता पवित्रता के लिए पवित्रीकरण की आवश्यकता है। इसीलिए याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''पवित्रे करोति।।''

* * *

१४-चतुर्दशपाथेयम्

कृष्णाजिन (मृगचर्म) का महत्त्व

याज्ञवल्क्य ऋषि ने अपने महान् ग्रन्थ ''शतपथ'' ब्राह्मण में यज्ञ के सभी अंङ्गों–प्रत्यङ्गों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। उन में एक कृष्णाजिन मृगशाल–मृगचर्म भी है। उसमें भी काले मृग के चर्म का विधान किया गया है –

''मखे कृष्णाजिनं ग्राह्यम् तदखण्डं विशिष्यते।।''

अर्थात् मख नाम यज्ञ का है। अतः यज्ञ में काले मृग का चर्म ग्रहण करना चाहिए, वह भी अखण्ड–चर्म ही प्रशंसनीय और ग्राह्य माना जाता है। यह चर्म मृत मृग का ही सम्भव होगा।

याज्ञवल्क्य ने उस मृगचर्म मृगछाल को सामने रख कर कथानक के रूप में वेद और वेदज्ञान को समझाने का प्रयत्न किया है। क्योंकि महाभाष्यकार पतंजलि भी कहते हैं –

''उदाहरण – प्रत्युदाहरणमुदितमेतद्वयाख्यानं भवति''

अर्थात् किसी शास्त्रीय बात को समझने के लिए उदाहरण की आवश्यकता होती है। यदि उदाहरण से काम न चले तो प्रत्युदाहरण का सहारा ले लेना चाहिए। अतः वेद व उसके ज्ञान को ही समझने के लिए याज्ञवल्क्य मृगचर्म का सहारा लेते हुए कहते हैं कि –

''अथ कृष्णाजिनमादत्ते।।'' १–१–४–१

अब पात्र–प्रोक्षण के पश्चात् यज्ञ को सर्वाङ्ग–सम्पन्न बनाने के लिए कृष्णाजिन को लिया जाता है। वही क्यों ग्रहण किया जाता है ? इस प्रश्न का सटीक उत्तर याज्ञवल्क्य ने इस कृष्णाजिन के माध्यम से दिया है। याज्ञवल्क्य महर्षि थे। महर्षि सार्वकालिक ज्ञाता हुआ करते हैं। उन्हें ज्ञात था कि आज जिस तरह यज्ञीय दुर्दशा विद्वानों द्वारा हो रही है उसकी पीड़ा उन्होंने प्रथम दृष्ट्या ही अनुभव कर ली थी। आज

भी जब यज्ञ की विविधता व स्वेच्छाचारिता को देखते हैं तो तत्कालीन याज्ञवल्क्य का कथन शतप्रतिशत समुचित जान पड़ता है। क्योंकि याज्ञवल्क्य कहते हैं –

''यज्ञस्यैव सर्वत्वाय यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम'' ।। १–१–४–१

यज्ञ स्वतः ही सर्वाङ्गता से पूर्ण है।

अतः अपनी सर्वाङ्गता को सुरक्षित न देख कर यज्ञ देवताओं के पास से भाग गया। यज्ञ ने देखा कि अब देवता मेरी सर्वाङ्गपूर्णता को सुरक्षित नहीं रख पा रहे हैं तो उसने वहाँ से भाग जाना ही उचित समझा। अन्यथा वह असुरों के हाथ लगता असुर उसे पकड़ना भी चाहते थे क्योंकि देवों के पास असुरों से विजय को प्राप्त करने का एक मात्र साधन यज्ञ ही था। असुरों के हाथ यज्ञ नहीं आना चाहता था। अतः देवों के पास से वह भाग निकला, भाग कर वह जो बना या उसने जहाँ प्रवेश किया उसका विवरण भी याज्ञवल्क्य देते हैं –

''स कृष्णो भूत्वा चचार। तस्य देवा अनुविद्य
त्वचमेवावच्छायाजह्रुः।।'' १–१–४–१

अर्थात् देव बिना यज्ञ के रह नहीं सकते थे। उन्होंने यज्ञ को तलाशना प्रारम्भ किया। अन्त में उन्होंने जंगल में इधर–उधर दौड़ते हुए एक सुन्दर मृग को देखा। उसकी सुन्दरता से उन्हें उस मृग के ऊपर ही यज्ञ का आभास हुआ। उसे पकड़ने के लिए दौड़े। उसे पकड़ा भी, परन्तु वह मृग इतनी शीघ्रता से दौड़ा कि उनके हाथ में उसकी छाल (त्वचा) ही आई, मृग तो भाग निकला। वह पकड़ में नहीं आया वही छाल याज्ञवल्क्य द्वारा कल्पित कृष्णाजिन है। वह कैसा है ? इसका भी प्रतिपादन करते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''तस्य यानि शुक्लानि च कृष्णानि च लोमानि
तान्यृचां च साम्नां च रूपं यानि कृष्णानि तानि साम्नाम्'' ।। १–१–४–२

अर्थात् उस मृग की खाल में विविध रंग के बाल देखने को मिल रहे हैं। उसमें जो काले–काले बाल हैं वे ऋक् की ऋचाएं हैं और जो सफेद–सफेद हैं वे साम की ऋचाओं

के रूप हैं। वे सभी ऋक् और साम के रूप हैं। विपरीत समझने की व्यवस्था भी वैकल्पिक रूप से याज्ञवल्क्य देते हैं –

''यदि वेतरथा यान्येव कृष्णानि तानि साम्नां रूपं
यानि शुक्लानि तान्यृचां यान्येव बभ्रूणीव हरीणि
तानि यजुषां रूपम्'' ।। १–१–४–२

अर्थात् इसे आज भी समझ लीजिए। जो काले बाल हैं वे साम का रूप हैं और जो श्वेत बाल हैं वे ऋक् का रूप हैं। उस खाल में जो अन्य भूरे और हरे बाल हैं वे यजुः का रूप हैं। चार वेदों की कल्पना में भूरे बाल यजुः के तथा हरे अथर्व के प्रतीक भी माने जा सकते हैं। यज्ञ को त्रिरूपात्मक मानते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं –

''सैषा त्रयी विद्या यज्ञः'' ।। १–१–४–३

अर्थात् कृष्णाजिन–मृगचर्म वस्तुतः ज्ञान–कर्म–उपासना विधायक ऋक्–यजु–साम इन में विद्यमान ज्ञान–कर्म उपासना रूप तीन विद्याओं से युक्त यज्ञ है। इसीलिए कहा गया है–

''तस्या एतत् शिल्पमेष वर्णस्तद् यत् कृष्णाजिनं
भवति यज्ञस्यैव सर्वत्वाय तस्मात् कृष्णाजिनमधि
दीक्षन्ते यज्ञस्यैव सर्वत्वाय'' ।। १–१–४–३

यह कृष्णाजिन व इसका काला, सफेद, भूरा और हरा–ये रंगभेद वेद विद्या को ऋक्, यजु, साम, अथर्व वेद के रूप में बाँटने का ही निर्देश है। इसीलिए कृष्णाजिन को इसका प्रतिमूर्ति रूप माना गया है। हमारा यह यज्ञ सर्वाङ्ग सम्पन्न हो इसीलिए आचार्य ब्रह्मचारी को कृष्णाजिन पर बैठा कर दीक्षित करता है। सर्वाङ्ग सम्पन्नता ही यज्ञ का उद्देश्य होता है। ब्रह्मचारी आचार्य का यज्ञ है। वह जब चारों वेदों का ज्ञाता व त्रैविद्या–सम्पन्न होगा तभी जाकर आचार्य का यज्ञ सर्वाङ्गपूर्ण हो सकेगा। इसीलिए मृगछाल पर उसे दीक्षित किया जाता है।

यज्ञ में प्रयुक्त होने वाला हविष्य पदार्थ यदि धरती पर गिर गया और तो वह पदार्थ यदि यज्ञ में प्रयुक्त होता है तो वह यज्ञसाधक नहीं, यज्ञ घातक है। उससे यज्ञ की

सर्वाङ्गपूर्णता नहीं होती। क्योंकि धरती पर पड़ा वह पदार्थ अपवित्र हो जाता है। अपवित्रता यज्ञ में मान्य नहीं है। इसीलिए याज्ञवल्क्य आगे कृष्णाजिन ग्रहण करने का अन्य मुख्य प्रयोजन लिखते हुए कहते हैं –

''तस्माद् अधि अवहननम् अधिपेषणं भवति।

इसीलिए यज्ञ को सर्वाङ्ग–सम्पन्न बनाने के लिए कृष्णाजिन को बिछाकर हवि को कूटना और पीसना चाहिए क्योंकि –

''अस्कन्नं हविरसदिति तद्यद् एव
अत्र तण्डुलो वा पिष्टं वा स्कन्दात्तद् यज्ञे
यज्ञः प्रतिष्ठादिति तस्माद् अध्यवहननम् अधिपेषणं भवति'' ।। १–१–४–३

अर्थात् इसी कारण से कृष्णाजिन पर ही हवि का कूटना व पीसना किया जाता था कि उछलकर बाहर गिरी वस्तु हवि के अनुपयोगी न हो, वह असत् न हो। हमें भी पात्र से बाहर गिरी हवि को यज्ञ में प्रयुक्त नहीं करना चाहिए क्योंकि याज्ञवल्क्य के मतानुसार वह हवि असत् अर्थात् अनुपयोगी हो जाती है। इसीलिए यज्ञ की सर्वाङ्ग सम्पूर्णता के लिए हवि का कूटना व पीसना कृष्णाजिन पर ही होना चाहिए। जिससे उछलकर बाहर गिरा दाना–चावल आदि अथवा पिष्ट का जो छींटा नीचे गिरे वह पदार्थ यज्ञ का अंश होकर यज्ञ ही बना है। इसीलिए कृष्णाजिन पर ही कूटना व पीसना हुआ करता है। वह कृष्णाजिन क्या है उसके वास्तविक स्वरूप को अब जा कर याज्ञवल्क्य अभिव्यक्त करते हैं –

''अथ कृष्णाजिनमादत्ते'' । १–१–४–४

अब वह कृष्णाजिन को ग्रहण करता है। और ग्रहण करने के पश्चात् यजुः का मन्त्र बोलता है –

''शर्मासीति''

यह बोलकर वह प्रार्थना करता है कि हे कृष्णाजिन! तू कल्याणकारी है। तू ही हमारा कल्याण करने वाला है। इससे आगे याज्ञवल्क्य की बात को गहराई से समझना होगा क्योंकि याज्ञवल्क्य कहते हैं –

''चर्म वा एतत्कृष्णस्य तदस्य तन्मानुषं

शर्म देवत्रा तस्मादाह शर्मासीति'' ।। १–१–१–४

यह कृष्णाजिन मृग का चर्म है। उसे केवल मात्र चर्म कहना तो मानव मात्र का स्वभाव है। परन्तु वह दिव्यगुणों से युक्त देव है। उनके द्वारा इसे ''शर्म'' कहना उनका स्वभाव है इसीलिए वे ''शर्मासि' कहते हैं।

कृष्णाजिन को केवल मात्र चमड़ा समझना यह मानव का स्थूलदर्शी दृष्टिकोण है। वह तो ज्ञान का ही प्रतीक है। जैसे मृग को उनके चर्म ने चारों ओर से ढक कर रखा हुआ है, उसी तरह से ऋक्, यजुः, साम और अथर्व रूप ओढ़नी को ओढ़ा कर उस प्रभु ने हमारा भी कल्याण किया है। हम में केवल मात्र मनुष्य भाव ही पैदा न हो देव भाव भी पैदा हो, इसलिए यहाँ याज्ञवल्क्य ने कृष्णाजिन को ही ज्ञान का माध्यम हमारे लिए प्रस्तुत किया है। वर्तमान में कुछ लोग वेद ज्ञान के पत्र–कागज को पत्र अथवा कागज ही समझते हैं उसमें दिए ज्ञान को नहीं समझते। हमें ज्ञान को समझना है क्योंकि –

''परोक्षप्रिया वै देवाः प्रत्यक्षद्विषः''

इस नियमानुसार क्रियाकलाप के पीछे जो परोक्ष छिपा होता है, देव उसके उपासक होते हैं। स्थूल दृष्टि से दृश्यमान कर्मकाण्ड मात्र के नहीं, उन्हें ज्ञानापेक्षित है।

आगे याज्ञवल्क्य कृष्णाजिन को झाड़ने का प्रयोजन बतलाते हुए लिखते हैं –

''अवधूनो'' अवधूतं रक्षोऽवधूता अरातयः इति

तन्नाष्ट्रा एव एतद् रक्षांसि अतोऽपहन्त्यतिनत्येव

पात्राण्यवधूनोति यद् हि अस्य अमेध्यम् अभूत् तद् हि

अस्यै तद् अवधूनोति'' ।। १–१–४–४

अब वह फिर कृष्णाजिन को झाड़ता है। कृष्णाजिन को झाड़ते हुए वह मन्त्र पढ़ता है –

''अवधूतं रक्षोऽवधूता अरातयः'' अर्थात् हमारे जो विनाशकारी भाव राक्षस स्वरूप होते हैं, इस वाक्य द्वारा उन्हें झाड़ता है। कृष्णाजिन में जो दोषयुक्त पदार्थ होते हैं वह

उन्हें झाड़ता है तथा कहता है – हमने यज्ञ रोधक शत्रु झाड़ दिये, यज्ञ में असहयोगी – नाशकारी शत्रुओं को भी हमने दूर कर दिया है। यह झाड़ने की प्रक्रिया पात्रों से अतिनत्य अर्थात् परे हटकर करनी चाहिए, जिससे पात्रों पर अथवा अन्दर धूल न जम पाये। पवित्रता बनी रहे, इसीलिए कृष्णाजिन को झाड़ता है।

यहाँ तात्पर्य यही है कि हमें भी बाह्य और आभ्यन्तरिक राक्षसों को दूर भगाकर स्वच्छ व निर्मल पवित्रता के साथ इस कर्म में बैठना चाहिए।

उस कृष्णाजिन को कैसे बिछाना है ? इसकी भी व्यवस्था करते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''तत् प्रतीचीनग्रीवमुपस्तृणाति'' ।। १–१–४–५

झाड़–फूँक कर पवित्र किये हुए कृष्णाजिन को उसके मुख वाले भाग को पश्चिम दिशा की ओर करके बिछाता है। अर्थात् उसकी गर्दन वाला भाग पश्चिम दिशा की ओर बिछाना है।

गर्दन को पश्चिमाभिमुख इसलिए बिछाया गया है कि सन्तान सदैव मात्रानुगामी पित्रानुगामी होनी चाहिए। तथा शिष्य भी गुर्वनुगामी सदैव बना रहे। सन्तान के सन्दर्भ में तो शास्त्रकारों ने यहाँ तक कहा है –

''पैतृकमश्वा अनुहरन्ते मातृकं गावः'' ।

अच्छा घोड़ा लेना हो तो उसके पिता को देखा जाता है कि उसका बाप किस नस्ल का है और यदि गाय लेनी हो तो उसकी माँ की नस्ल देखी जाती है। सन्तान का अनुगामी होना अनिवार्य है किसी कवि ने कहा भी है –

माता पर गाय पिता पर घोड़ा, बहुत नहीं तो थोड़ा–थोड़ा।

मेरी दृष्टि में पश्चिम की ओर गर्दन करके बिछाने का यही अभिप्राय हो सकता है। अन्य पृथिवी पर जुड़े होने का प्रयोजन कृष्णाजिन को बिछाते हुए मन्त्र पढ़ता है –

''आदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर् वेत्वितीयं वै पृथिवी
अदितिस्तस्या अस्यै त्वग् यद् इदमस्याम् अधि
किञ्च तस्मादाहादित्यास्त्वगसीति'' ।। १–१–४–५

यह अदिति पृथिवी है। यहाँ पृथिवी को अदिति माना गया है। इस पृथिवी पर जितने भी पदार्थ हैं वही इस की त्वचा है। तुम में अपनत्व का सम्बन्ध है। तुम एक दूसरे को पहचान लो। क्योंकि परस्पर सम्बन्ध में किसी भी तरह की हिंसा नहीं होती। जिस तरह कृष्णाजिन और पृथिवी के मध्य अविछिन्न सम्बन्ध होता है उसी तरह हमारा भी परिवार के साथ, समाज के साथ परस्पर अविछिन्न सम्बन्ध रहना चाहिए। क्योंकि यज्ञ का स्वरूप संगठनात्मक ही है। एकता के सूत्र में जो बाँधे उसे ही शास्त्रकारों ने यज्ञ माना है। परस्पर हमारा सम्बन्ध बना रहे इसीलिए याज्ञवल्क्य कहते हैं –

''अथ कृष्णाजिनमादत्ते'' ।।

वर्तमान के योगी, संन्यासी, तपस्वी भस्म की विभूति मल कर और मृगचर्म को धारण करते हुए परिभ्रमण करते हैं, बिना वेदज्ञान के उनका पर्यटन करना ''मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति' के सदृश है।

''कृष्णाजिन'' से हमें शिक्षा मिलती है कि हम भी वेदरूपी मृगचर्म से अपने आपको व अपने शरीर को ढककर सुरक्षित करें।

यही कृष्णाजिन का महत्त्व है।

* * *

ऊखल मूसल व सिलबट्टा का महत्त्व

याज्ञवल्क्य के अनुसार उत्तम हवि रूप सोम को तैयार करने के लिए ये ऊखल व सिलबट्टा दोनों महत्त्वपूर्ण पात्र हैं। जैसे सिल व बट्टा एक दूसरे के पूरक पात्र हैं उसी तरह ऊखल के साथ मूसल का होना भी अनिवार्य है।

याजक ने यज्ञ के लिए उत्तम हवि को शुद्धता के साथ नियत करना है अतः याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''अथ दक्षिणेनोलूखलमाहरति।।'' १–१–४–६

अध्वर्यु उत्तम हवि तैयार करने के लिए दाहिने हाथ से ऊखल को लाता है। बायें हाथ में पूर्व–वर्णित कृष्णाजिन को दबाये रखता है। ऐसा क्यों किया जाता है, इस सन्दर्भ में भी याज्ञवल्क्य का मानना है –

''नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षांस्याविशानिति''। १–१–४–६

इस हवि में कहीं से भी नाशकारी राक्षस न घुस पाये। दुष्ट भाव ही हमारे राक्षस हुआ करते हैं। हवि में भी मलिनता का नाश करने के लिए ऊखल का प्रयोग किया जाता है। अतः साथ ही कृष्णाजिन को भी रखता है क्योंकि ऊखल कर्म का प्रतीक व कृष्णाजिन ज्ञान का प्रतीक है, दोनों को इसीलिए दोनों हाथों से दबाए हुए रहता है। दाहिना हाथ व वाम हाथ क्षत्रिय व ब्राह्मण का प्रतीक है। मानसिक दुष्टता दूर करना ब्राह्मण का कर्त्तव्य व शारीरिक दुष्टता से सुरक्षित रखना क्षत्रिय का कर्त्तव्य है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता तस्मादभिनिहितमेव
सव्येन पाणिना भवति''।। १–१–४–६

ब्रह्म अर्थात् वेदज्ञान ही मनुष्य के अन्दर उत्पन्न होने वाले मानसिक दुष्ट भावरूपी राक्षसों को मारने में सक्षम हैं क्योंकि उन दुष्ट राक्षसों को मुख्यरूप से मारना ब्राह्मण

का ही कार्य है। शारीरिक दुष्ट राक्षसों को ताड़ित करना तो क्षत्रिय का ही कार्य होता है, अतः दाहिने हाथ से ऊखल को और बाएँ हाथ से कृष्णाजिन को लगाता है। उसके लाने के प्रयोजन को प्रतिपादित करते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''अथोलूखलं निदधाति'' ।। १–१–४–७

अध्वर्यु उत्तम हवि सोम का निर्माण करने के लिए कृष्णाजिन के ऊपर ऊखल को रखता है। ऊखल को रखते हुए यजुः के मन्त्र को पढ़ता है –

''अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्न'' इति। १–१–४–७

अर्थात् हे ऊखल! तुम यज्ञ की हवि के साधक साधारण पात्र नहीं हो। तुम तो पर्वत की तरह विशाल हो, उच्चता से युक्त हो, तुम्हारा निर्माण भी वनस्पति से हुआ है। क्योंकि ऊखल का निर्माण लकड़ी के एक विशाल तने से किया जाता है। इसीलिए इसे वानस्पत्य कहा गया है। तू 'ग्रावासि' पत्थर की तरह सुदृढ़ है। पत्थर जैसे सुदृढ़ होता है उसी तरह तुम भी सुदृढ़ हो। 'पृथुबुध्न असि' तुम विस्तृत–विशाल मूल वाले हो। तुम्हारा तना विस्तृत है, विशाल है। ऊखल के लिए यजुः के इस मन्त्र से स्तुति की जाती है, प्रार्थना की जाती है। वह इसलिए कि अध्वर्यु यज्ञार्थ सोम का निर्माण करता है तभी तो याज्ञवल्क्य कहते हैं –

''वा तत् यथा एव अदः सोमं राजानं ग्रावभिरभिषुण्वन्त्येवमेवैतद्
उलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्यां हविर्यज्ञम् अभिषुणोति।।'' १–१–४–७

यहाँ पर इस बात को समझ लेना चाहिए कि जिस सिलबट्टे पर रख कर सोम कूट कर निकाला जाता है उसका अध्यारोप उलूखल व मूसल में किया गया है। अतः जिस तरह सोमराजा का रस पत्थरों से कूटकर निचोड़ा जाता है उसी प्रकार यहाँ ऊखल और मूसल तथा दृषद्–उपल अर्थात् सिल–बट्टे से यज्ञ के लिए हवि निष्पादन करते हैं।

यहाँ पर इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि सोम निकालने के जितने भी साधन हैं उनमें एक का नाम 'अद्रि' है। 'अद्रि' पर्वत को कहते हैं। यह ऊखल भी पर्वत की तरह उच्चता से युक्त होता है।

दूसरा वह 'वानस्पत्य' है। 'वानस्पत्य' ऊखल को इसलिए भी कहा गया है क्योंकि वह वनस्पति से बना हुआ होता है।

तृतीय वह 'ग्रावासि पृथुबुध्नः' है। वह इसलिए कहा कि वह भी विशाल–पत्थर के समान विशाल–तल वाला है।

इससे सुनिश्चित है कि हवि के लिए जो सोम तैयार करना है उसके लिए याज्ञिक को ऊखल–मूसल व सिलबट्टे की आवश्यक्ता होगी, उसका स्वरूप पूर्ववर्णित किया जा चुका है। ऐसे ऊखल में अब अध्वर्यु जो करता है उसका वर्णन करते हुए याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट शब्दों में लिखा –

''अथ हविरावपति''। १–१–४–८

अब अध्वर्यु अपनी हवि को समुचित बनाने के लिए उसे ऊखल में रखता है। उस हवि का अच्छी तरह से संस्कार किया जा सके, उसका सम्मिश्रण हो सके तथा उसे कूटा जा सके अतः उसे ऊखल में रखता है। उसी समय यजुः के इस मन्त्र का पाठ करता है –

''अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनमिति।।'' १–१–४–८

अर्थात् हे हवि! तू हमारे संकल्प की अग्नि का शरीर है। यज्ञ करने का जो संकल्प हमारे द्वारा लिया गया है उसे विस्तृत करने का साधन तू ही है। इस प्रार्थना से प्रतीत होता है कि हवि के साथ ही यजमान का संकल्प जुड़ा हुआ होना चाहिए। तभी जा कर वह संकल्प फलीभूत होगा, उसका विस्तार होगा। उसके पश्चात् जो यजमान ने मौन रखा था, वही वाणी के विसर्जन में समाप्त हो जाता है। यज्ञ में संकल्प की सफलता को जब यजमान अनुभव करता है तब सहसा ईश्वर व यज्ञ का धन्यवाद करने के लिए वाणी का मौन टूट जाता है। वह यज्ञ का आभारी होता है। प्रभु का धन्यवाद मुखरित होकर करता है। यही वाचो विसर्जनम् है। वाणी फिर रुकती नहीं है, अश्रुधारा (वाग्धारा) स्वतः ही फूट पड़ती है और हम गा उठते हैं –

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम।।

यजु. ४०–१६

तू है स्वयं प्रकाश स्वरूप प्रभु सबका सिरजनहार तू ही।

रसना निशि–दिन रटे तुम्हीं को मन में बसना सदा तू ही।।

अघ–अनर्थ से हमें बचाते रहना हरदम दयानिधान।

अपने भक्तजनों को भगवन्! दीजे यही विशद वरदान।।

इसी को ''वाचो विसर्जनम्'' कहते हैं, इसे ही वाणी को बोलने के लिए छोड़ता है। यह विसर्जन ही यज्ञरूप होकर ऊखल में प्रतिष्ठित हो गया। वह ही विस्तार को प्राप्त हो गया। इसीलिए कहता है ''वाचो विसर्जनमिति'' अर्थात् हमने वाणी का जो यज्ञ करने से पूर्व मौन धारण किया था, उसका उद्घाटन हो गया।

याज्ञवल्क्य के अनुसार यज्ञ से पूर्व हमें मानुषी वाणी अर्थात् रोजमर्रा की बातें नहीं करनी चाहिए। जैसा कि वर्तमान में यज्ञ से पूर्व देखा जाता है कि हम अनर्गल बातों से यज्ञ बाधित करते रहते हैं। यदि ऐसा करते हैं, तो पाप करते हैं। पाप का प्रायाश्चित्त करना चाहिए, अतः याज्ञवल्क्य कहते हैं –

''यदिदं पुरा मानुषीं वाचं व्याहरेत्'' ।। १–१–४–९

अर्थात् हविरावपण से पहले यज्ञ से अतिरिक्त बातचीत नहीं करनी चाहिए। यदि फिर भी जाने–अनजाने में हो जावे तो वह एक तरह का यज्ञ–हनन है। तब उस स्थिति में क्या करना होगा, उसके लिए याज्ञवल्क्य व्यवस्था देते हुए कहते हैं –

''तत्र उ वैष्णवीम् ऋचं वा यजुर्वा जपेत्।। १–१–४–९

अर्थात् – ऐसी अवस्था में जब यज्ञ से पूर्व यजमान ने मानुषी वाक् का प्रयोग कर लिया है तो यजमान को चाहिए कि वह उसका प्रायश्चित्त करने के लिए ऐसी ऋचाओं वा यजुः के मन्त्रों का जाप करे जिसका देवता विष्णु हो। क्योंकि –

''यज्ञो वै विष्णुः तद् यज्ञं पुनः आरभते तस्य

उ ह एषा प्रायश्चित्तिः देववीतये त्वा गृह्णामि

इति देवान् अवत् इति उ हि हविर्गृह्यते'' ।। १–१–४–९

अर्थात् उन ऋचाओं का जाप यजमान करे जिनका देवता विष्णु हो क्योंकि निश्चय से विष्णु का अर्थ यज्ञ माना गया है। विष्णु भी व्यापक हैं और यज्ञ भी व्यापक है। व्यापक होने से विष्णु यज्ञ ही हैं। इसीलिए वैष्णव–मन्त्र के जप का विधान किया गया तभी जाकर हमारा यज्ञ अविच्छिन्न हो जाता है। यही इस पाप का प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त करते हुए हम प्रार्थना करते हैं –

'देववीतये त्वा गृह्णामि' इति।।

यजमान प्रायश्चित्त करता हुआ प्रार्थना करता है, हे हवि! तेरा ग्रहण यजमान द्वारा देवों की रक्षा के निमित्त हो रहा है। यजमान की अभिलाषा है कि इस ग्रहण की गई हवि से देव लोग तृप्त हो जावें। इसी भावना से ही निश्चयपूर्वक हवि को ग्रहण किया जाता है।

यह ग्रहण की गई हवि ''देववीतये'' इसलिए भी है कि हमें समाज में देवत्व भाव को जागरित रखना है। वह तभी होगा जब हम विद्वानों की रक्षा करेंगे। क्योंकि 'विद्वांसो वै देवाः' के अनुसार–विद्वानों को ही देव माना गया है। वह विद्वान् वेद ज्ञानवान् होना चाहिए। यज्ञ का अर्थ भी देवपूजा व संगतिकरण इसीलिए किया गया है। यज्ञ करते हुए फिर प्रार्थना भी करते हैं –

''स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।

पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि।।'' ऋग्. ५/५१/१५

हम सभी सूर्य और चंद्रमा की तरह कल्याण पथ के पथिक बनें अर्थात् कल्याण–युक्त मार्ग पर निरन्तर चलने वाले बनें। महादानी, अहिंसाकारी, ज्ञानी जनों तथा परमपिता परमात्मा से मेल–मिलाप करते हुए सदा सुख को प्राप्त करने वाले बनें। इसीलिए याज्ञवल्क्य ने हवि को ''देववीतये त्वा गृह्णामि'' कहा है।

ग्रहण की गई हवि को हमने कूट कर सम्मिश्रण करके सुसंस्कृत करना है जिससे हमारी यह हवि उत्तम हवि बन सके। उत्तम हवि सुगन्धित व पुष्टिवर्धक होनी चाहिए, उसमें मधुर–मधुर पदार्थ भी सम्मलित होने चाहिए। अतः उन सभी को यजमान ने

सुसंस्कृत करना है। हवि को सुसंस्कृत बनाने के साधन को प्रस्तुत करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''अथ मुसलमादत्ते।'' १–१–४–१०

हवि को सुसंस्कृत करने के लिए अब यजमान द्वारा अथवा अध्वर्यु द्वारा मूसल को पकड़ा जाता है, ग्रहण किया जाता है। मूसल हवि को ऊखल में कूटने का एक साधन है। अतः हाथ में लेते हुए मूसल के सन्दर्भ में प्रार्थना करता है –

''बृहद् ग्रावासि वानस्पत्य इति।।'' १–१–४–१०

जिस प्रकार सोम याग के लिए सोम निकालने के लिए सिल–बट्टा है इसी प्रकार इस हवि को सुसंस्कृत करने के लिए वनस्पति–जन्मा मूसल बड़े पत्थर के समान होता है। अतः हाथ में पकड़ कर प्रार्थना की जाती है कि ''हे मूसल! तू वनस्पति का हितकारी बड़ा ग्रावा है। इसके सदृश है। तू वानस्पत्य इसलिए है कि तुझे ऊखल में चलाया जाता है। ऊखल भी वनस्पति का होता है। मूसल को चलाते हुए भी यजमान को प्रार्थना करनी चाहिए –

''स इदं देवेभ्यो हविः शमीष्व सुशमि शमीष्व'' इति।। १–१–४–१०

अर्थात् हे दोषशमनकर्त्ता मूसल ! इस हवि को देवों के लिए दोष रहित कर। इसीलिए आगे याज्ञवल्क्य कहता है –

''स इदं देवेभ्यो हविः सँस्कुरु साधु सँस्कृतं सँस्कुरु
इति एव एतद् आह'' ।। १–१–४–१०

अर्थात् हे मूसल। यह हवि देवों के लिए है इसीलिए इस हवि को देवों के लिए संस्कृत कर। जन समुदाय के हित के लिए संस्कृत कर। इस हवि को ऐसा सुसंस्कृत कर कि यह सुसंस्कृत होकर देव हवि हो जाये।

मूसल और हवि तो यहाँ केवल प्रतीक मात्र हैं। हमें भी अपनी सन्तान व अपने शिष्यों को समय–समय पर ठोक–ठोक कर उन्हें शुद्ध व पवित्र बनाना है। जिससे वे

भी लोक कल्याणरूपी यज्ञ की उत्तम हवि बन सकें। तभी जाकर गुरु की यह प्रार्थना भी फलीभूत होगी कि –

तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।। अथर्व. ११–५–३

अर्थात् जब ब्रह्मचारी गुरुकुल से बाहर निकलेगा तो उसे देखने के लिए संसार के सभी देवता–विद्वान् उपस्थित होंगे। हमें भी देश के लिए संस्कृत–संस्कारवान् सन्तान देनी है। तभी परिवार, समाज व राष्ट्र का उत्थान होगा। मूसल और ऊखल में कूट–कूट कर जैसे हवि को सुसंस्कृत किया जाता है, उसी तरह जीवन में आये कुसंस्कारों को पीट–पीट कर हमें दूर करना चाहिए।

जैसे सिल–बट्टे पर घिस–घिस कर सोम को उत्तम हवि के लिए ग्रहण किया जाता है, उसी तरह जीवन में आई दुष्टता को भी घिस–घिस कर जीवन को सौम्यता से युक्त करना चाहिए। यही ऊखल–मूसल व सिल बट्टे से प्रयोजन है। जीवन के यज्ञ में हमें भी समय–समय पर इसका उपयोग कर लेना चाहिए। तभी हमारा कल्याण होगा।

* * *

हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि

वर्तमान की संस्कृति में देखा जाता है कि हमारे यज्ञ की संस्कृति विलुप्त प्रायः है। एक समय था जबकि सभी परिवारों में यज्ञ का प्रचलन था।

श्रीराम को जब वनवास हुआ उस समय वे प्रयाग के थोड़ी दूर पहुँचे थे। सामने भंयकर धुँआ उठता देख लक्ष्मण जी ने श्रीराम को रुकने के लिए कहा, क्योंकि लक्ष्मण जी ने धुँए को अग्नि का प्रकोप समझा। श्रीराम ने उत्तर दिया हे लक्ष्मण! डरने की कोई बात नहीं है। धुँए से अनुमान लगाया जा सकता है कि हम 'प्रयाग' नगरी के समीप आ गए हैं। 'प्रयाग' को ''प्रयाग'' इसलिए कहा जाता है कि **''प्रकर्षेण यजन्ते यत्र सः प्रयागः''** जिस स्थान पर लोग अच्छी तरह से यज्ञ करते हों वह प्रयाग है। यहाँ सभी घरों में यज्ञ होता है अतः यह यज्ञ का धूम है, अन्यथा सन्देह करके रुकने की आवश्यकता नहीं। इस 'प्रयाग' नगरी के दर्शन कर हम अपने जन्मों को सफल करें।

ऐसी सभ्यता हमारे देश की थी। सर्वत्र यज्ञ का साम्राज्य था, प्रत्येक घर से ''हविष्कृदेहि, हविष्कृदेहि'' की ही आवाज आती थी। अर्थात् हवि जिसके लिए तैयार की गई है उस यज्ञ को पुकारा जाता था। आज यजुः के मन्त्र की यह ध्वनि–हविष्कृदेहि, हविष्कृदेहि, हविष्कृदेहि विलुप्त हो गई है। याज्ञवल्क्य उसी संस्कृति को याद दिलाने के लिए लिखते हैं –

''अथ हविष्कृतमुद्वादयति'' ।। १–१–४–११

ऊखल–मूसल व सिल–बट्टे से हवि तैयार करने के पश्चात् बड़े आदर पूर्वक उच्च स्वर से जिसके निमित्त यह यज्ञ किया जाना है, उसके निमित्त पुकारा जाता है – हविष्कृत् आइए, हविष्कृत् आइए।

यह 'हविष्कृत्' क्या है ? इसकी विवेचना करते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि इति वाग्वै हविष्कृत् वाचमेव
एतद् विसृजते। वागु वै यज्ञः तद् यज्ञमेव एतत् पुनरुपह्वयते'' ।।
१–१–४–११

''हविष्कृद् एहि, हविष्कृद् एहि'' इस यजुः के मन्त्र द्वारा जिसके लिए हवि का निर्माण किया गया है, उसको हविष्कृत् आइये, हविष्कृत् आइये कहकर पुकारता है। यह हविष्कृत् क्या है? इस सन्दर्भ में कहा गया है – 'वाग् वै हविष्कृत्' इति अर्थात् वाणी ही हविष्कृत् है। यहीं पर वाणी का विसर्जन किया जाता है। क्योंकि वाणी ही यज्ञ है। वाणी को ''सुसंस्कृत'' करना ही यज्ञ को सुसंस्कृत करना है। इसीलिए उसे पुनः बुलाता है – ''हविष्कृदेहि, हविष्कृदेहि'' के रूप में। इस यज्ञ में मानुषी वाक् का प्रयोग निषिद्ध किया गया है, मानुषी वाक् में प्रायः अनर्गल प्रलाप ही होता है जो यज्ञ में याज्ञवल्क्य को स्वीकार्य नहीं है।

किस तरह पुकारना चाहिए ? इसकी भी समुचित व्यवस्था याज्ञवल्क्य ने की है। सामाजिक व्यवस्था में वर्ण चार हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। किसी भी वर्ण में स्थित व्यक्ति को आदर सहित कैसे पुकारना है उसकी व्यवस्था में याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''तानि वा एतानि। चत्वारि वाचः।।'' १–१–४–१२

किसी भी वर्ण में स्थित व्यक्ति को यज्ञ में बुलाने के चार प्रकार हैं जो इस तरह से हैं–

१. ब्राह्मणस्य एहि — ब्राह्मण देवता हमारे यज्ञ में आइये। यह कहकर ब्राह्मण को पुकारना चाहिए।

२. क्षत्रियस्य आद्रवः — क्षत्रिय महाराज हमारे इस यज्ञ में आपने आना है।

३. वैश्यस्य आगहि — वैश्य बन्धु आपने हमारे यज्ञ में अच्छी तरह से आना है।

४. शूद्रस्य आधाव — शूद्र बन्धु आपने हमारे इस यज्ञ में दौड़ कर आना है।

इसी व्यवस्था का पालन हमें भी करना चाहिए। यज्ञ का विस्तार समान रूप से हो इसीलिए पुकारने की आदरपूर्वक व्यवस्था याज्ञवल्क्य दे रहे हैं –

''स यद् एव ब्राह्मणस्य तदाह एतद् हि यज्ञियतमम् एतद् उ ह वै
वाचः शान्ततमं यद् एहि इति तस्माद् एहि इत्येव ब्रूयात्'' ।। १–१–४–१२

आवाहन के इन चारों प्रकारों में से जो ब्राह्मण के आवाहन का प्रकार है वही यहाँ बोलना चाहिए, जो सबसे अधिक यज्ञोपयोगी है। ''एहि'' कह कर पुकारना ही वाणी का शान्ततम पुकार है। इसीलिए सर्वथा ''एहि'' कहना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि जब भी हम यज्ञ का निमन्त्रण दें तो हमारी प्रार्थना होनी चाहिए – ''भगवन् हमारे यज्ञ में पधारिये''। ऐसा वाग् व्यवहार लोगों में यज्ञ के प्रति रुचिकर रहेगा। सभी सम्मान को चाहते हैं। सम्मान–वाचक शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए।

यज्ञ जैसे श्रेष्ठतम कर्म करने के लिए कभी अरे, वे, अरी आदि असम्मान वाचक शब्दों का प्रयोग न करें। इधर आ, उधर जा, कहकर नहीं बुलाना चाहिए। आने की कृपा कीजिए, पधारिये, विराजिए कहकर आवाहन करें। यही आदरयुक्त वाणी का शान्ततम प्रकार है। ''एहि भगवन्'' ही कहना चाहिए।

याज्ञवल्क्य अगली कण्डिका में एक पुरातन व उपयोगी व्यवस्था का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं –

''तद् ह स्म एतत् पुरा। जाया एव हविष्कृद् उपोत्तिष्ठति।
तद् इदम् अपि एतर्हि य एव कश्च उपोत्तिष्ठति।
स यत्रैष हविष्कृतम् उद्वादयति तदेको दृषदुपले समाहन्ति
तद् यद् एताम् अत्र वाचं प्रत्युद्वादयन्ति'' ।। १–१–४–१३

यज्ञिय–कर्म–काण्ड की व्यवस्था में 'पात्राहनन' के रूप में एक प्रक्रिया को किया जाता है जिसमें ऋत्विक् इस क्रिया को सम्पन्न करने के लिए सिल–बट्टे को शम्या से टकराकर ''हविष्कृदेहि – हविष्कृदेहि शब्द का उच्चारण करता था। याज्ञवल्क्य के मतानुसार पहले यजमान की पत्नी ही इस पुकारने की क्रिया को करती थी। क्योंकि सिल–बट्टे पर उसी का अधिकार है। सिल–बट्टा चलाती हुई वही पुकारती थी ''हविष्कृदेहि, हविष्कृदेहि'' इति यहाँ वाणी को ही पुकारा जाता है।

यहाँ यह भी अभीष्ट है कि पुराने जमाने की माताएँ प्रातः उठकर यज्ञार्थ सोम तैयार करती थीं। उनकी सन्तान शय्या पर सोई होती थी। माता उसको जगाने के लिए सिल–बट्टे का प्रयोग करती थी, उसे शय्या के पावे के साथ लगाती थी। सिल–बट्टे की टक्कर से वह शय्या हिलाती भी थी और पुकारती भी थी – हे मेरी सन्तान उठ, हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि अर्थात् यज्ञ में हवि समर्पित करने के लिए पधारो, यज्ञ करने के लिए पधारिये। आज यज्ञ की परम्परा का ह्रास हो चुका है और यह ध्वनि भी समाप्त प्रायः है। माताओं को जागरूक होना होगा और ''हविष्कृदेहि'' की ध्वनि को मुखरित करना होगा।

मनु का ऋषभ (बैल)

'हविष्कृदेहि' के महत्त्व को विस्तृत रूप में समझाने के लिए महर्षि याज्ञवल्क्य ने इस कथानक का सहारा लिया है। यहाँ 'ऋषभ' को 'शब्द' और 'मनु' को 'मन' माना गया है। मनन करके ही शब्दों का प्रयोग होना चाहिए अन्यथा राक्षस के प्रवेश होने का भय बना रहता है, क्योंकि यज्ञ में अपशब्द का प्रयोग ही राक्षसपना होता है। अपशब्द युक्त यज्ञ ही मनुष्य हन्ता होता है। अतः मनुष्य के लिए शब्द ज्ञान परमावश्यक है, इसीलिए याज्ञवल्क्य कहते हैं –

मनोर्ह वा ऋषभ आस। तस्मिन् असुरघ्नी सपत्नघ्नी
वाक् प्रविष्टास।। १–१–४–१४

जगत् में प्रसिद्ध है कि मनु का एक बैल था। वह बैल कोई साधारण बैल नहीं था। उस बैल में असुरों को मारने वाली और शत्रु विनाशक वाणी प्रविष्ट थी। वह इस तरह की वाणी का नाद करता था, जिससे असुर व शत्रु दोनों ही विनाश को प्राप्त होते थे। इस ऋषभ रूपी बैल का सुन्दर चित्रण सुपरिचित वेद मन्त्र द्वारा महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य में किया है, जो इस तरह से है –

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महोदेवो मर्त्याम् आविवेश।। ऋग्. ४/५८/३

यह ऋग्वेद का एक सुप्रसिद्ध मन्त्र है जिसमें विस्तार से ''ऋषभ'' का चित्रण किया है। महर्षि पतञ्जलि इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं –

''चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। त्रयो अस्य पादाः त्रयः काला भूतभविष्यत्वर्तमानाः। द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। सप्त हस्तासो अस्य सप्त

विभक्तयः। त्रिधा बद्धः त्रिषु स्थानेषु बद्धः उरसि कण्ठे शिरसीति। वृषभो वर्षणात्। रोरवीति शब्दं करोति। कुत एतद् रौतिः शब्दकर्म्मा। महादेवो मर्त्यान् आविवेशेति। महान् देवः शब्दो मर्त्यां मरणधर्माणो मनुष्यास्तानाविवेश।।''

इसका तात्पर्य है कि एक बैल है उसके नाम, अख्यात, उपसर्ग और निपात के रूप में चार सींग हैं। यह चार सींगों वाला असाधारण 'वृषभ' है।

इसके तीन पैर हैं – भूत, भविष्य और वर्तमान के रूप में। यह तीन चरणों वाला वृषभ त्रैकालिक है। यह भूत में भी रहता है, भविष्य में भी तथा वर्तमान में भी रहने वाला है।

उस वृषभ (बैल) के एक नहीं बल्कि ध्वनिरूप कार्य और स्फोटरूप नित्य ये दो सिर हैं।

इस वृषभ के सप्त विभक्ति के रूप में सात हाथ हैं वे सप्त विभक्तियाँ – कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध और अधिकरण के रूप में इसके सात हाथ हैं।

यह वृषभ तीनों स्थानों से बाँधा जाता है – हृदय, कण्ठ और सिर, इन स्थानों से बँधा हुआ है। यह वृषभ दहाड़ता है। ऐसा यह वृषभ है। यह शब्दरूप महान् देव मनुष्यों में प्रविष्ट है।।

महर्षि पतञ्जलि ने भी यहाँ पर ''वृषभ'' को ''शब्द'' के रूप में स्वीकार किया है।

''ऋषभ'' शब्द कोई साधारण शब्द नहीं है। इसकी विवेचना करते हुए अपनी शतपथ ब्राह्मण की व्याख्या में स्वामी समर्पणानन्द महाराज जी ने एक सुन्दर विवेचन किया है जो इस तरह से है –

''साहस्रस्त्वेष ऋषभः पयस्वान् विश्वारूपाणि वक्षणासु बिभ्रत्।
भद्रं दात्रे यजमानाय शिक्षन् बार्हस्पत्यः उस्रियस्तन्तुमातान्।।''

अर्थात् – (साहस्रः) अनेक ज्ञान शाखाओं में सहस्रधार होकर फैला (पयस्वान्) ज्ञानरूप जल से भरा हुआ (वक्षणासु) अनेक विद्या प्रवाह करने वाली पाठशालाओं में (विश्वारूपाणि) अनेक रूप (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (दात्रे यजमानाय) दानशील यजमान को (भद्रं शिक्षन्) उत्तम फल वा उपदेश देता हुआ अथवा सिखाता हुआ

(उस्रियः) प्रदीप्त किरण से जाज्वल्यमान (बार्हस्पत्यः) ज्ञानाधिपति परमेश्वर का (एषः ऋषभः) यह शब्द रूप ऋषभ (तन्तुम्) ज्ञानमय तन्तु को (आतान्) विस्तृत करता है।।''

यह शब्द रूपी वृषभ मौनव्रती नहीं था। वह जब गर्जता था तो बड़ों–बड़ों की बोलती बन्द हो जाती थी, इसी बात को दर्शाते हुए याज्ञवल्क्य ने आगे लिखा –

''तस्य ह स्म श्वसथाद्रवथात् असुर–रक्षसानि मृद्यमानानि
यन्ति ते ह असुराः समूदिरे पापं बत नोयम्
ऋषभः सचते कथं नु इमं दभ्नुयाम इति किलात आकुली इति
ह असुरब्रह्मौ आसतुः'' ।। १–१–४–१४

अर्थात् उस शब्दरूपी ऋषभ (बैल) में असुरों को, देव तथा शत्रुओं को मारने वाली वाणी घुसी हुई थी। वह जब फूँकार करता था, या गर्जता था तो असुर भयभीत होकर 'इधर–उधर' भाग जाते थे। इधर–उधर दौड़ने से जब असुर कुचले जाने लगे तो वे असुर लोग इकट्ठे होकर कहने लगे – ''यह बैल हमें कभी व्यथा–पीड़ा दे रहा है। किस तरह के उपाय से हम इसे काबू करें। वे किसी न किसी तरह से इसे काबू करना चाहते थे। उनके पास किलात और आकुली नाम के असुरों के दो ब्रह्मा–पुरोहित थे। वे असुर अपनी जान की रक्षा के लिए उन दोनों के पास जाते हैं, उन्होंने प्रार्थना की –

''तौ ह ऊचतुः। श्रद्धादेवो वै मनुः आवं नु वेदाव
इति। तौ ह आगत्य ऊचतुः मनो याजयाव त्वा इति
केन इति अनेन ऋषभेण इति तथेति तस्यालब्धस्य सा वाग् अपचक्राम'' ।।
१–१–४–१५

उन दोनों ने बोलना शुरु किया – वह मनु महाराज तो निरे श्रद्धा देव हैं अर्थात् भोले–भाले हैं। हम उन्हें जाकर पकड़ सकते हैं। वे मनु के पास जाकर मनु की प्रशंसा करने लगे। उन्होंने मनु से प्रार्थना की कि – मनु जी ! हम आप से यज्ञ करवायेंगे। मनु के पास यज्ञ के लिए कोई हवि तो थी नहीं अतः मनुजी ने कहा– ''किससे कराओगे''। वे बोले – इस बैल से, उन्होंने जैसे ही यज्ञार्थ बैल को पकड़ा, वाणी वैसे ही वहाँ से भाग पड़ी। क्योंकि वाणी राक्षसों के संसर्ग में आकर अपवित्र नहीं होना चाहती थी।

उनके अधीन नहीं रहना चाहती थी। अतः वाणी वहाँ से भी भाग खड़ी हुई, फिर भागकर कहाँ गई। इसका भी वर्णन किया गया है जो इस तरह से है –

''मनोरेव जायां मनावीं प्रविवेश।।'' १–१–४–१६

ऋषभ को पकड़ा जान वाणी वहां से फिर भाग निकली। वह वाणी एकदम मनु की पत्नी मानवी में जा घुसी। वहाँ उसने प्रवेश पा लिया। वहाँ से तो असुरों को और भी अधिक मुसीबत का सामना करना पड़ा, क्योंकि मानुषी वाणी ने फिर बोलना शुरु किया। जैसे ही वह बोलती, राक्षस–असुर सुनते–सुनते ही कुचले जाने लगे, उन्होंने वहाँ भी अपनी जान को बचाने के लिए भागना प्रारम्भ कर दिया। वे असुर फिर किलात एवं आकुली पुरोहित के पास गये उन्होंने फिर कहा – मनुजी महाराज तो श्रद्धा देव अर्थात् भोले बाबा हैं। हम इन्हें पकड़ सकते हैं। वे मनु के पास जाकर कहने लगे – ''हम आप से यज्ञ करवायेंगे। मनु ने कहा किससे ? वे बोले – यह जो आप की पत्नी मानवी है इसी से। मनु ने कहा – जैसी तुम्हारी इच्छा। ज्यों ही राक्षसों – असुरों ने मानवी को पकड़ा त्यों ही वाणी उसमें से निकल कर भाग खड़ी हुई।

वाणी को अब ऐसे स्थान की तलाश थी, जो उसके लिए सर्वथा सुरक्षित हो, याज्ञवल्क्य ने अपने शास्त्र में उस सुरक्षित स्थान की चर्चा करते हुए लिखा है –

''सा यज्ञमेव यज्ञपात्राणि प्रविवेश।'' १–१–४–१७

अब वह वाणी यज्ञरूप यज्ञपात्रों में प्रविष्ट हो गई। उनमें से वे राक्षस, वे असुर तथा उनके पुरोहित किलात एवं आकुली भी उसे नहीं निकाल सके। उसी का वर्णन करते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा –

''ततो ह एनां न शेकतुर्निर्हन्तुं सा एषा असुरघ्नी
सपत्नघ्नी वाग् उद्वदति स यस्य ह एवं विदुष एताम्
अत्र वाचं प्रत्युद्वादयन्ति पापीयांसः ह एव अस्य सपत्ना भवन्ति'' ।।

१–१–४–१७

यज्ञरूप यज्ञपात्रों से किलात एवं आकुली वाणी को निकालने में समर्थ नहीं हुए क्योंकि वहाँ से भी असुरघ्नी तथा सपत्नघ्नी वाणी निकल रही थी। इस तत्त्व को

जानना विद्वान् यजमान के लिए अनिवार्य है क्योंकि पात्राहनन विधि के समय वाणी का प्रत्युद्वादन होता है। हवि को तैयार करते हुए सिल–बट्टे का खड़कना तथा हविष्कृदेहि की ध्वनि से ही असुरों और राक्षसों की दुर्गति होनी प्रारम्भ हो जाती है। जिस तरह से सिल–बट्टे पर मसल–मसल कर सोम निकाला जाता है, उसी तरह जीवन की बुराइयों को भी मसल–मसल कर समाप्त कर सौम्यता को ग्रहण करना चाहिए तभी सभ्य यजमान कहलाने का अधिकार प्राप्त होगा।

इस कथा के तात्पर्य को समझते हुए स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज ने सुन्दर विवेचन किया है। उसी के माध्यम से हम किलात एवं आकुलि पुरोहितों को भी समझने में सक्षम होंगे। वह विवेचन इस तरह से है –

वाणी के तीन क्रम हैं – गद्य, पद्य और नाटक। पहले लोग ज्ञान को गद्यरूप में पढ़ते हैं। फिर जब उसमें किलात अर्थात् विक्षेप (किर् विक्षेपे) और आकुलि अर्थात् गड़बड़ ये दो असुरों के पुरोहित आ जाते हैं, तो ज्ञान का स्मरण करना कठिन हो जाता है। तब लोग मनु की जाया मानवी अर्थात् कविता का सहारा लेते हैं। जिससे ज्ञान रोचक हो जाये और सुगमता से याद किया जा सके, जिससे चित्त का विक्षेप भी न हो और स्मरण में सुगमता से गड़बड़ भी न हो। जिस प्रकार पत्नी पति को प्रिय होती है इसी प्रकार छन्दोबद्ध रचना मन को प्यारी होती है। इसीलिए काव्य को ''कान्त सम्मित'' शब्द से भी कहा गया है। जब इसमें भी गड़बड़ होने लगती है तो फिर वाणी यज्ञपात्रों में प्रवेश करती है। अर्थात् नाटक का सहारा लेती है। जब शिक्षा वाणी द्वारा न देकर पात्रों द्वारा प्रत्यक्ष करके देते हैं, तब वह विक्षेप और गड़बड़ आकुली और किलात के काबू नहीं आती।

हमें भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हमें कभी भी यज्ञ में न तो किसी तरह विक्षेप करना चाहिए, न ही किसी तरह की गड़बड़ करनी चाहिए। अन्यथा असुरों के ब्रह्मा पुरोहित किलात और आकुली हमारे यज्ञ की वाणी का अपहरण कर लेंगे।

यज्ञपात्रों में सिल–बट्टे को भी याज्ञवल्क्य यज्ञ–पात्र मानते हुए इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए लिखते हैं।

स समाहन्ति।। १–१–४–१८

अब वह आघात अर्थात् चोट करता है। चोट करते हुए मन्त्र का पाठ करना है –

''कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व:'' इति मधुजिह्वो वै स देवेभ्य आसीद्''
विषजिह्वोऽसुरेभ्यः स यो देवेभ्य आसीतः स न एधि इति एव
एतदाह ''इषम् ऊर्जम् आ वद त्वया वयं सङ्घातं
सङ्घातं जेष्म'' इति।। १–१–४–१८

''कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व'' मन्त्र का उच्चारण करता हुआ सिल–बट्टे पर आघात करते हुए कहता है – तू कुक्कुटोऽसि अर्थात् अदानभाव की भावना जो मेरे अन्दर उत्पन्न हुई है उसका नाशक तू है तथा तू ही मधुर जिह्वा वाला है। दो तरह की जिह्वाओं का विधान किया है – एक है मधुजिह्वः और दूसरी है विषजिह्वः। उनमें से मधुजिह्वः देवताओं के लिए है और विषजिह्वः असुरों के लिए है। हमें तो मधुजिह्व ही चाहिए क्योंकि वह देवों के लिए ही है – इसीलिए हम मन्त्र भी पढ़ते हैं –

''इषम् ऊर्जम् आवद त्वया वयं सङ्घातं सङ्घातम् जेष्म''। इति

अर्थात् तू हमें अन्न और ऊर्जा अर्थात् बल युक्त ज्ञान का उपदेश दे, जिससे कि हमारा घर धन–धान्य से परिपूर्ण हो। हमारा परिवार बलशाली ऊर्जावान् बने और तेरे द्वारा ही हम हर संग्राम में विजय प्राप्त करने वाले बनें। हमारे जीवन में किसी भी तरह के असुर और राक्षस निवास न पा सकें।

विधि से किया गया यज्ञ कामधेनु के रूप में सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाला होता है। अतः विधिपूर्वक ही हमें यज्ञ करना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब हम मनु के इस ऋषभ को समझने का व जानने का प्रयत्न करेंगे।

* * *

शूर्प (छाज)

यज्ञ के पात्रों में अब महत्त्वपूर्ण पात्र शूर्प अर्थात् छाज के महत्त्व पर विचार करते हैं कि यह क्यों महत्त्वपूर्ण हैं ? इस जिज्ञासा पर कहा जा सकता है कि धान्य को जब मूसल से ऊखल में कूटा जाता है तब उसके अनुपयोगी छिलकों को धान से अलग किया जाता है तब जा कर चावल हवि के रूप में ग्रहण करने योग्य होता है। उसी तरह जीवन के मल को उड़ाने के लिए शूर्प शिक्षा देता है कि तुम भी अपनी गंदगी को उड़ाकर अपने जीवन को शुद्ध करो। अतः हम कह सकते हैं कि यह शूर्प हवि की शुद्धता के लिए अनिवार्य है।

कूटे हुए धान्य में कुछ चावल टूट भी जाते हैं। उन टूटे हुए चावलों को अलग करने के लिए भी छाज का प्रयोग किया जाता है। जैसे टूटे हुए चावल उस छाज से अलग किये जाते हैं उसी तरह जीवन की त्रुटियों को दूर कर शुद्धता के साथ यज्ञ करना श्रेयस्कर होता है। अतः याज्ञवल्क्य शूर्प का वर्णन यज्ञ के लिए करता है और अपने ग्रन्थ में शूर्प निर्माण विधि के सन्दर्भ में उसकी विविधता को बताते हुए लिखते हैं –

''अथ शूर्पमादत्ते''। १–१–४–१९

ऊखल व मूसल से हवि कूटे जाने पर ऋत्विक् छाज को लेता है। वह छाज तीन तरह के होते हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य इसका उल्लेख करते हुए मन्त्र का विधान भी करते हैं –

वर्षवृद्धमसीति। वर्षवृद्धं हि एतद् यदि नडानां यदि वेणूनां
यदि इषीकाणां वर्षम् उ हि एव एता वर्धयति।। १–१–४–१९

यजु का मन्त्र पढ़ते हुए कहता है हे छाज! तू ''वर्षवृद्धमसि'' वर्षा से बढ़ा हुआ है। प्रायः करके देखा गया है कि छाज नडों से ही तैयार होते हैं और नड जल के किनारे वर्षा ऋतु में बढ़ते हैं। इसी लिए वेद में इसे ''वर्षवृद्धम्'' कहा है। कहीं पर छाज बाँस

के भी होते हैं। तथा कहीं छाज सीकों से भी बनाया जाता है। तीनों रूपों में बना छाज वर्षवृद्ध है क्योंकि वर्षा ही इन सबको बढ़ाती है।

अब आगे हवि तैयार करने के लिए पदार्थ को छाज पर रखने का आदेश किया जाता है –

''अथ हविर्निर्वपति।।'' १–१–४–२०

मूसल व ऊखल में कूटे गये पदार्थ को छाज पर डालता है और पदार्थ को रखते हुए वह प्रार्थना भी करता है –

''प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्तु'' इति वर्षवृद्धा उ हि एव एते यदि
व्रीहयो यदि यवा वर्षम् उ हि एव एतान् वर्धयति
तत्संज्ञामेवैतत् शूर्पाय च वदति नेत् अन्योऽन्यं हिनसात इति।।
१–१–४–२०

यजु मन्त्र बोलता हुआ प्रार्थना करता है कि – चाहे वे व्रीहि हो, चाहे यव हो ये सभी पदार्थ वर्षवृद्ध हैं। ये सभी वर्षा में बढ़ने वाले हैं। इन्हीं से ही पुरोडाश तैयार किया जाता है, भावना रहती है कि जैसे पुरोडाश के ये पदार्थ वर्षवृद्ध हैं, उसी तरह यजमान भी वृद्धि को प्राप्त करे। व्रीहि व यव को परस्पर इसलिए भी लिया जाता है कि समान गुण धर्म होने के कारण इनमें अनुराग बना रहता है। व्रीहि–यव मिला कर जैसे पुरोडाश यज्ञ वर्धक है इसी तरह हमें भी परस्पर मिलकर समाज की उन्नति के लिए अग्रसर रहना चाहिए।

आगे छाज द्वारा पिछोड़ने का विधान करते हुए कहा गया है –

''अथ निष्पुनाति।।'' १–१–४–२१

अब कूटे हुए पदार्थ को छाज पर रख कर शुद्धता के लिए वह छाज से उसे पिछोड़ता है। क्यों पिछोड़ना चाहिए? इस का प्रयोजन बताते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं – कि छाज से पिछोड़ते हुए प्रार्थना करनी चाहिए –

''परापूतं रक्षः परापूता अरातय'' इत्यथ तुषान् प्रहन्ति
''अपहतं रक्ष'' इति तत् नाष्ट्रा एव एतद् रक्षांसि
अतः अपहन्ति।। १–१–४–२१

छाज से पिछोड़ता हुआ यजमान मन्त्र के माध्यम से महत्त्वपूर्ण प्रार्थना करता है – हे छाज! इनमें विद्यमान अनुपयोगी पदार्थों को उड़ा दो तथा मेरे अन्दर विद्यमान राक्षस प्रवृत्ति को भी समाप्त कर दो। मेरे अन्दर विद्यमान अदानशीलता के भावरूप शत्रुओं को भी उड़ा दो। यह प्रार्थना करता हुआ 'व्रीहि' और 'यवों' के छिलकों को दूर फेंकते हुए भी यही प्रार्थना करो कि इसी तरह मेरे अन्दर विद्यमान नाशकारी राक्षसों को मार कर दूर भगा दो।

व्रीहि व यव को पिछोड़ने के बाद वह उन्हें चुनता है अर्थात् पृथक्–पृथक् करता है अर्थात् जिनका छिलका उतर चुका है उनको अलग करता है। अलग करते हुए भी मन्त्र पढ़ा जाता है –

''अथ अपविनक्ति'' इति।। १–१–४–२२

मन्त्र पाठ करता हुआ प्रार्थना करता है – हे धानो और चावलो ! यह निरन्तर गतिशील वायु तुम्हें पृथक्–पृथक् करे। यहाँ यह बात समझ लेनी चाहिए कि जैसे चावलों पर तुषों का आवरण होता है, उस आवरण को कूट–कूट अलग किया जाता है उसी तरह हमारे ऊपर भी अज्ञानता का आवरण होता है। उसे भी ''जानता संगमेमहि'' के अनुसार निरन्तर विद्वानों की संगति में रहकर उस अज्ञानता के अन्धकार को दूर कर लेना चाहिए। जैसे छाज चावलादि के दोषों को वायु के सहयोग से दूर करता है वैसे विद्वान् भी हमारे गुण दोषों की विवेचना कर हमें गुणवान् ज्ञानवान् बनाता है।

तदनन्तर जब हवि सर्वथा शुद्ध हो जाती है और यह निश्चय हो जाय कि यह हवि यज्ञोपयोगी है तब उसे प्रार्थना करनी चाहिए –

''देवो वः सविता हरिण्यपाणिः प्रति गृभ्णातु अच्छिद्रेण
पाणिना'' सुप्रतिगृहीता असन् इति।। १–१–४–२३

शतपथ ब्राह्मण की यह महत्त्वपूर्ण कण्डिका है। इसमें बताया गया है कि जो हवि यजमान ने पुरोडाश के रूप में तैयार की है उस पुरोडाश को हमें किसके लिए चढ़ाना है और कैसे हाथों से उसे समर्पित करना है। मन्त्र की प्रार्थना है कि – इस पुरोडाश

हवि को जो हमारा देवता है, सकल जगत् का उत्पादक है, वह प्रभु तुम्हें सुवर्ण सदृश हाथों से तथा छिद्ररहित हाथों से अच्छी प्रकार प्रीतिपूर्वक ग्रहण करें।

यहाँ शिक्षा लेनी चाहिए कि यज्ञ के लिए हवि को ग्रहण करते हुए प्रत्येक यजमान की ऐसी ही प्रार्थना होनी चाहिए। जब उसे यज्ञ में समर्पित करना हो तो हाथों को पवित्र रखें। समर्पित करते हुए छिद्र को हाथों की अंगुलियों में न आने दें। अपवित्र व छिद्रसहित हाथ का होना अनुचित है। इसी तरह की व्यवस्था में ही यज्ञ की सफलता है। याज्ञवल्क्य की अगली विवेचना इससे भी महत्त्वपूर्ण है। यहाँ याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''अथ त्रिः फलीकरोति त्रिवृद्धि यज्ञः'' ।। १–१–४–२३

उपरोक्त प्रार्थना करता हुआ उस हविष्य पदार्थ को अच्छी हवि बनाने के लिए उसे ''त्रिः फलीकरोति'' अर्थात् उसे कूटना, बिछोड़ना तथा विवेचन अर्थात् चुनना रूप कर्म करता है। ये ही तीन कर्म हवि के शोधक हुआ करते हैं। इसीलिए याज्ञवल्क्य ने ''त्रिवृत् हि यज्ञः'' अर्थात् तीन वर्त्तनिकाओं वाला ही यज्ञ माना गया है। वैसे भी यज्ञ के तीन अर्थ है – १. देव पूजा, २. दान और ३. संगतिकरण। इसीलिए यज्ञकुण्ड में तीन मेखलाओं का विधान किया गया है।

इसके पिछोड़ने की व्यवस्था करते हुए याज्ञवल्क्य विधान करते हैं कि पिछोड़ते समय किसी भी देवता का नाम न लें। क्योंकि ऐसा करना –

''देवेभ्यः शुन्धध्वमिति तत्समदं करोति तस्मादु तूष्णीमेव फलीकुर्याद्''
१–१–४–२४

यह पुरोडाश हवि देव विशेष की न होकर देव सामान्य की होनी चाहिए। सङ्कल्प–अग्नि के साथ इसे जोड़ना चाहिए। यदि देव विशेष के लिए हवि निर्माण होगा तो गड़बड़ भी पैदा हो सकती है। अतः सङ्कल्प के साथ चुप–चाप पिछोड़ते हुए शुद्ध करना चाहिए। इसीलिए याज्ञवल्क्य कहते हैं – ''शूर्पमादत्ते'' इति।।

* * *

१९-एकोनविंशतितमपाथेयम्

पुरोडाश

यज्ञ का यह एक महत्त्वपूर्ण पदार्थ है। यज्ञ में हवि देने के लिए जिस पदार्थ को सबसे आगे रखा जाता है वह पदार्थ ''पुरोडाश'' कहलाता है। याज्ञवल्क्य सर्वप्रथम उसके बनाने की विधि का विवेचन करता है, वही विवेचन मनुष्य जीवन का भी आधार है। मानव शरीर का मुख्य अङ्ग मस्तिष्क है। यदि उसका निर्माण समुचित किया जाता है तो मनुष्य अपने जीवन को सुरक्षित रखने में सक्षम होता है अन्यथा वह विनाश के कगार पर अपना जीवन व्यतीत करता है। तो आइये अब पुरोडाश के निर्माण की विधि को याज्ञवल्क्य के मतानुसार समझने का प्रयत्न करते हैं। याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

शिरो ह वा एतद्यज्ञस्य यत्पुरोडाशः ! स यानि एवम् इमानि
शीर्ष्णः कपालानि एतानि एव अस्य कपालानि मस्तिष्क एव
पिष्टानि तद्वा एतद् एकम् अङ्गम् एकं सह करवाव समानं करवाव
इति तस्माद्वा एतदुभयं सह क्रियते।। १–२–१–२

अर्थात् यह पुरोडाश ही यज्ञ का सिर है। ये कपाल भी वही हैं जो हमारे सिर के कपाल हैं तथा इसके मध्य में जो आटे की या अन्य समुचित पदार्थ की पिट्ठी पीस कर डाली जाती है निश्चय से वही मस्तिष्क है। कपाल और मस्तिष्क ये दोनों मिलकर एक ही अंग हैं। इसीलिए हम इन्हें इकट्ठा एक समान तैयार करते हैं ये दोनों क्रियाएँ इकट्ठी की जाती हैं। उन्हें क्यों इकट्ठा करना चाहिए, इस बात को समझने के लिए स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज के विवेचन को जानना आवश्यक है जो इस तरह है –

''तात्पर्य यह है कि विद्यार्थियों की शिक्षा के दो अंग हैं – एक आचार और दूसरा विचार। उत्तम आचार के बिना विचार ऐसे हैं जैसे बिना कपाल का मस्तिष्क। उन दोनों

में से एक की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जो सदाचार से सुदृढ़ नहीं उसके विचार अपनी रक्षा नहीं कर सकते, जिसमें विचार नहीं केवल सदाचार है वह खाली खोपड़ी के समान है। हम भी यज्ञ को खाली खोपड़ी से नहीं करना चाहते, विचार के साथ सुदृढ़ आचार से करना चाहते हैं। अतः कपाल और सिल–बट्टे को पृथक्–पृथक् रखते हुए भी पिट्ठी बनाने के लिए इन दोनों को एक साथ करते हैं। तभी जाकर उत्तम पुरोडाश का निर्माण करने में हम समर्थ हो सकेंगे।

अब कपाल को रखता है। उसी समय उपवेष ''हाथ में लेता है।'' उपवेष वह काष्ठ दण्ड है जिससे कपाल को पकाने के लिए अंगारों को इधर–उधर किया जाता है। उस उपवेष को हाथ में ग्रहण करते हुए यजुः मन्त्र पढ़ता है – धृष्टिरसीति अर्थात् हे उपवेष ! तू बड़ा ढीठ है क्योंकि तू सर्वत्र निःशंक होकर अग्नि में प्रवेश करता है, उसे इधर–उधर करता है। अंगारों के बिखराव में जो विस्तार होता है वही यज्ञ के विस्तार का प्रतीक है।

अगली कण्डिका महत्त्वपूर्ण है। इसमें याज्ञवल्क्य हमें समझाते हैं कि किस अग्नि के अंगारों पर हमें यह कपाल तैयार करना चाहिए। तभी पुरोडाश को हवि के रूप में चढ़ाने का औचित्य बनता है, तभी यज्ञ करने का लाभ हमें होता है। तभी वह हमारे लिए स्विष्टकृत् हो सकता है, याज्ञवल्क्य का आदेश है –

''तेन प्राचः अङ्गारान् उदूहति।।'' १–२–१–४

वह उस काष्ठ निर्मित उपवेष से पूर्व दिशा के अङ्गारों को हटाता हुआ मन्त्र पाठ करता है –

''अपाग्ने अग्निमामादं जहि निष्क्रव्यादं सेध'' ।। इति १–२–१–४

अर्थात् हे अग्नि देव! तू आमात्–संज्ञक अग्नि को मार भगा, तथा क्रव्यात् अग्नि को निश्चय से ही मार भगा। यह प्रार्थना यजुः मन्त्र के द्वारा करता है।

यहाँ पर ''आमात्'' और ''क्रव्यात्'' अग्नि को समझना होगा **''आमात्–अग्नि''** वह अग्नि है जिस पर भोजन पका कर सब मनुष्य खाते हैं और जिससे मरने के पश्चात् श्मशान घाट में मनुष्य को जलाते हैं वह अग्नि **''क्रव्यात्–अग्नि''** होती है।

इससे ज्ञात ही है कि कपाल को सेकने और पकाने के लिए दोनों ही अग्नियाँ वर्जित हैं, अतः उन अंगारों को पूर्व दिशा में धकेलता है। पूर्व दिशा की ओर हटाता है।

इस कपाल की दोनों अग्नियों से पृथक् व्यवस्था करनी नहीं चाहिए। अतः याज्ञवल्क्य कहते हैं –

अब अंगारों को पृथक् कर लेना चाहिए, जिससे आमात्–अग्नि व क्रव्यात्–अग्नि उसे अपवित्र न कर सके। फिर वह यजुः के मन्त्र का पाठ करता है –

''आ देवयजं वह'' इति।

मन्त्र का पाठ करता हुआ वह प्रार्थना करता है कि – ''अच्छी तरह से देवों का जिससे यजन किया जाता है उस अग्नि का तू वहन कर'' इस प्रार्थना को करते हुए देवयजन अग्नि में ही हवियों को पकावे। इसी तरह से सर्वत्र यज्ञ का विस्तार करें। इसीलिए अङ्गमास्करोति अंङ्गारों को रखता है। हमें भी हवि यजन से पूर्व अग्नि का चयन कर लेना चाहिए। तभी यज्ञ का विस्तार सम्भव होगा।

अंङ्गार पर रखने की व्यवस्था का उल्लेख करते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''तं मध्यमेन कपालेन अभ्युपदधाति।।'' १–२–१–६

अर्थात् – उस अङ्गार को मध्यम कपाल से ढक देता है अर्थात् कपाल का मध्य भाग अङ्गार पर रखता है, इसका महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है – देव लोग यज्ञ करने के लिए प्रवृत्त हुए। वे असुर तथा राक्षसों के चिपटने से भयभीत होने लगे कि ये असुर–राक्षस कहीं नीचे से निकलकर हमें दबा न दें। इसीलिए कपाल के नीचे अग्नि को दिया जाता है क्योंकि अग्नि ही राक्षसों को मारने वाला है। अग्नि भी पवित्र है और यजुः के मन्त्र पाठ से यह कपाल भी मध्यम है। इसीलिए उस अङ्गार को कपाल के मध्य भाग से ढका जाता है।

अब कपाल को अच्छी तरह पकाना है। इसलिए उस पर अङ्गार को रखता है। अङ्गार रखते हुए प्रार्थना की जाती है –

''ध्रुवमसि पृथिवीं दृंह'' इति।। १–२–१–७

इस यजुः मन्त्र से प्रार्थना की जाती है कि हे कपाल! तू ध्रुव है, स्थिर है, तू इस पृथिवी को बढ़ाने वाला बन।

यही कपाल हमारे जीवन का भी प्रतीक है कि हम भी सुदृढ़ बनें तथा पृथिवी की तरह विशाल–मन वाले हों। हमारी भावनाएँ व विचार संकुचित न हों। यजमान सदा 'द्यौरिव भूम्ना' 'पृथिवीव वरिम्णा' होना चाहिए अर्थात् मैं श्रेष्ठता में द्यौ की तरह और विशालता में पृथिवी की तरह बनूँ। यहाँ ध्रुवत्व व विशालत्व की यही भावना है।

याज्ञवल्क्य आगे और भी इस के प्रयोजन को दर्शाते हुए लिखते हैं –

एतेनैव द्विषन्तं भ्रातृव्यम् अवबाधते।। १–२–१–७

अर्थात् इसके द्वारा ही द्वेष करने वाले शत्रु को दबाता है। कपाल का हविष्य सप्रयोजक होता है। प्रयोजन से रहित किसी भी हवि का विधान नहीं, अतः आगे निर्देश है –

''ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधायेति।।''

१–२–१–७

अर्थात् यह कपाल जिसे हव्य के रूप में चढ़ाना है वह ब्राह्मण मात्र के लिए कल्याण करने वाला हो, क्षत्रिय वर्ग के लिए भला करने वाला हो तथा वैश्य वर्ग की भलाई करने वाला हो। इस तरह के भावों से युक्त होकर तुम्हें धारण करता हूँ। तथा शत्रु के वध के लिए भी धारण किया जाता है। यजुः के वाक्यों में बड़ी–बड़ी शुभाशीषें हैं। इसीलिए कपालान्तर्गत यह पुरोडाश ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य को सुख देने वाला तथा दुःख को दूर करने वाला हो। समाज में विविध वर्ग के लोग रहते हैं। यदि वे ब्राह्मण व क्षत्रिय न हो सकें तो मनुष्य मात्र का साधारण रूप से भला चाहने वाले वैश्यों की श्रेणी में तो अवश्य आ जावें। यह कपाल मनुष्य मात्र का भला चाहने वाला हो और दुष्टों का वध करे। इस तरह से प्रजा मात्र के कल्याण की कामना द्वारा बाहुल्य माँगता है। ''सजाताः'' बाहुल्य का द्योतक है क्योंकि सजाताः में सभी आ गये अतः बहुतायत की प्रार्थना भी हो गई। इसलिए कपाल को रखता है।

अब याज्ञवल्क्य बहुतायत हित से प्रभावित हो कर व्यवस्था देते हैं –

'भ्रातृव्यस्य वधाय' इति यदि नाभिचरेद् यदि उ
अभिचरेद् अमुष्य वधाय इति ब्रूयाद्।। १–२–१–७

अर्थात् कपाल को लेकर जब बहुतायत के कल्याण की कामना होती है, तब केवल मात्र 'भ्रातृव्यस्य वधाय' अर्थात् शत्रु के विनाश के लिए तुझे रखता हूँ, यही प्रार्थना वह करता है। परन्तु जब किसी व्यक्ति विशेष के वध के लिए उस कपाल को रखना है तो षष्ठ्यन्त पद का प्रयोग करते हुए नाम लेकर कहे – ''अमुष्य वधाय'' इति अमुक के वध के लिए तुझ कपाल को रखते हैं।

चारों तरफ से कपालों को जोड़कर उसमें पिट्ठी भर जाती है तभी जाकर वह पुरोडाश तैयार होता है। उन कपालों से निर्मित पुरोडाश कल्पित कपाल का व्यापक उद्देश्य होता है। वह पुरोडाश ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्त्व और वैश्यत्व तीनों वर्णों के कल्याण हेतु रखा जाता है। उसके द्वारा प्रजामात्र का कल्याण चाहना हमारा मुख्य उद्देश्य होता है तथा साथ ही हम अपने शत्रुओं का भी विनाश चाहते हैं। अतः हमारी प्रार्थना होती है – भ्रातृव्यस्य वधाय इति।

अन्त में चौथा कपाल जोड़ते हुए हमारी प्रार्थना होती है –
''विश्वाभ्यस्त्वा आशाभ्य उपदधामि'' इति।। १–२–१–१२

अर्थात् इस कपाल को सारी दिशाओं के कल्याण के लिए रखता हूँ।

अतः पुरोडाश कल्पित कपाल का उद्देश्य विश्व कल्याण के लिए है। इसीलिए याज्ञवल्क्य ने इस पुरोडाश को ''शिरावह वा एतद् यज्ञस्य'' माना है।

* * *

कपाल की पिष्टी (पिट्ठी)

मनुष्य की खोपड़ी में जो महत्त्व मगज़ का है, वही महत्त्व कपाल में भरी पिट्ठी का भी है। बिना मगज़ वाले मस्तिष्क को लोग निरी खोपड़ी कहकर पुकारते हैं। उसका महत्त्व तभी है जब उसमें मगज भरा हो। इसीलिए कहावत भी है कि ''तू मेरा मगज़ न खा अर्थात् दिमाग मत खा''। कपाल के महत्त्व को बढ़ाने के लिए उसमें पिट्ठी को भरा जाता है, उस पिट्ठी का निर्माण कैसे होता है इस पर प्रकाश डालते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''अथ हविरधिवपति।।'' १–२–१–१८

कपाल में पिट्ठी भरने के लिए व्रीहियों को सिल–बट्टे पर रखा जाता है क्योंकि उसको पीसने का साधन उस समय सिल–बट्टा ही होता था। व्रीहियों को सिल–बट्टे पर रखते हुए यजुः का यह मन्त्र बोला जाता है –

''धान्यमसि धिनुहि देवान्'' इति धान्यं हि देवान्
धिनवद् इति उ हि हविर्गृह्यते।।

अर्थात् यह धान्य जो सिल–बट्टे पर पीसने के लिए रखा गया है, उससे देवता तृप्त हों, उससे देवों का तर्पण करना चाहिए। इसीलिए हवि का ग्रहण किया जाता है। इसी तरह की प्रार्थना हमें करनी चाहिए। चावल एक परिपक्व अन्न है अतः हमें भी परिपक्वता युक्त होकर बुद्धि की परिपक्वता की प्रार्थना धान को सिल–बट्टे पर रखते हुए करनी चाहिए।

धान्य को सिल–बट्टे पर रखने के पश्चात्

''अथ पिनष्टि''।। १–२–१–१९

अब उस धान्य को पीसता है। पीसते हुए मन्त्र को बोलता है –

''प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा दीर्घाम्
अनुप्रसितिमायुषे धाम्'' इति प्रोहति।।

अर्थात् धान को पीसता हुआ प्रार्थना करता है – हे धान ! तुम प्राण के लिए हो, तुम उदान के लिए हो और तुम ही व्यान के लिए हो क्योंकि मैं तुझे बड़े बन्धन की साधन भूत मान कर धारण करता हूँ। प्राण, उदान व व्यान के बन्धन का उत्तम साधन यही पिट्ठी है। तथा इस पिट्ठी को अन्यत्र कहीं नहीं रखा जाता, उसे कृष्णाजिन पर रखते हुए फिर मन्त्र पाठ करता है–

'देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वछिद्रेण
पाणिना। चक्षुषे त्वा'' इति।। १–२–१–१९

कृष्णाजिन पर पिट्ठी रखता हुआ प्रार्थना करता है – हे पिट्ठी ! तुम्हें देवस्वरूप सकल जगदुत्पादक परमपिता परमात्मा छिद्र रहित ज्योतिर्मय हाथों से ग्रहण करें। पिट्ठी को वह ईश्वर के अर्पित करता है। अर्पित करने का मुख्य प्रयोजन है कि जीवन भर हम नेत्र वाले बने रहें। चक्षु हमारा सदैव बना रहे। हवि का मूल उद्देश्य भी यही रहता है। आगे याज्ञवल्क्य कहते हैं जिस पिट्ठी को हमने मूसल और ऊखल से तथा सिल–बट्टे से पीसा है वही देवों का जीवन है तथा वह अमृत का भी अमृत है। इस पिष्टी सहित कपाल की हवि से देवता भी अपने आप को सजीव व अमरत्व से युक्त समझते हैं, अतः श्रद्धापूर्वक इस पिष्टी को तैयार करना चाहिए।

यह पिट्ठी प्राण, उदान और व्यान के लिए धारण करता है, क्योंकि कपाल में भी इससे भरने पर सुदृढ़ता आती है। हमारे जीवन में प्राण, उदान और व्यान की सुदृढ़ता से जीवन दीर्घजीवी होता है। दीर्घजीवन हमारा हो अतः देव सविता छिद्र रहित ज्योतिर्मय हाथों वाला प्रीतिपूर्वक इसे ग्रहण करें। यही देवताओं का जीवन है, अमृतों का भी अमृत है – इन प्रार्थनाओं से इस पिष्टी को पीसता है। पीस कर उस पिट्ठी से कपाल को चमका दिया जाता है। ऐसी ही चमक हमारे मस्तिष्क व जीवन में आनी चाहिए। यही कपाल की पिष्टी का महत्त्व है।

* * *

पुरोडाशनिर्माण – विधि व प्रयोजन

पुरोडाश के लिए सिल–बट्टे के सहयोग से जिस धान्य को पीस पर पिट्ठी के रूप में बना दिया है उसे पवित्र पात्रों में रखा जाता है, रखते हुए भी यजुः मन्त्र पढ़ा जाता है जो इस तरह से है –

''देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो
हस्ताभ्यां संवपामि'' इति।। १–२–२–१

इस तरह की प्रार्थना यजुः मन्त्र द्वारा करें कि ''देव सविता के नाम पर ही, उसकी आदान व प्रदान वाली शक्तिरूप बाहुओं से तथा पुष्टि कारक हाथों से तुझे ग्रहण करता हूँ''। अर्थात् तुझे ग्रहण करने का सामर्थ्य मुझ में नहीं था, परन्तु तेरी ही दया व कृपा से इन भुजाओं व पुष्ट हाथों से मैंने तुझे ग्रहण किया है।

अब अध्वर्यु इस तरह की प्रार्थना करते हुए वेदि के अन्दर जा कर बैठता है। एक व्यक्ति उपसर्जनी लेकर आता है। उपसर्जनी उस जल का नाम है जिससे पुरोडाश का आटा गूँथा जाता है फिर उस जल को आटे में मिलाते हुए प्रार्थना करता है –

''समाप ओषधीभिः'', ''समोषधयो रसेन''
''संरेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्तां'' ''सम्मधुमतीर्मधु–
मतीभिः पृच्यन्ताम्'' इति।। १–२–२–२

जल को उस पिष्टि में मिलाते हुए प्रार्थना करता है कि – यह जल ओषधियों से जा मिले, और ओषधियाँ समस्त रसों से मिल जावें, खेती जगती से मिले। यहाँ खेती नाम जल का है और जगती नाम ओषधि का है। ये दोनों भी यहाँ मिल जायें। एकार्थ अन्य भी हो सकता है कि समाज को सुदृढ़ बनाने के लिए दो पदार्थों की अत्यन्त आवश्यकता होती है, उनमें एक धन है और दूसरा ज्ञान। अतः यहाँ रेवती – धन, जगती – विद्या–ज्ञान से मिल जाये। इन सभी के मिलाप से ही जगत् में माधुर्य आयेगा।

यह माधुर्य सबमें मधुरता से प्राप्त हो, हमारा परिवार व समाज ऐसा बने। इन्हीं प्रार्थनाओं के साथ पुरोडाश के आटे को गूँथना चाहिए।

पुरोडाश को अग्नि पर रख कर पकाया जाता है। अतः उस आटे को और भी मिला–मिला कर गूँथा जाता है। उस समय भी महत्त्वपूर्ण प्रार्थनाएँ करने का याज्ञवल्क्य निर्देश करता है तथा उन्हीं प्रार्थनाओं में पुरोडाश का प्रयोजन भी निहित है, जो इस तरह से है –

१. जनयत्यै त्वा संयौमि – मैं तुझे पारिवारिक व सामाजिक सुखादि की उत्पत्ति के लिए गूँथता हूँ।

२. श्रिये त्वा संयौमि – तेरा यह गूँथना इसलिए भी उपयोगी है कि मैं इस संसार में धन–धान्य से युक्त होकर श्रीमान् होकर जीना चाहता हूँ।

३. अन्नाद्याय वा संयौमि – मेरा घर धन–धान्य से परिपूर्ण हो। घर में किसी भी तरह के सुख सम्पदाओं की न्यूनता न रहे इसीलिए तुझे गूँथा जाता है।

४. इमाः प्रजा यजमानाय यच्छेदेवं त्वा संयौमि – यजमान निःसन्तान न रहे, उसके घर में उत्तम से उत्तम सन्तान होवे, यजमान प्रजावान् हो इसीलिए गूंथा जा रहा है। इसी प्रयोजनवश वह आटे को गूँथता है तथा यजमान की इच्छा है कि –

''अग्नेरधि जायेत'' ।। १–२–२–३

हे पुरोडाश तू अग्नि से ही उत्पन्न हो। यह पुरोडाश जब अग्नि की भट्टी पर चढ़ाया जायेगा तभी परिपक्व होकर देवों का पुरोडाश होगा अर्थात् देवों के लिए सबसे पहले खाने योग्य भोज्य–पदार्थ होगा।

पुरोडाश को पकाने के लिए घी को आग पर चढ़ाया जाता है, उस समय भी प्रार्थना की जाती है –

''इषे त्वा, ऊर्जे त्वा'' इति।।

अभिलषित पदार्थों की प्राप्ति के लिए तथा बल पराक्रम के लिए उसे उठाया जाता है। तदनन्तर उसे आग पर चढ़ाते हुए भी प्रार्थना करता है –

''घर्मोऽसीति'' ''विश्वायु'' रिति।। १–२–२–७

अर्थात् हे पुरोडाश। तू प्रदीप्त होने वाला ही यज्ञ है, जैसे आग पर घर्मनामक पात्र को तपाया जाता है, उसी प्रकार तुम्हें भी तपाया जाता है। जैसे तपकर पुरोडाश पूर्णता को प्राप्त होता है, वैसे ही यह पुरोडाश पूर्ण आयु का भी प्रतीक है।

पुनः जल से अभिमर्शन करता हुआ उस पुरोडाश के चारों तरफ पर्य्यग्निकरण अर्थात् अग्नि के अंगार को चारों तरफ फेरता है। वह इसलिए कि वह पूर्णतया परिपक्व हो जाए, उसमें कोई छिद्र न रहे, कहीं से भी राक्षस के प्रवेश होने का अवसर न रहे।

हमें भी अपने आपको तप की अग्नि से चारों तरफ तपाना है जिससे हमारे अन्दर भी किसी भी छिद्र से द्वेषादि कोई भी राक्षस प्रवेश न कर सके।

यज्ञ की एक क्रिया को साधारण से साधारण व्यक्ति भी कर सकता है। यह देवों का भोज्य पदार्थ है इसे देवता ही चढ़ा सकते हैं। ऐसी कल्पना नहीं करनी चाहिए इसे चढ़ाने या पकाने का मनुष्य मात्र को अधिकार है।

पुरोडाश अब खुला नहीं रखते हैं क्योंकि याज्ञवल्क्य विधान करते हैं –

यदा शृतः, अथ अभिवासयति नेद् एनमुपरिष्टात्
नाष्ट्रा रक्षांसि अवपश्यान् इति नेद् उ एव नग्न इव
मुषित इव शयाता इति उ च एव तस्माद्वा अभिवासयति।। १–२–२–१६

अर्थात् जैसे नंगा पड़ा व्यक्ति अपने आपको लुटा–सा पड़ा समझता है, उसी तरह से जब पुरोडाश पक जावे तो उसे अंगारयुक्त राख से ढक देना चाहिए, जिससे उस पर नाशकारी हिंसक असुरों व राक्षसों की नजर न पड़ जाये। अर्थात् उस पुरोडाश की सर्वथा पवित्रता रखनी चाहिए, पके हुए पुरोडाश को सदा ढक कर ही रखना चाहिए। तदनन्तर ही उसकी आहुति देनी शुभ मानी जाती है।

पुरोडाश को ढकते हुए भी प्रार्थना करनी चाहिए, वह प्रार्थना बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। यह प्रार्थना ग्लानिरहित जीवन को व्यतीत करने की है, हीनता के भाव को दूर करने के लिए की जाती है। पुरोडाश को ढकते हुए मन्त्र पढ़ता है –

''अतमेरुर्यज्ञ अतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयादिति।। १–२–२–१७

अर्थात् हे पुरोडाश! तुझे यज्ञ में विधिवत् चढ़ाने के लिए ढका जा रहा है। चढ़ाने से पूर्व तुझमें किसी भी तरह का दोष प्रवेश न कर सके। तेरी पवित्रता बनी रहे, हमारी इच्छा है कि यह यजमान ग्लानि से रहित हो। इसमें किसी भी तरह की तामसिक प्रवृत्ति न प्रवेश करे और उसकी प्रजा भी उसी तरह से ग्लानिरहित हो उसमें आत्म गौरव बना रहे, वे उच्चता के शिखर को प्राप्त करने वाली हो। उनके हाथ में निरन्तर यज्ञ का ध्वज विद्यमान रहे। उनके द्वारा किया जाने वाला यह यज्ञ भी ग्लानि रहित स्वान्तः सुखाय न होकर परतः सुखाय होना चाहिए। इसी तरह की प्रार्थनाएँ करते हुए यज्ञ के लिए परिपक्व पुरोडाश को ढकता है।

यहाँ हमें भी शिक्षा लेनी चाहिए कि हम भी पुरोडाश अथवा स्विष्टकृत् को सबसे पहले पका कर यज्ञवेदि पर रखें तथा बड़ी प्रसन्नता के साथ श्रद्धाभाव से हीनभावना से रहित, उदारमना होकर इस आहुति को चढ़ाने वाले बनें, जिससे कि हम भी आत्मगौरव से युक्त होकर ग्लानि रहित यज्ञ को करने में समर्थ हो सकें।

* * *

२२-द्वाविंशतितमपाथेयम्

पात्री धावन जल

जिस तरह यज्ञ की सफलता के लिए होता, उद्गाता, अध्वर्यु तथा ब्रह्मा उपयोगी हैं, उसी तरह यज्ञ अग्नि के चार रूपों का बखान याज्ञवल्क्य करते हैं। वे लिखते हैं –

''चतुर्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास'' ।। १–२–३–१

अर्थात् यज्ञ अग्नि का विधान पहले चार प्रकार से विहित था। यहाँ अग्नि से अभिप्राय चार तरह के अग्नियों से है। लोगों ने सर्वप्रथम अग्नि को होत्र के लिए वरण किया परन्तु वह अग्नि भी चला गया, बुझ गया। तत्पश्चात् दूसरे का वरण किया तो वह भी चला गया – बुझ गया। फिर तीसरे प्रकार के अग्नि का वरण हुआ तो वह भी बुझ गया। एक चौथा अग्नि जो वर्तमान में उपलब्ध है वह भी डर कर छुप गया। वह जल में जा छुपा। देव उसका पीछा करके जबरदस्ती जल में से उसे निकाल कर ले गए। उसने इस पर थूक दिया। थू तुम पर जो तुमने मुझे सहारा नहीं दिया। मैं एकान्त में बैठकर अपना काम करना चाहता था, परन्तु आज तुम्हारे ही कारण मुझे खींचकर ये ले जा रहे हैं, यहाँ से ही तीन आप्त्य देव उत्पन्न हुए हैं – त्रित, द्वित तथा एकता। इन्हें ही आप्त्य माना गया है। ये ही यहाँ समाज के प्रथम, मध्यम, उत्तम पुरुष के रूप में हैं।

ये तीनों सदैव राजा के साथ विचरते थे। नियम भी था कि विद्वान् सदा राजा के सान्निध्य में ही विचरते रहते थे। विचरते हुए इन्द्र ने तीन सिर वाले त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को मार डाला। अर्थात् यज्ञ में होने वाले हो–हुल्लड़ को शान्त करना चाहिए। समाज में विद्यमान आपाधापी की प्रवृत्ति को समाप्त करना विद्वानों का काम है। इस तरह की कुव्यवस्था का ज्ञान त्रित अर्थात् उत्तम श्रेणी के मुख्य विद्वान् को होना चाहिए। वह उसका कर्त्तव्य बनता है इसीलिए इन्द्र अपराध से बच जाता है और वह देव बना रहता है।

अपराधी की आवाज होती है कि यह पाप तो उन पर ही लगना चाहिए, जिन्हें इस अपराध का पता हो। प्रायः करके देखा गया है कि लोग सारा दोष यज्ञ को देते हैं। यज्ञ भी उस अपराध को स्वीकार नहीं करता। अतः वह पात्री और अंगुली के धावन के जल से इन पर पोंछ देता है। अर्थात् यज्ञ में की गई किसी भी अव्यवस्था का अपराध विद्वानों पर ही आता है। वह चाहे किसी भी श्रेणी का क्यों न हो।

विद्वान् तो विद्वान् ही होते हैं, उन्होंने उस अपराध को अपने सिर पर नहीं आने दिया, वह अपराध कहाँ जाएँ – इसकी भी बड़ी सुन्दर व्यवस्था याज्ञवल्क्य ने दी है –

> ''त उ ह आप्त्या ऊचुः। अति एव वयम् इदम् अस्मत् परः
> नयाम इति कम् अभि इति य एव अदक्षिणेन हविषा
> यजाता इति'' ।। १–२–३–४

अर्थात् आप्त्य बोले – हम भी अपना दोष दूसरों पर डाल देंगे। प्रश्न है किस पर ? बहुत ही उपयोगी, स्वीकार करने योग्य उत्तर दिया– ''जो कोई बिना दक्षिणा के यज्ञ करता हो।''

यहाँ याज्ञवल्क्य स्पष्ट आदेश करते हैं –

> ''आप्त्येषु ह यज्ञो मृष्टः आप्त्या उ ह तस्मिन् मृजते
> योऽदक्षिणेन हविषा यजते'' ।। १–२–३–४

अर्थात् जैसे ही आप्त्यों पर यज्ञ के इस पाप को पोंछा जाता है वैसे ही उस पाप को उस व्यक्ति पर पोंछ देते हैं जो बिना दक्षिणा के यज्ञ को करता है। तात्पर्य है कि यज्ञ अपना दोष आप्त्यों पर डालता है, परन्तु आप्त्य अपना दोष उन लोगों पर डाल देते हैं जो बिना दक्षिणा के यज्ञ करते हैं।

आगे याज्ञवल्क्य विधान करते हैं कि

> ''ततो देवाः। एतां दर्शपूर्णमासयोर्दक्षिणाम् अकल्पयन् यत् अन्वाहार्यं
> नेद् अदक्षिणं हविः असद्'' इति।। १–२–३–५

अर्थात् इसीलिए देवों ने यह दर्शेष्टि एवं पूर्णमासेष्टि की दक्षिणा को निश्चित किया। यह जो पीछे अन्वाहार्य नाम का भात पकाया जाता है जिस से हमारी हवि दक्षिणा हीन न हो।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि इसीलिए अमावस्या और पूर्णमासी के यज्ञ में प्रथम तीन–तीन आहुतियाँ मीठे भात की दी जाती हैं।

ये तीन भाग ही परस्पर झगड़ा दूर करने के साधन हैं। तदनन्तर ही पात्री धावन जल लेकर तपाता है, उसको छोड़ता हुआ बोलता है –

''त्रिताय त्वा द्विताय त्वा एकताय त्वा'' ।। १–२–३–५

अर्थात् यज्ञ का यह भागधेय सभी के लिए है – किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं। इसीलिए यज्ञाग्नि पर ही तपा कर जल को छिड़कता है।

* * *

पाँच अवयव वाला पशु

महर्षि याज्ञवल्क्य अपने सुप्रसिद्ध महाग्रन्थ में पुरोडाश के सन्दर्भ में लिखते हैं –

''पशुः ह एष आलभ्यते यत्पुरोडाशः'' ।। १–२–३–५

अर्थात् इस पुरोडाश में निश्चय से ही पशु का आलभन किया जाता है। वस्तुतः यह पशु का संस्कार किया जाता है, जो पुरोडाश पकाया जाता है। इसे समझने के लिए याज्ञवल्क्य ने एक कथा का सहारा लिया है, उस कथा का वर्णन करने से पूर्व इस ''आलभन'' शब्द के अर्थ को समझना है – आलभन शब्द का अर्थ है ''आसमन्तात् लभनम्'' चारों तरफ से घेर–घार कर ठीक स्थान पर पहुँचाना और उनसे शक्तिभर सदुपयोग लेना। यही पुरोडाश पाक है।

महर्षि याज्ञवल्क्य एक आख्यायिका के रूप में पुरोडाश की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि देव लोग पहले पहल या यों कहें कि सृष्टि के आदि में पुरुष को पशु ही मानकर उससे काम लेते थे। समय के साथ–साथ जब उसकी कार्य करने की क्षमता अर्थात् शक्ति समाप्त हो जाती है तो फिर शक्ति वहाँ से निकल कर अश्व में प्रवेश कर जाती है। फिर वे अश्व से ही काम लेते हैं। जब घोड़े की शक्ति भी क्षीण हो जाती है तो वह शक्ति वहाँ से निकल कर गाय में प्रवेश कर जाती है। फिर वे गाय से काम लेते हैं। जब उसकी भी शक्ति क्षीण हो जाती है तो वह भेड़ में प्रवेश करती है। फिर वे भेड़ से ही अपना काम लेते हैं। जब उसकी भी शक्ति क्षीण हो जाती है तो वह बकरी में प्रवेश कर जाती है। फिर वे अन्त में बकरी ही से ही अपना कार्य सम्पन्न कर लेते हैं।

बहुत सुन्दर यह कथा है। मनुष्य जब दूर–दूर तक जाने में वृद्धावस्था के कारण अशक्त होता है तो घोड़ों की आवश्यकता रहती है। जब वे भी अशक्त हुए तो गाय आ गई। जब वह भी अशक्त हो गई तो शीत का दुःख मिटाने भेड़ आ गई, उसने ऊनी

वस्त्र दिये। जब वह भी अशक्त हो गई तो दूर–दूर स्थानों पर सामान ढोने के लिए बकरी आ गई परन्तु मनुष्य, घोड़ा, गाय, भेड़ तथा बकरी ये पाँचों भी जब अशक्त हो गए तो वह शक्ति कहाँ गई, उसका वर्णन भी याज्ञवल्क्य के शब्दों में दिया जा रहा है जो इस तरह से है –

> ''स इमां पृथिवीं प्रविवेश। तं खनन्त इव अन्वीषुः तम् अन्वन्दिन्
> तौ इमौ व्रीहियवौ तस्माद् अपि एतौ एतर्हि खनन्त इव
> एव अनुविन्दन्ति स यावद् वीर्यवद्ध वा अस्य एते सर्वे
> पशव आलब्धाः स्युः तावद् वीर्यवद् ह अस्य हविः हविरेव
> भवति य एवम् एतद् वेद अत्र उ सा सम्पद् यद् आहुः
> पाङ्क्तः पशुरिति'' ।। १–२–३–७

अर्थात् जब ये सभी अपक्रान्त–मेध अर्थात् सार हीन होने लगे तो वह कार्य शक्ति धरती में घुस गई। तब धरती को खोदते हैं, हल चलाते हैं, उसे ढूँढते हैं तब सर्वप्रथम जौ और धान मिलते हैं, जिसने इस प्रकार इस तत्त्व को जान लिया उसकी हवि में सब जीवों का वीर्य आ जाता है। इस एक के सहारे से बकरी, भेड़, गाय, घोड़े को चारा और मनुष्य को अन्न तथा दूध और इन सब जीवों के मेल से धरती की क्षतिपूर्ति हो जाती है। इसलिए जौ, धानादि की खेती इन सबका स्वयं पूर्ण आधार होने के कारण सबकी पुष्टिदात्री है। इसीलिए उसी की हवि को हवि माना गया है। इसी के परिपाक में स्पष्ट ही लोम, त्वक्, माँस, अस्थि और मज्जा ये सब पाँच अवस्थायें देखने को मिलती हैं।

यह यज्ञीय पुरोडाश भी पाङ्क्त पशु की तरह प्रतीत होता है। इसी बात को याज्ञवल्क्य इस तरह व्यक्त करते हैं –

१. यदा पिष्टानि अथ लोमानि भवन्ति – जब पुरोडाश पीसा जाता है तो वह लोम के समान छीदा–छीदा होता है।
२. यदाप आनयति अथ त्वग् भवति – जब उसमें पानी मिल जाता है तो त्वचा के समान हो जाता है।

३. यदा संयौति अथ मांसं भवति – जब गूँथ लिया जाता है तो माँस के समान हो जाता है।

४. यदा शृतः अथ अस्थि भवति – जब पक जाता है तब कठोर सा हो जाता है तो वह हड्डी के समान हो जाता है। हड्डी भी कठोर सी होती है।

५. अथ यद् उद्वासयिष्यन् अभिघारयति तं मज्जानं दधाति – जब उस वासन के पूर्व उस में घृत का सेचन करता है तो उसमें मज्जा का स्थापन करता है। १–२–३–८

ये सभी गुण पुरोडाश में समाविष्ट हो गए इसीलिए इसे पाक पशु माना गया है।

समर्थ व सामर्थ्यवान पदार्थों का ही उपयोग करना चाहिए तभी आप के यज्ञ की सफलता है। सामर्थ्य से रहित पदार्थ के उपयोग का निषेध करते हुए याज्ञवल्क्य कहता है –

१. स यं पुरुषमालभन्त। स किम्पुरुषोऽभवत् – जब पुरुष का आलभन किया तो वह वृद्धावस्था अथवा कार्य की अधिकता से थक जाता है। वह किंपुरुष ? अर्थात् सामर्थ्य ही का पुरुष हो जाता है वह तब काहे का पुरुष ? हो जाता है।

२–३. यौ अश्वं च गां च तौ गौरश्च गवयश्चाभवताम् – घोड़ा जो पहले शक्ति सम्पन्न था आज सारहीन होने के कारण गौरमृग के समान छोटा सा प्राणी दिखता है। तथा गाय भी, गाय नहीं रहती वह भी गौ सा गवय प्राणी दिखती है।

४. यमविम् आलभन्त सः उष्ट्रः अभवत् – भेड़ भी शक्ति हीन होकर अब शीत से घबराने लगी अतः वह भी ऊँट के समान हो गई।

५. यम् अजम् आलभन्त स शरभः अभवत् – और जो बकरी थी वह भी ऊँट का बच्चा सा प्रतीत होने लगी। १–२–३–९

ऐसी स्थिति में याज्ञवल्क्य एक महत्त्वपूर्ण व्यवस्था देते हुए लिखते हैं –

'एतेषां पशूनां न अशितव्यम् अपक्रान्तमेधा ह एते पशवः' ।। १–२–३–९

अर्थात् अपक्रान्त मेध अर्थात् सामर्थ्यहीन – सारहीन – शक्तिहीन इन पशुओं से किसी भी तरह का कार्य नहीं लेना चाहिए। इनसे काम तब तक ही लो जब तक ये पुरुष, अश्व, गौ, भेड़ और बकरी अपने–अपने स्वरूप में बने रहें।

यहाँ समाज इन बातों का ध्यान रखे, विशेषतः याज्ञिक लोग –

१. वृद्ध पुरुष जो शक्तिहीन हो गया है उससे किसी भी तरह का सेवा कार्य न करावें बल्कि इसकी सेवा करें।

२. घोड़ा भी जब तक बोझा ढो सकता है, दौड़ सकता है तब तक उससे कार्य लें, शक्तिहीन से नहीं।

३. बूढ़ी गाय से दूधादि पदार्थ प्राप्त न हो तो सेवा करें।

४. बूढ़ी भेड़ की ऊन न ग्रहण करें, वह ठण्ड से मर जायेगी, वह पाप है।

५. बूढ़ी बकरी पर बोझा न लादें।

अन्यथा पुरोडाश का तिरस्कार होगा।

* * *

२४-चतुर्विंशतितमपाथेयम्

अध्वर्यु का शस्त्र स्फ्य

यज्ञ की सुरक्षा का साधन 'स्फ्या' को माना गया है। यह शस्त्र तलवार की आकृति का लकड़ी से बना होता है। प्रायः खदिर की लकड़ी से इसे बनाया जाता है। याज्ञवल्क्य ने इसे यज्ञ का महत्त्वपूर्ण शस्त्र मानते हुए इसका इस तरह से वर्णन किया है –

''इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार। स प्रहृतश्चतुर्धा अभवत्'' ।।

१–२–४–१

अर्थात् इन्द्र ने निश्चय से जहाँ पर वृत्र के लिए वज्र का प्रहार किया तो उसके चार टुकड़े हो गए। उस वज्र के चार भाग हो गए। उनमें एक भाग स्फ्य अर्थात् काष्ठनिर्मित तलवार हो गई। एक भाग तिहाई यूप हो गया, तिहाई जितना भी बनता है, वह भाग रथ हो गया। शेष जो भाग बचा था उसे वृत्र पर मारने से वह टुकड़ा होकर शीर्ण हो गया। इसीलिए उसे शर नाम दिया गया है क्योंकि वह शीर्ण हो गया था। उस वज्र के इस तरह से चार टुकड़े हो गये।

यज्ञ की व्यवस्था को व्यवस्थित रखने के लिए इन्द्र के वज्र के ये चार भाग – स्फ्य, यूप, रथ और शर के रूप में है। इनको दो भागों में विभक्त किया गया है –

१. ब्राह्मण के पास स्फ्य और यूप है।

२. क्षत्रिय के पास शर और रथ है।

ब्राह्म शक्ति और क्षत्रिय शक्ति जिस राष्ट्र में समुन्नत है वही राष्ट्र समृद्धि को प्राप्त होता है। वही राष्ट्र शक्तिशाली भी रहता है।

यज्ञ की पृष्ठभूमि पर ''स्फ्य'' ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वृत्र को मारने के लिए इन्द्र ने जैसे वज्र को ग्रहण किया था उसी तरह अध्वर्यु स्फ्य को शत्रु मारने के लिए ग्रहण करता है। वह भी पापी द्वेष पूर्ण शत्रु को मारने के लिए स्फ्य को हाथ में पकड़ता है और यजुः का मन्त्र पढ़ता है –

''देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां
पूष्णो हस्ताभ्यामाददेऽध्वरकृतं देवेभ्यः'' ।। १–२–४–४

अर्थात् मैं अध्वर्यु देव सविता की प्रेरणा से, अश्विनों की भुजाओं से, पूषा के दोनों हाथों से इस हिंसा निवारक स्फ्य को देवों के लिए ग्रहण करता हूँ। सविता देवों का प्रेरक है उससे प्रेरित हुआ ही इसका ग्रहण करता है। अश्विनौ ये दो अग्नियाँ जो देवों के अध्वर्यु हैं, उन्हीं की भुजाओं से स्फ्य को ग्रहण करता है। सविता, अश्विनौ, पूषारूप दिव्य भावना रूप देवों को हृदय में धारण करके ही ''स्फ्य'' को धारण करता है। दिव्य भाव जागरित करना ही ''स्फ्य'' रूप उस वज्र का धारण करना है। जिसके अन्दर बैठे राक्षस को हम मार सकते हैं क्योंकि यह यज्ञ तो –

''आददेऽध्वरकृतं देवेभ्यः'' ।। १–२–४–५

अर्थात् यह यज्ञ देवों के लिए है। इसमें किसी भी तरह की हिंसा नहीं होगी। इसीलिए अध्वर यज्ञ के लिए प्रयुक्त है। हिंसा न हो अतः स्फ्य का ग्रहण करता है। उसे बाएँ हाथ में लेकर दाहिने से स्पर्श करता है फिर जपता है।

''इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणः'' ।। १–२–४–६

अर्थात् तू इन्द्र का दक्षिण बाहु है अर्थात् – सबसे अधिक शक्तिशाली है। तथा तू –

''सहस्रभृष्टिः शततेजाः'' १–२–४–६

जैसे इन्द्र का वज्र हजारों ज्वालाओं वाला व सैकड़ों धारों वाला है, यह स्फ्य भी इसी तरह का शक्ति सम्पन्न है। यज्ञ पुरुष भी साधरण नहीं असाधारण होना चाहिए। वह भी तेजस्वी और शक्तिशाली होना चाहिए। पुनः वह जपता है –

वायुरसि तिग्मतेजा इति।। १–२–४–७

अर्थात् तू तीक्ष्ण तेज वाला वायु है। वायु तीव्र तेज वाला होता है। सबसे तेजिष्ठ तेज वायु का ही माना गया है। वह संसार को चीरता हुआ बहता है। वह द्वेषकारी शत्रुओं का वध करता है। हमारा ब्राह्मण भी ऐसा होना चाहिए। यहाँ याज्ञवल्क्य एक कथानक देते हैं –

देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान हैं। कौन बड़ा ? इस बढ़ाई के लिए दोनों झगड़ पड़े। देवों ने असुरों को पराजित कर दिया। परन्तु असुर फिर उनके सामने खड़े हो जाते थे।

देवों ने फिर प्रार्थना की कि हमने असुरों को जीत लिया है, परन्तु ये फिर भी किसी तरह से हमारा सामना करके हमें सताते रहते हैं। अब हम कौन–सा उपाय करें कि ये हमें जीतने के लिए हमारा सामना ही न कर सकें।

तब अग्नि उनसे बोला – ये उत्तर की ओर भाग कर हम से बच जाते हैं। बात भी यही थी कि वे उत्तर की ओर भाग कर बच जाते थे।

इसके पश्चात् अग्नि फिर बोला – ''मैं उत्तर की ओर से इनको घेर लेता हूँ और तुम इधर से घेरा डालो। इस तरह से जब हम इन असुरों को रोकेंगे तो इन्हें तीनों की ओर से भी दबा देंगे तथा तीनों लोकों से आगे जो चौथा लोक है उससे भी फिर ये सिर न उठा सकेंगे।

वह अग्नि उत्तर की ओर चला गया। उत्तर से उसने असुरों को घेर लिया और देवों ने उन्हें इधर से घेर लिया। फिर उन्हें घेर कर तीनों लोकों से परे कर दिया। तीनों लोकों से आगे जो चौथा लोक है उससे भी वे फिर सिर न उठा सके। यही वास्तव में स्तम्ब यजुः है अर्थात् घास से वेदी को ढकना। यही असुरों को दबाने के कृत्य का रूप है।

अग्नीध्र उत्तर की ओर जाता है क्योंकि अग्नीध्र अग्नि है। अध्वर्यु उनको इधर से रोक देता है। उनको रोक कर तीनों लोकों से दबा देता है। चौथा लोक जो इनसे परे है वहाँ से भी असुर उठने नहीं पावें। क्योंकि जैसे देवों ने पहले उन को रोक दिया था इसी प्रकार इन ब्राह्मणों ने भी उनको रोक दिया।

ब्राह्मणों में सामर्थ्य होना चाहिए कि यज्ञ–विरोधी राक्षसों को स्फ्य शस्त्र द्वारा दूर रखें। इसीलिए यह स्फ्य ब्राह्मणों का शस्त्र माना गया है। स्फ्य से ही मिट्टी खोदकर यज्ञ स्थापित किया जाता है।

* * *

२५-पञ्चविंशतितमपाथेयम्

वामन से विराट् बनने का उपदेश

पुराणों में विष्णु का ''वामन'' अवतार प्रसिद्ध है। बलि राजा के यज्ञ में दक्षिणा स्वरूप तीन कदमों का उल्लेख प्रसिद्ध है। विष्णु भगवान् ने तीन कदमों में ही सारे लोकों को लांघ दिया था। इस तरह की कथा का प्रचलन है।

याज्ञवल्क्य ने एक कथानक के रूप में उस वामन रूप विष्णु को हमारे सामने खड़ा कर दिया तथा इस बात से भी अवगत करवाया कि वामन रूप से विराट् कैसे बना जा सकता है ? उसका एक मात्र साधन क्या होगा? अतः वह अख्यायिका इस तरह से है :–

''देवाश्च वा असुराश्च। उभये प्राजापत्याः
पस्पृधिरे'' ।। १–२–५–१

अर्थात् देव और असुर ये दोनों प्रजापति की सन्तानें हुईं। वे दोनों ही आपस में लड़ने–भिड़ने लगी। वे दोनों परस्पर स्पर्द्धा करने लगे कि हम में से कौन बड़ा है? इस स्पर्द्धा में देव असुरों से हारे हुए बैठे थे। वे असुरों से भयाक्रान्त थे, पराजित सा अनुभव कर रहे थे। इससे असुरों का मनोबल बढ़ गया। उन्होंने सोचना प्रारम्भ किया कि –

अथ ह असुरा मेनिरे अस्माकमेव इदं खलु भुवनमिति।। १–२–५–१

देवों की पराजित सी स्थिति देखकर असुर ने समझा चलो अब यह सब दुनिया हमारी हो गई। इस जगत् में अब हमारा ही साम्राज्य है। हमें रोकने वाला अब कोई नहीं, अब इस जगत् को हम मनमर्जी का भोगने वाले बन गये हैं। हमें रोकने का किसी में सामर्थ्य नहीं है।

असुरों ने इस धरती को आपस में बाँटने की योजना तैयार की जिससे कि सब मौजमस्ती में इसे भोग सकें। जब सब के अपने–अपने हिस्से होंगे तब किसी का भी

हस्तक्षेप नहीं होगा, चलो यह सारी दुनिया अपनी ही है। धरती को नापने का पैमाना उनका अपना ही था और उन्होंने –

''तां औक्ष्णैः चर्मभिः पश्चात् प्राञ्चो विभजमाना अभीयुः'' ।। १–२–५–२

अर्थात् असुरों ने बैल के चमड़े को नापने का पैमाना बनाकर धरती को पश्चिम से पूर्व की ओर बाँटना प्रारम्भ कर दिया।

देवताओं ने जब इस बात को सुना कि राक्षस धरती को आपस में ही बाँट रहे हैं, तो उन्होनें सोचा कि हमें भी वहीं जाना चाहिए जहाँ असुर इस धरती को बाँट रहे हैं। हमें भी वहाँ जाकर अपना हिस्सा लेना चाहिए। यदि हम उनसे अपना हिस्सा नहीं लेंगे तो हम किसी भी गिनती में नहीं होंगे। हमें भी अपना वर्चस्व कायम रखना है। अकेले वे जा नहीं सकते थे क्योंकि असुरों से वे भयभीत से थे। अतः विष्णु अर्थात् यज्ञ को आगे रख कर वे असुरों के पास जा पहुँचे। यज्ञ से ही असुर डरा करते थे। वहाँ जाकर देवों ने अपनी बात कहनी प्रारम्भ की और बोले –

अनु नोऽस्यां पृथिव्याम् आ भजत अस्तु एव नोऽप्यस्यां भाग इति।।
१–२–५–४

हे असुरो ! जब तुम इस धरती को बाँट ही रहे हो तो हमारा भी हिस्सा निकाल दो। यह सारी धरती प्रजापति की है। जैसे तुम प्रजापति की सन्तान हो इसी तरह हम भी उनकी सन्तान हैं। अतः हमारा भी तो इस धरती पर हिस्सा होना चाहिए। इस माँग पर असुर भड़क गये क्योंकि वे अन्य किसी को भी अपना हिस्सा नहीं देना चाहते थे। उन्होंने उनका नेता वामनरूप में विष्णु को देखा तो विचार–विमर्श किया इस वामन को ही इनके लिए धरती नापने का पैमाना मान लिया जाये और जलते हुए झुँझलाते हुए बोले –

यावद् एव एष विष्णुः अभिशेते तावद् वः दद्म इति।। १–२–५–४

अर्थात् जितने स्थान पर तुम्हारा यह विष्णु लेट जाए उतनी भूमि तुमको हम दे देंगे। असुर विष्णु का वामनरूप अथवा यज्ञ–कुण्ड का आकार देख कर धोखा खा गए। यज्ञ–कुण्ड भी वामनरूप है। उसके बाहर तीन परिधियों को जो विष्णु के पगरूप

भूलोक, द्युलोक व स्वर्लोक की प्रतीक हैं, उसको समझने में वे असमर्थ थे। अतः धोखा खा बैठे और वामनरूप को देख कर सहर्ष धरती का भाग दे बैठे।

देवता वामन रूप विष्णु भाग को स्वीकार करते हुए तनिक भी नहीं घबराये, क्योंकि वे विष्णु की व्यापकता को समझते थे। विष्णु इसलिए विष्णु है क्योंकि वह सब जगह व्यापक है। यज्ञ को भी विष्णु माना गया है क्योंकि यज्ञ भी व्यापकता को प्राप्त होता है। अतः देवता यज्ञ के नाप की धरती पाकर प्रसन्न थे। वे जानते थे कि असुरों ने हमें बहुत बड़ा हिस्सा दे दिया है।

देवताओं ने उसी धरती पर जिसे असुरों ने उन्हें दिया था उस पर जिस कर्त्तव्य कर्म को किया उसका बहुत ही सुन्दर वर्णन याज्ञवल्क्य ने शतपथ ब्राह्मण में किया है। वे लिखते हैं –

''ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य। छन्दोभिर् अभितः पर्यगृह्णन्'' ।। १–२–५–६

अर्थात् देवताओं ने विष्णु अर्थात् यज्ञ को आगे रख दिया। उसे पूर्व दिशा में लिटा दिया अर्थात् स्थापित कर दिया। हमें इतना तो ज्ञात हो जाना चाहिए कि हमने जब भी यज्ञ करना है तो हमें उसे पूर्व दिशा को सामने रख कर करना चाहिए, जैसे देवताओं ने किया। उन्होंने उसे वैसे ही अकेला नहीं छोड़ा, चारों तरफ से उसे छन्दों द्वारा घेर दिया। छन्दों का सुरक्षा कवच उसकी सुरक्षा के लिए देवों ने रच दिया जो इस तरह से वर्णित है –

१. दक्षिणा की ओर से – ''गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि'' गायत्री छन्द के द्वारा तुझे घेरता हूँ।
२. पश्चिम की ओर से – ''त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि'' त्रिष्टुप् छन्द के द्वारा तुझे घेरता हूँ।
३. उत्तर की ओर से – ''जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि'' जगती छन्द के द्वारा तुझे घेरता हूँ। १–२–५–६

देवताओं ने दक्षिण, पश्चिम और उत्तर से छन्दों के कवच से अपने उस विष्णु को सर्वप्रथम सुरक्षित किया है। हमें भी अपने परिवार को सुरक्षित रखने के लिए इसी यज्ञ के छन्दों का सहारा लेना होगा। तभी हम व हमारा यज्ञ सर्वथा सुरक्षित होगा।

दक्षिण, पश्चिम व उत्तर से तो गायत्री, त्रिष्टुप् व जगती छन्दों को कवच डाल कर अपने वामनरूप विष्णु अर्थात् यज्ञ को राक्षसों से सुरक्षित तो कर लिया परन्तु अभी पूर्व दिशा खुली पड़ी है वहाँ क्या करना अपेक्षित है, उसका सुन्दर विवेचन करते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं–

''तं छन्दोभिरभितः परिगृह्य। अग्निं पुरस्तात् समाधाय
तेन अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः'' ।। १–२–५–७

अर्थात् देवों ने इस प्रकार छन्दों द्वारा उस विष्णु अर्थात् यज्ञ को दक्षिण, पश्चिम और उत्तर से घेर लिया। गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती के छन्द वाले मन्त्रों का पाठ उच्चारण के रूप में प्रारम्भ किया। परन्तु सामने की पूर्व दिशा खाली थी। वहाँ से राक्षसों के आने का भय बना हुआ था। अतः उन्होंने सामने वाली पूर्व दिशा में अग्न्याधान कर दिया तथा उसी के माध्यम से उन्होंने अर्चना–पूजादि शुरु कर दी। जैसे कि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने कर्म–काण्ड में यज्ञ से पूर्व ईश्वर–स्तुति प्रार्थना तथा उपासना विधान किया है वैसे ही देवों ने ''विष्णु'' को ''धीमहि'' करते हुए उसकी भी अर्चना प्रारम्भ कर दी। विष्णु को उन्होंने चारों तरफ से घेर लिया तथा उसी को अपना नेता मुख्य आदर्श मानते हुए परिश्रम करते रहे। वे प्रमादी नहीं रहे, उद्यमी होकर इस धरती पर उन्होंने विचरना शुरु किया, स्वयं ही नहीं विचरे अपितु उन्होंने वामनरूप विष्णु अर्थात् यज्ञ का भी विस्तार किया। उसका उन्हें क्या लाभ हुआ उस सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

तेन इमां सर्वां पृथिवीं समविन्दत।। १–२–५–७

इस तरह अर्चना व परिश्रम करते हुए देवों ने समस्त पृथिवी को प्राप्त कर लिया। सारी धरती को प्राप्त करने का एक मात्र साधन वह वामनरूप विष्णु ही था। देवों ने उसको छोड़ा नहीं। यज्ञ को आगे रखते हुए उन्होंने सारी धरती को पा लिया। आगे वेदि की परिभाषा व प्रयोजन दर्शाते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''तद् यद् एनेन इमां सर्वां समविन्दत
तस्माद् वेदिर्नाम तस्मादाहुः यावती वेदिः तावती पृथिवीति'' ।। १–२–५–७

अर्थात् इसलिए क्योंकि इस वामनरूप विष्णु अर्थात् अग्नि से उन्होंने सारी पृथिवी को पा लिया इसीलिए जिसमें अग्नि को जलाया गया था, उस अग्नि कुण्ड का नाम वेदि रखा गया। इसीलिए कहते हैं कि जितनी वेदि है उतनी ही पृथिवी है। आगे याज्ञवल्क्य ने लिखा –

''एतया हि इमां सर्वां समविन्दत एवं ह वा इमां सर्वां''

सपत्नानां संवृङ्क्ते निर्भजति अस्यै सपत्नान् य एवमेतद् वेद।।

१–२–५–७

देवों ने इस वेदि के सहारे ही इस सारी धरती को जीत लिया। उनके पास इसके अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं था। अतः इस वामन रूप विष्णु को ही आगे रख कर उन्होंने सारी धरती को पा लिया। जो इस रहस्य को जानता है वह इसी प्रकार अपने शत्रुओं से धरती को छीन लेता है और शत्रुओं को भागरहित कर देता है।

हमें भी वामनरूप से विराट्रूप में आने के लिए इन वेदि के रहस्य को समझ लेना चाहिए। हम भी वामन से विराट् हो सकते हैं यदि हम भी वेदि का निर्माण करें। उसके निर्माण के पश्चात् बैठना नहीं, अर्चना और परिश्रम करना है क्योंकि ''सर्वं परिश्रमेण साध्यम्'' माना गया है। कहा भी गया है –

उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।

न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।।

पञ्चतन्त्रमित्रसम्प्राप्तिः १३८

अर्थात् परिश्रम से ही सब काम सिद्ध होते हैं केवल इच्छामात्र से नहीं। क्योंकि शेर को भी शिकार करने के लिए परिश्रम करना पड़ता है। सोए हुए शेर के मुख में शिकार के रूप में हिरण स्वयं नहीं आता।

अतः दोनों बातें वामन से विराट् बनने के लिए अनिवार्य हैं। भक्ति के साथ–साथ शक्ति भी होनी चाहिए तभी सफलता मिलती है।

* * *

२६-षड्विंशतितमपाथेयम्

यज्ञ की वेदि व उसका स्वरूप

यज्ञ के लिए वेदि की नितान्त आवश्यकता होती है। बिना वेदि के यज्ञ करना सर्वथा असम्भव है। विधि–विधान से जो यज्ञ सम्पन्न होता है, उसी का लाभ यजमान को प्राप्त होता है। इसका प्रचलन विचित्रता से युक्त है। याज्ञवल्क्य ने दर्शाया है कि असुरों को पराजित करने के लिए उन्होंने विष्णु को जो वामनरूप था उसे आगे किया। जब देवों की धरती में आग उपलब्ध हो गई तो उन्होंने विष्णु अर्थात् यज्ञ स्थापित कर दिया। उसे तीन तरफ से गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती छन्दों से क्रमशः दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा से घेर दिया तथा सामने पूर्व दिशा में अग्न्याधान करके चारों तरफ से उस विष्णु को घेर दिया।

उस घेरा से वह विष्णु खिन्न सा हो गया क्योंकि तीन ओर से छन्दों से घिरा था। तथा साम अग्नि प्रज्वलित थी बच निकलने के लिए कोई भी राह नहीं थी। वह भाग नहीं सकता था। अतः उस वामन विष्णु ने वहीं पर ही औषधियों की जड़ों को नोचना शुरु किया अर्थात् वहीं औषधियों की जड़ों में वह छुप गया।

विष्णु के न दिखाई देने पर देव कहने लगे – विष्णु कहाँ गया? हमारा यज्ञ कहाँ गया ? वह भाग तो नहीं सकता था क्योंकि तीन ओर से छन्दों से घिरा था और सामने अग्नि प्रज्वलित थी, जाने की राह कोई और है नहीं अतः यहीं ढूँढना चाहिए। यहाँ याज्ञिक आचार्य का मत लिखते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

तं खनन्त इव अन्वीषुः तं त्र्यङ्गुले अन्वविन्दन्
तस्मात् त्र्यङ्गुला वेदिः स्यात् तद् उ ह अपि पाञ्चिः
त्र्यङ्गुलाम् एव सौम्यस्य अध्वरस्य वेदिं चक्रे।। १–२–५–९

अर्थात् वे वहीं पर उस विष्णु को ढूँढने लगे। बस उन्होंने वहीं खोदना प्रारम्भ किया। अभी थोड़ा ही खोदना प्रारम्भ किया था, वह केवल तीन अंगुल नीचे मिल गया। इस लिए वेदि भी तीन अंगुल की होनी चाहिए। इसीलिए तदनुसार ही आचार्य पाञ्चि

ने सोमयाग की वेदि तीन अंगुल ही बनाई थी। महर्षि याज्ञवल्क्य इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं, अतः वे लिखते हैं–

तदु तथा न कुर्यात्। ओषधीनां वै स मूलानि
उपाम्लोचत् तस्मात् ओषधीनाम् एव मूलानि
उच्छेत वै ब्रूयात् यत् नु एव अत्र विष्णुम् अविन्दन् तस्मात् वेदिर्नाम।।
१–२–५–१०

यहाँ पर याज्ञवल्क्य महर्षि का कहना है कि इस तरह न करें। विष्णु ने औषधियों की जड़ें उखाड़ डाली थी, अतः अध्वर्यु अग्नीध्रः से औषधियों की जड़ें उखाड़ने को कहे। क्योंकि यहीं ढूँढने पर विष्णु पाया गया था। इसलिए इसका नाम वेदि पड़ा। वैसे भी व्याकरण की दृष्टि से विद्लृ लाभे धातु से वेदि शब्द बनता है। यहाँ विष्णु का नाम हुआ अतः इस का नाम वेदि हुआ।

यह विष्णु पुनः गुम न हो जाये, उन्होंने मन्त्र पूर्वक पुनः उसे इस तरह घेर दिया –

दक्षिण दिशा से घेरते हुए मन्त्र पढ़ा गया –

''सुक्ष्मा चासि शिवा असीति'' ।। यजुः १–२७

अर्थात् वेदि की धरती तू सूक्ष्मा है और शिवा है अर्थात् सर्वोत्तम भूमि है और सब का कल्याण चाहने वाली भूमि है।

पश्चिम से घेरा डालते हुए फिर यजुः मन्त्र पढ़ा –

''स्योना चासि सुषदा चासीति'' ।। यजुः १–२७

अर्थात् तू अच्छी तरह से सुखदात्री है तथा सुष्ठु–तथा बैठने योग्य अच्छा आसन है।

फिर उत्तर की ओर से घेरा डालते हुए मन्त्र पढ़ता है –

''ऊर्जस्वती चासि पयस्वती चैति।। यजुः १–२७।।

अर्थात् तू विविध प्रकार के अन्नों को देने वाली है तथा दुग्ध प्रपूर्णा है अर्थात् दूध की धारा से सम्पन्न है। यहाँ वेदि की धरती को –

क्षमाशील, मंगलमयी, स्योना, सुखदा, ऊर्जस्वती तथा पयस्वती माना है।

वेदि इन छः गुणों से युक्त होती है।

यहाँ पर पहले तीन रेखाओं का घेरा बनता है और फिर तीन का। इस तरह छः संख्या घेरों की हुई। ऋतुयें भी छः ही हैं, संवत्सर यज्ञ–प्रजापति है।

प्रथम घेरा बनाने में छः व्याहृतियाँ पढ़ता है और दूसरे घेरे में भी छः पढ़ते हैं। इस तरह इनका योग १२ होता है और संवत्सर के मास भी बारह होते हैं। यही संवत्सर एक यज्ञ–रूप प्रजापति है। इसलिए जितना बड़ा यज्ञ उतनी ही उसकी मात्रा उतना ही बड़ा वेदि का घेरा बनता है। यहाँ याज्ञवल्क्य अन्य आचार्यों का मत देते हुए लिखते हैं –

कुछ लोग कहते हैं कि पश्चिम की ओर उसकी लम्बाई ''व्याममात्री अर्थात् पुरुष के देह के बराबर होनी चाहिए क्योंकि पुरुष इतना ही लम्बा होता है। सामने पूर्व की ओर तीन बलिश्त अर्थात् तीन हाथ हो क्योंकि यज्ञ भी त्रिवृत् तीन बल वाला होता है। परन्तु याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह कोई नियम नहीं जितनी अपने आपको उचित लगे उतनी बना देनी चाहिए।

वेदि की दो भुजाओं को आहवनीय अग्नि के दोनों ओर आगे तक ले जाते हैं। वेदि को स्त्री माना है तथा अग्नि को पुरुष। उत्तम यज्ञ के लिए दोनों का साथ होना आवश्यक है। जिस तरह उत्तम सन्तान के लिए स्त्री पुरुष का होना अनिवार्य होता है वेदि के सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य आगे कहते हैं –

सा वै पश्चाद् वरीयसी स्यात्। मध्ये संह्वारिता पुनः पुरस्ताद्
ऊर्वी एवम् इव हि योषां प्रशंसन्ति पृथुश्रोणिर् विमृष्टान्तरां सा
मध्ये संग्राह्या इति जुष्टाम् एव एनाम् एतद् देवेभ्यः करोति।।

१–२–५–१६

अर्थात् जैसे पृथुश्रोणी, सुडौल कन्धे वाली और मुष्टिग्राह्या कमर वाली स्त्री सबके प्रीति योग्य होती है, उसी तरह यह वेदि पीछे की ओर से चौड़ी और मध्य से सिकुड़ी अर्थात् तंग सिकुड़ी सी और आगे से फिर चौड़ी होनी चाहिए क्योंकि ऐसी ही वेदि देवजुष्टा अर्थात् देवों के लिए प्रीति योग्य होती है। सुन्दर वेदि वाला यज्ञ ही

शोभायमान होता है। माता–पिता जैसे अपने बच्चों को सुन्दर दिखने के लिए उन्हें सजाते हैं उसी तरह हमें भी वेदि को सजाना चाहिए।

पुनः याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

१. सा वै प्राक् प्रवणा स्यात्। प्राची हि देवानां दिक्।। १–२–५–१७

अर्थात् वह वेदि निश्चय से ही पूर्व की ओर झुकी हुई होनी चाहिए अर्थात् वेदि की ढाल पूर्व की ओर होनी चाहिए क्योंकि पूर्वदिशा देवों की दिशा मानी गई है।

२. अथो उदक्प्रवणा उदीची हि मनुष्याणां दिक्।। १–२–५–१७

अर्थात् वह वेदि उदक् प्रवणा अर्थात् उत्तर की ओर झुकी हुई होनी चाहिए क्योंकि उदीची अर्थात् उत्तर दिशा मनुष्यों की दिशा है।

३. दक्षिणतः पुरीषं प्रत्युदूहति एषा वै दिक् पितॄणाम्।। १–२–५–१७

अर्थात् दक्षिण दिशा की ओर मिट्टी को डालता है अर्थात् जो भी कूड़ा होता है उसे दक्षिण की ओर हटा देता है। उसे दक्षिण की ओर समेटता है जिससे वह भाग ऊँचा हो जाए। दक्षिणादिक् पितरों की दिशा है। क्योंकि दक्षिण तरफ कूड़े को या मिट्टी समेट कर उसे ऊँचा करना है इस का जीवनोपयोगी रहस्योद्घाटन करते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैंः–

सा यद् दक्षिणा प्रवणा स्यात् क्षिप्रेह यजमानः
अमुं लोकम् इयात्।। १–२–५–१७

अर्थात् यदि वेदि दक्षिण की ओर झुकी होगी तो यजमान भी शीघ्रता से अगले लोक में जाने की तैयारी कर लेगा अर्थात् शीघ्र ही परलोक सिधार जायेगा। परलोक न सिधारे इसलिए–

तथा उ ह यजमानो ज्योक् जीवति तस्मात् दक्षिणतः
पुरीषं प्रत्युदूहति पुरीषवती कुर्वीत पशवो वै पुरीषं
पशुमतीम् एव एनाम् एतत् कुरुते।। १–२–५–१७

अर्थात् वह यजमान निश्चय से ही चिरकाल तक जीवित रहता है जो मिट्टी को दक्षिण की ओर समेटता है। ''वेदिं पुरीषवती कुर्वति'' अर्थात् वेदि मिट्टी की ही बनानी चाहिए। पुरीष को ही पशु माना गया है यही सन्तान का चिह्न है। इस प्रकार यह वेदि पशुमती अर्थात् प्रजावती बनती है।

जहाँ पर इस तरह वेदि का निर्माण होता है वहाँ किसी भी प्रकार की न्यूनता नहीं रहती। वह घर धन-धान्य सम्पन्न होता हुआ प्रजावान् होता है। क्योंकि यज्ञ का लाभ है –

''प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनन्नाद्येन समेधय।।

अर्थात् यज्ञ करने वाले को पाँच वस्तुएँ सहज में ही प्राप्त हो जाती हैं जो इस तरह से हैं –

१. प्रजया – जहाँ प्रतिदिन यज्ञ होता है वह घर कभी भी निःसन्तान नहीं रहता, उसके घर प्रजा, सबसे पहले प्रजा आती है।

२. पशुभिः – वह घर पशुधन से भरा रहता है। उसके यहाँ दूध-घी की कोई कमी नहीं रहती। कहावत भी है – दूध है तो पूत है। प्रजा के लिए दूध-घी की नितान्त आवश्यकता होती है।

३. ब्रह्मवर्चसेन – वहाँ की सन्तान ब्रह्म-विद्या के तेज से युक्त होती है वहाँ अविद्वान् पैदा नहीं होते।

४. अन्नाद्येन – उस घर में अन्नादि भोग्य-पदार्थों की न्यूनता नहीं रहती, वह घर अन्नादि धान्य से परिपूर्ण रहता है।

५. समेधय – वह समृद्ध होता है, चमकने वाला बनता है। इसीलिए उत्तम वेदि में यज्ञ का विधान है।

* * *

२७-सप्तविंशतितमपाथेयम्

वेदि का मार्जन व बर्हिस्तरण

याज्ञिक लोगों को चाहिए कि यदि वे यज्ञ का पूर्ण लाभ उठाना चाहते हों तो उन्हें वेदि को स्वच्छ–साफ–सुथरा रखना होगा। यज्ञ को अपवित्र वेदि से कोई प्रयोजन नहीं। दूसरे शब्दों में यदि कहा जाए तो यह यज्ञ देव पूजा का साधन है, अतः देवताओं की पूजा भी स्वच्छता में ही करनी चाहिए। हमने जब यज्ञ के लिए वेदि का निर्माण कर ही लिया है तो उस वेदि का मार्जन होना चाहिए। इसीलिए याज्ञवल्क्य विधान भी करते हैं तथा वे लिखते हैं –

तां प्रतिमार्ष्टि।। १–२–५–१८

अग्नीध्र वेदी को पूर्व से पश्चिम की ओर लीप देता है उस वेदि का वह प्रतिमार्जन करता है। प्रतिमार्जन का उद्देश्य भी अलौकिक है, अनूठा है। इसलिए याज्ञवल्क्य इसे उदाहरण सहित समझाते हुए लिखते हैं :–

देव लोग संग्राम पर जाने के लिए तैयार खड़े थे, तो उन्होंने कहा कि –

हन्त यदस्यै पृथिव्या अनामृतं देवयजनं तच्चन्द्रमसि
निदधामहै स यदि न इतः असुरा जयेयुः ततः
एवार्चन्तः श्राम्यन्तः पुनरभिभवेम इति।। १–२–५–१८

अर्थात् अब देव बोले कि इस पृथिवी का जो न मरने वाला सारभूत देवयजन है उस सारे के सारे को चन्द्रमा में अर्थात् चन्द्रलोक में रख देते हैं। यदि असुरों ने हमें युद्ध में जीत भी लिया तो फिर प्रभु की आराधना और परिश्रम के बल से पृथिवी और चन्द्रमा के सहारे हम उन्हें पराजित कर देंगे। इसलिए देवताओं ने जो इस पृथिवी का न मरने वाला सारभूत देवयजन था उसे चन्द्रमा में रख दिया। यही तो चन्द्रमा में काला–काला धब्बा दीखता है। इसीलिए कहावत भी बन गई कि चन्द्रमा में इस पृथिवी की यज्ञशाला है। देवयज्ञ उसी पृथिवी पर उस वेदि पर किया जाता है जिसे मार्जन कर

चाँद सा साफ सुथरा बना दिया गया हो। देवयज्ञ के लिए वेदि का साफ–सुथरा होना आवश्यक है। बस जिसने इस वेदि पर यज्ञ किया उसने मानो चन्द्रलोक में यज्ञ को किया है। जो इस महत्त्व को जानता है वही वेदि का प्रतिमार्जन करता है।

वेदि का प्रतिमार्जन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। यह मार्जन बस मिट्टी से लीपना मात्र नहीं है। यहाँ इसके मार्जन करने का महत्त्वपूर्ण प्रयोजन याज्ञवल्क्य ने दिया है तथा वे लिखते हैं –

स प्रतिमार्ष्टि। ''पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्'' इति।। १–२–५–१९

अर्थात् यजुर्वेद के १–२८ मन्त्र के अंश को पढ़ते हुए कहता है ''पुराक्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्' अर्थात् यह क्रूर एक संग्राम है। क्रूर इसे इसलिए कहा गया है क्योंकि संग्राम में क्रूर–कर्म किया जाता है। इसमें बहुत से मनुष्य और घोड़े मर कर धाराशायी हो जाते हैं। वे संग्राम से पहले ही पृथिवी के यज्ञवाले भाग को चन्द्रलोक ले गए थे। अतः कहा – ''पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्'' अर्थात् हे महाशक्तिशालिन् ! इधर–उधर हिलते हुए क्रूर अर्थात् युद्ध से पूर्व। फिर कहता है –

''उदादाय पृथिवीं जीवदानुम्'' १–२–५–१९

अर्थात् जीवनदायिनी भूमि को उठाकर अर्थात् इस पृथिवी पर जो जीवन था उसको उठाकर चन्द्रलोक को उठाकर ले गए थे। फिर कहा –

''यामैरयं चन्द्रमसि स्वधाभिः'' १–२–५–१९

अर्थात् जिसको स्वधा अर्थात् अन्नादि द्वारा ब्रह्म की प्रार्थनाओं के साथ चन्द्रलोक को ले गए।

परन्तु आगे याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं कि मनुष्य इस धरती पर चुप नहीं बैठा। अयज्ञीय जीवन उसने व्यतीत नहीं किया। उसने वेद को पकड़ा जहाँ लिखा था –

''तामु धीरासोऽनुदिश्य यजन्ते'' १–२–५–१९

अर्थात् धीर–गम्भीर बुद्धिमान् उसी पृथिव्युपलक्षित माता को लक्ष्य कर सम्पूर्ण यज्ञ करते हैं।

हम भी उसी का अनुसरण करते हुए वेदि में अग्नि को स्थापित करते हुए प्रार्थना करते हैं –

''तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे।। यजु:३–५।।

अर्थात् देव यज्ञ की आधार–पृथिवी माता तेरी पीठ पर अन्न को ही खाने वाली यज्ञाग्नि को प्रचुर मात्रा में अन्नादि की प्राप्ति के लिए यज्ञ कुण्ड में स्थापित करता हूँ।

उस यज्ञ को जिसको चन्द्रमा में स्थापित किया गया था। वह वहाँ सुरक्षित था। उसको वहाँ से लाने का अधिकार उसी को है जो धीर–गम्भीर ब्रह्मवेता है तथा जो वेदि की स्वच्छता का ध्यान रखता हो। हमारी वेदि चाँद की तरह चमकने वाली हो तभी यज्ञ आयेगा।

वेदि की समुचित व्यवस्था करने के बाद वह हाथों को धोता है। वेदि के अन्दर जो भी क्रूर अर्थात् कूड़ादि था उसको फेंक देता है। तदनन्तर वह हाथों को धोता है। वह इसलिए भी आवश्यक है कि यज्ञ के लिए पवित्रता नितान्त आवश्यक है।

याज्ञवल्क्य वेदि का मार्जन होने के पश्चात् बर्हिस्तरण के सन्दर्भ में लिखते हैं –

''स ये ह अग्रे ईजिरे! ते ह स्म अवमर्शं यजन्ते ते
पापीयांस आसुः, अथ ये नेजिरे ते श्रेयांस आसुः।। १–२–५–२४

अर्थात् एक समय की बात है कि जो लोग यज्ञ करते हैं वे 'अवमर्श' अर्थात् वेदि का स्पर्श करते थे। पहले ही वेदि को छू लेते थे, अतः ऐसे लोग अत्यधिक पापी हो गए, उनकी हालत ठीक नहीं थी। और जो बिल्कुल भी यज्ञ नहीं करते थे वे सभी खुशहाली में थे, उनकी हालत अच्छी थी।

वर्तमान में भी हम देखते हैं कि जो यज्ञादि नहीं करते वे मौजमस्ती से अपनी जिन्दगी बसर करते हैं और जो यज्ञादि करते हैं वे दरिद्रता के दुःख को झेल रहे हैं उनकी हालत समुचित नहीं है। अतः लोगों में यज्ञ के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न होने लगी परन्तु याज्ञवल्क्य उस अश्रद्धा के सन्दर्भ में लिखते है। –

ततः अश्रद्धा मनुष्यान् विवेद ये यजन्ते पापीयांसस्ते
ये उ न यजन्ते श्रेयांसः ते भवन्ति इति ततः इतः देवान्
हविर्न जगाम इतः प्रदानाद् हि देवा उपजीवन्ति।। १–२–५–२४

अर्थात् तब लोगों में अश्रद्धा उत्पन हो गई कि जो यज्ञ करते हैं वे पापी हो जाते हैं उनकी हालत ठीक नहीं रहती और जो यज्ञ नहीं करते वे पुण्यवान होते हैं, उनकी अवस्था ठीक रहती है। अब इस पृथिवी से देवों के पास कुछ भी हवि नहीं पहुँचती। देवता तो उस हवि के सहारे रहते हैं, जो इस पृथिवी लोक से दी जाती है।

वर्तमान में भी यही देखने को मिल रहा है। इसका समाधान होना चाहिए। इस परिस्थिति में तो लोगों में यज्ञ के प्रति अश्रद्धा ही पैदा होती रहेगी लोग यज्ञ करना छोड़ देंगे। यहाँ पर जो व्यवस्था याज्ञवल्क्य ने दी है, उस पर मनन करना होगा। वह व्यवस्था क्यों देनी पड़ी इस बात को याज्ञवल्क्य इस तरह समझाते हैं –

पूर्वोक्त बात को लेकर वे देव बृहस्पति आङ्गिरस से बोले – ''देखो मनुष्यों में यज्ञ के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हो गई है अतः उन्हें समुचित यज्ञ का विधान दीजिए। तब बृहस्पति आङ्गिरस ने मनुष्य से कहा –

''कथा न यजध्व इति'' १–२–५–२५

अर्थात् क्या कारण है भाई तुमने यज्ञ करना छोड़ दिया है ? यज्ञ का त्याग तो नहीं करना चाहिए। स्पष्ट शब्दों में बखान करो कि तुमने यज्ञ क्यों छोड़ दिया है ? इस पर मनुष्य अपनी वेदना को अश्रद्धा के रूप में व्यक्त करते हुए कहते हैं –

किं काम्या यजेमहि ये यजन्ते पापीयांसस्ते भवन्ति

ये उ न यजन्ते श्रेयांसस्ते भवन्तीति।। १–२–५–२५

किस फल की इच्छा वाले होकर हम यज्ञ करें। यज्ञ का तो हमें कोई लाभ हो नहीं रहा। हम तो देख रहें है कि जो यज्ञ करते हैं वे पापी हो जाते हैं, उनके हालात बहुत बुरे हैं। वे तो कष्टभरा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। और जो यज्ञ नहीं करते वे सभी पुण्यात्मा होकर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। ऐसी स्थिति को देखकर मनुष्यों ने यज्ञ छोड़ दिया, यज्ञ के प्रति उनके दिलों में अश्रद्धा वास कर गई है।

इस पर बृहस्पति आङ्गिरस ने जो व्यवस्था दी वह मनन करने के योग्य है। उस पर यदि मनन किया और तदनुसार यज्ञ करने की व्यवस्था की तो यज्ञ का भागधेय

देवों को अवश्य प्राप्त होगा तथा हमारा भी यज्ञ सफल होगा। अतः बृहस्पति आङ्गिरस ने जो कारण कहा वह इस तरह से है –

> स होवाच बृहस्पतिराङ्गिरसो यद् वै शुश्रुम देवानां
> परिषूतं तद् एष यज्ञो भवति यत् शृतानि हवींषि
> क्लृप्ता वेदिः तेन अवमर्शम् अचारिष्टं तस्मात्
> पापीयांसः अभूत तेन अनवमर्शं यज्ञध्वं तथा
> श्रेयांसो भविष्यथ।। १–२–५–२६

अर्थात् तब इस पर बृहस्पति आङ्गिरस बोला – हमने ऐसा सुन रखा है कि देवताओं के लिए जो सारभूत (परिषूत) अन्न तैयार किया जाता है अर्थात् पकी हुई हवि उसी को ही यज्ञ माना गया है। वह यज्ञ ही तो है। यहाँ हविष्यान्न पका है, यहाँ वेदि तैयार हुई किन्तु तुमने वेदि का स्पर्श कर उस हविष्यान्न को हवि के लिए प्रयोग किया। अतः तुम पापी हो गए तुम्हारी अवस्था बिगड़ने का यही कारण है, अब वेदि को पहले स्पर्श न करके यज्ञ करो तब पुण्यात्मा बनोगे तब तुम्हारी अवस्था यज्ञ न करने वालों से अच्छी होगी।

लोगों ने बृहस्पति आङ्गिरस से पूछा कि ''कब तक वेदि को स्पर्श न करें ?'' लोगों द्वारा ऐसा पूछने पर बृहस्पति आङ्गिरस ने कहा –

> आबर्हिषः स्तरणादिति बर्हिषा ह वै खलु एषा
> शाम्यति स यदि पुरा बर्हिषस्तरणात् किञ्चिद् आपद्येत
> बर्हिरेव तत् स्तृणन् अपास्येत् अथ यदा बर्हिस्तृणन्ति
> अपि पदा अभितिष्ठन्ति स यो ह एवं विद्वान्
> अनवमर्शं यजते श्रेयान् ह एव भवति तस्मादनवमर्शमेव यजेत।।
> १–२–५–२६

अर्थात् बृहस्पति आङ्गिरस ने कहा – बर्हिस्तरण अर्थात् बर्हि बिछाने से पहले वेदि का स्पर्श नहीं करना चाहिए। बर्हि से वेदि सन्तुष्ट रहती है, वह शान्त हो जाती है। इसलिए यदि बर्हिः बिछाने से पूर्व ही कुछ वेदि में आ पड़े तो उसे बर्हि–बिछाते समय

उठा लेना चाहिए, फेंक देना चाहिए। जब बर्हि बिछाते हो तब तो उस पर पैर रख कर भी खड़े हो जाते हैं। जो इस रहस्य को समझ कर स्पर्शदोष से रहित होकर यज्ञ करता है वह पुण्यात्मा हो जाता है, वह कल्याण को प्राप्त करता है। इसलिए वेदि और हवि का अवमर्श अर्थात् स्पर्श न करता हुआ इस यज्ञ को करो।

यहाँ पर याज्ञवल्क्य भी बृहस्पति आङ्गिरस के इस सिद्धान्त से सन्तुष्ट है। अन्यथा ऋषि को यदि यह मन्तव्य स्वीकार्य न होता तो इस पर अवश्य ही अपने विचार अभिव्यक्त करते। ''मौनं स्वीकारलक्षणम्'' के अनुसार मौन रहना भी समर्थन देने के समान होता है। अतः यज्ञ करने से पूर्व वेदि व हविष्य पदार्थों की पवित्रता का ध्यान हमें रखना है, जिससे हमारा यज्ञ सफल हो तथा हमारे द्वारा दी गई हवि देवताओं को प्राप्त हो। फिर ''देवा यज्ञं वहन्तु नः'' देव लोग हमारे यज्ञ को धारण करें यह भी चरितार्थ होगा।

२८-अष्टाविंशतितमपाथेयम्

प्रतपन व सम्मार्जन

यज्ञ में दो प्रक्रियाओं का होना अनिवार्य है – एक को 'प्रतपन' इस नाम से पुकारा जाता है, इसका सम्बन्ध 'अग्नि' से है। यज्ञ तभी सफल माना जाता है जब हम अग्नि को तपना सीखते हैं, क्योंकि बिना अग्नि के यज्ञ की सम्पन्नता असम्भव है। अतः हमें अग्नि को तपना सीखना होगा।

कई लोगों को हमने अपना मुख–मण्डल ढक कर यज्ञ में आहुति चढ़ाते हुए तथा यज्ञ करते हुए देखा है ऐसा नहीं करना चाहिए। ऐसा करना सीधा अग्नि का तिरस्कार करना है। ''अग्नि'' सब देवों का अधिदेव है। ''अग्निर्वै देवानां मुखम्'' अग्नि ही देवताओं का मुख है। यह ''अग्नि'' ज्येष्ठ भी है और श्रेष्ठ भी है इसलिए इस का अपमान – निरादर नहीं करना चाहिए। इसका निरादर करोगे तो यह अग्निदेव मृत्यु के पश्चात् होने वाले दाह संस्कार में बदला लेती है। हमने स्वयं देखा है जिसने भी इसका तिरस्कार किया, उसके शरीर को इस ''क्रव्याद'' अग्नि ने स्वीकार नहीं किया। अतः यज्ञ में अग्नि का ''प्रतपन'' करना हर व्यक्ति का कर्त्तव्य बनता है हमारी प्रतिज्ञा भी है –

''अग्निं ईळे''

अर्थात् – जीवन भर मैं अग्नि की स्तुति करूँगा, करनी भी चाहिए।

दूसरा है ''सम्मार्जन''! ''सम्मार्जन'' का अर्थ है ''सम्यक् तथा शोधन'' करना। यह शोधन जल से आता है ''अग्नि'' के द्वारा शरीर की शुद्धि के लिए ''प्रतपन'' किया जाता है और ''जल'' द्वारा ''सम्मार्जन'' करके इस शरीर को अच्छी तरह शुद्ध करना होता है। अतः याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''स वै स्रुचः सम्मार्ष्टि।। १–३–१–१

अर्थात् अब वह स्रुवों का सम्मार्जन करता है अर्थात् उन्हें सम्यक् तथा शोधित करता है यह सम्मार्जन इसलिए भी परमावश्यक है कि मनुष्य का व्यवहार भी देवतुल्य

होना चाहिए। देवता पवित्रता के उपासक होते हैं। पवित्रता उनका दैविक गुण है अतः मनुष्य से भी वही अपेक्षा देवताओं को रहती है। अतः प्रत्येक यज्ञीय पात्रों का सम्मार्जन करना अपरिहार्य होता है। मनुष्य के लिए भी तभी अन्न परोसा जाता है जब पात्र पवित्रता से युक्त होते हैं। यही व्यवहार देवताओं के लिए भी है इसीलिए याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''अथ पात्राणि निर्णेनिजति।। १–३–१–२

अर्थात् तदनन्तर वह पात्रों को धोता है। पात्रों की पवित्रता अनिवार्य है। क्योंकि उन्हीं पात्रों में हमने हविष्य परोसना है। देवता हमारे अतिथि हैं, हम उन्हें हविष्य ग्रहण के लिए पुकारते हैं हम बोलते हैं –

''अग्न ! आ याहि'' ।। सामवेद

अर्थात् हे अग्नि देव! आपने मेरे सान्निध्य में आना है। अतः विधिवत् उसका सत्कार करना हमारा परम कर्त्तव्य बनता है। अतिथि आ गये हैं। अब उन्हें उन्हीं की रुचि के अनुसार हविष्य परोसना है। अतः याज्ञवल्क्य कहते हैं –

तैर्निर्णित्य परिवेविषति एवं वा एष देवानां यज्ञो भवति।। १–३–१–२

उन पात्रों के जो देवताओं की हवि के लिए ग्रहण किये गये हैं उन्हें सम्मार्जित करके उनमें हविष्य को परोसता है। इसलिए याज्ञिक को इस बात का ध्यान रखना है कि सम्मार्जित पात्रों में ही हविष्य पदार्थ लेकर यज्ञ द्वारा देवों को हविष्य परोसना अर्थात् चढ़ाना है। बासी अपवित्र पात्रों में नहीं क्योंकि याज्ञवल्क्य स्पष्ट निर्देश देते हैं ''एवं वा एष देवानां यज्ञो भवति'' अर्थात् निश्चित रूप से यही देवों का यज्ञ होता है।

वर्तमान में अपठित कर्मकाण्डियों द्वारा उपदिष्ट साधारण जनता के मन में अनर्गल व्याख्यान करते हुए शास्त्रीय व्याख्यान को भी अशुद्ध रूप से व्याख्यायित किया गया– और कहा – ''देवता तो भावना के भूखे होते हैं''। बस इस बात को लेकर हमने उल्टा–सीधा कर्म करना प्रारम्भ कर दिया, जबकि कथन का उद्देश्य याज्ञवल्क्य के अनुसार पवित्रता से है। देवता पवित्र–भावना के ही भक्त होते हैं। अतः उन्हें जो भी नैवेद्य व अभिषेच्य–पदार्थ हवि के रूप में देय हों उसमें यजमान को पवित्रता का

ध्यान रखना है। यही पवित्रता सम्मार्जन है। स्रुक् क्या है? इस विषय में याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

यत् शृतानि हवींषि क्लृप्ता वेदिः तेषाम्
एतानि – एव पात्राणि यत् स्रुचः।। १–३–१–२

इस तरह से जो देवों का अन्न तैयार किया जाता है वही उनका हवि पाक हुआ करता है। हवि–पाक की तैयारी के साथ–साथ ही वेदि भी तैयार हो जाती है। पात्र–हवि–अन्न तथा वेदि आदि पात्र स्रुक् हैं। इसीलिए याज्ञवल्क्य ने लिखा –

स वै स्रुचः सम्मार्ष्टि।। १–३–१–१

स्रुक् सम्मार्जन करना चाहिए।

मनुष्य व देवताओं के सम्मार्जन में अन्तर – उस सम्मार्जन के अन्तर को यदि हमने समझ लिया तो हमने भी सम्मार्जन के महत्त्व को जान लिया। भेद केवल मात्र इतना ही है कि मनुष्य अपने पात्रों को जल से धोता है, हाथ से धोता है परन्तु देवताओं के लिए जल ही पर्याप्त नहीं है। इस अन्तर को महर्षि याज्ञवल्क्य ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कहा –

स यत् सम्मार्ष्टिः = वह सम्मार्जन करता है। उसे सम्मार्जन करना भी चाहिए, क्योंकि उसने अब मनुष्यों व देवों के लिए परोसना है। अतः पवित्रता युक्त परोसने के लिए सम्मार्जन करता है। वह सम्मार्जन दो तरह का है –

निर्णेनेक्त्येवः एनाः। एतद् निर्णिक्ताभिः प्रचराणीति।। १–३–१–३

इस धावन के पीछे उसका बहुत बड़ा प्रयोजन है क्योंकि धुले हुए इन पात्रों को उसने व्यवहार में लाना है। उसे यह विचार तो करना ही होगा कि देवता व मनुष्य परस्पर समान तो नहीं है। जब वे समान नहीं हैं तो सम्मार्जन में भी उनके लिए कोई वैशिष्ट्य हमें तलाशना होगा क्योंकि हमने उन पात्रों को सम्मार्जन क्रिया से तराशना है, पात्रों का चमकना ही अपेक्षित है। इस भेद को ही दर्शाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं –

तद् वै द्वयेन एव देवेभ्यो निर्णेनिजति एकेन मनुष्येभ्यः
अद्भिश्च ब्रह्मणा च देवेभ्य आपो हि कुशा ब्रह्म यजुर्
एकेन एव मनुष्येभ्यः अद्भिः एव एवम् उ एतत् नाना भवति।। १–३–१–३

देवता मनुष्यों से महान् हैं, अतः उनका विशेष सम्मान होना चाहिए। तभी उन दोनों में सम्मार्जन का अन्तर दिखाई देगा। अतः देवों के लिए, लिए गए पात्रों को वह दो साधन से धोता है और मनुष्य के लिए, लिए गए पात्रों को एक ही साधन से धोता है। यहाँ अन्तर स्पष्ट दिखाई दिया। वह सम्मार्जन का अन्तर इस तरह से है कि – ''देवों के लिए 'जल' और 'ब्रह्म'' इन दो पदार्थों से सम्मार्जन करता है और मनुष्यों के लिए उस सम्मार्जन का एक मात्र साधन जल ही पर्याप्त है।

यहाँ अब भेद स्पष्ट है। देवताओं के लिए सम्मार्जन दो पदार्थों से किया जाना है, वे पदार्थ हैं – प्रथम जल और दूसरा ब्रह्म है। यहाँ इस बात को जान लेना चाहिए कि देवताओं के लिए कुशा ही जल है, अर्थात् कुशा लेकर ही प्रथम उन पात्रों को जल से धोना है जिनमें हमने उनके लिए हविष्य परोसना है। दूसरा साधन ''ब्रह्म'' अर्थात् वेद और वेद में भी यजुर्वेद ! सर्वप्रथम पात्र को कुशासहित तपाते हुए यजुः के इस मन्त्र का पाठ करना चाहिए –

> ''प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टतप्तं रक्षौ निष्टप्ता
> अरातयः'' ।। १–३–१–४

यजमान सर्वप्रथम स्रुव को हाथ में लेता है। उसे अग्नि में तपाते हुए इस मन्त्र को पढ़ना चाहिए – ''प्रत्युष्टं रक्षः .....'' मन्त्र जपते हुए प्रतपन क्रिया को सम्पन्न करते हुए प्रार्थना करे कि मैंने – राक्षस को जला डाला, मैंने मन में उठने वाली अदानशील प्रवृत्ति को भी जला दिया। मैंने निश्चय से ही राक्षस व अपने अन्दर जागरित अदानशीलता की प्रवृत्ति को तपा दिया अर्थात् उसे शोधित कर बाहर निकाल दिया है। यहाँ याज्ञवल्क्य स्पष्ट शब्दों से व्याख्यान करते हैं –

> देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः। तेऽसुर रक्षसेभ्य आसङ्गाद् बिभयाञ्चक्रुः
> तद् यज्ञमुखाद् एव एतत् नाष्ट्रा रक्षांसि अतः अपहन्ति।। १–३–१–५

अर्थात् निश्चय से ही जब–जब देवताओं ने यज्ञ करने का निश्चय किया वे देव तब–तब असुरों और राक्षसों के यज्ञरोधक भावों के आक्रमण से भयभीत हो गए। तो वैसे ही यज्ञमुख अग्नि द्वारा इस नाशकारी यज्ञरोधक असुर–राक्षसों को मार भगाता है।

फिर वह इसी तरह से कुशा के अग्रभाग से स्रुव के अन्तर्भाग का सम्मार्जन करता हुआ मन्त्र पाठ करता है –

(क) अनिशितोऽसि सपत्नक्षिदिति।। १–३–१–६

वह प्रार्थना करता हुआ कहता है कि ''तू अनुपरत है, तू शत्रुओं का विनाश करने वाला है। यहाँ उपरत न होता हुआ यजमान के असुरों व राक्षसों का विनाश करे'' इस प्रकार प्रार्थना करता है। फिर और मन्त्र पढ़ता है –

(ख) वाजिनं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि।। १–३–१–६

यहाँ प्रार्थना है – ''तू यज्ञ हितकारी है अतः तेरा यज्ञार्थ सम्मार्जन करता हूँ''। यहाँ इस बात का ध्यान रखना है कि यह सम्मार्जन केवल यज्ञ के ही निमित्त है। यहाँ स्रुक् को छोड़कर शेष आहुति–साधनों का मार्जन इसी मन्त्र द्वारा किया जाता है। अब वह पुनः मन्त्र पढ़ता है और उससे स्रुव का मार्जन करता है –

वाजिनं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि।। १–३–१–६

इस मन्त्र भाग द्वारा सभी स्रुवों का सम्मार्जन करता हुआ प्रार्थना करता है कि ''तू हविषान्नवती होने से तुझे यज्ञार्ह करता हूँ'', ऐसा बोलकर स्रुक् का सम्मार्जन करता है, फिर चुप–चाप प्राशित्रहरण पात्र का सम्मार्जन करता है। प्राशित्रहरण पात्र में पुरोडाश का भोजनार्थ भाग ही रखा जाता है इसीलिए उसके चुप–चाप सम्मार्जन का विधान है।

वह सम्मार्जन करता जाता है और सम्मार्जन के पश्चात् तपा–तपा कर देता जाता है। यहाँ तपा–तपा कर का अभिप्राय पात्र को रगड़–रगड़ कर उसे खूब चमकाने से है। अन्तिम बार जब पात्र धो लिया तो फिर उसमें बार–बार हाथ नहीं लगाते उसे तपाते हैं जिससे कि फिर वह मैला न हो जाए। इसीलिए मार्जन के पश्चात् तपा–तपा कर देना है। यही प्रतपन व सम्मार्जन प्रक्रिया है।

सम्मार्जन के विधान का भी व्याख्यान महर्षि याज्ञवल्क्य ने दिया है कि पात्रों को कैसे व किस तरह शोधित करना है ? यहाँ ऋषि लिखते हैं –

स वा इति अग्रैः अन्तरतः सम्मार्ष्टीति। १–३–१–७

अर्थात् सर्वप्रथम वह स्रुव के अन्दर–बाहर भाग को माँजता है। अन्दर के भाग को वह स्रुवा के अर्थात् दर्भ के अग्रभाग से सम्मार्जन करता है तदनन्तर दर्भमूल से बाहर की ओर सम्मार्जन करता है। इन हविष्य पात्रों के सम्मार्जन का यही विधान है कि दर्भ को लेना है। उसी से पहले अन्दर से सम्मार्जन करना है फिर उसे बाहर से रगड़–रगड़ कर चमकाना है।

सम्मार्जन की इस प्रक्रिया को याज्ञवल्क्य वैज्ञानिकता के साथ प्राण और उदान के साथ सम्बन्धित करते हुए लिखते हैं –

मूलैः बाह्यत इतीव वाऽयं प्राण इति इव उदानः। प्राण–उदानौ
एव एतद् दधाति।। १–३–१–७

अर्थात् दर्भाग्रभाग से अन्दर की ओर से सम्मार्जन करना ही यह प्राण है। शरीर में स्थित प्राणों को प्राणायाम के माध्यम से अन्दर से हम पवित्र करते हैं जो अनिवार्य भी है।

दर्भमूल भाग से बाहर की ओर सम्मार्जन करना ही उदान का चिह्न है। आभ्यान्तरिक – बाह्य प्राणायाम से ही हमारा शरीर शुद्ध होता है। इसलिए महर्षि याज्ञवल्क्य यज्ञ में प्राणोदान दोनों का समावेश करता है। इसी सम्मार्जन की क्रिया को शारीरिक लोम से भी उनका संगतिकरण करते हुए लिखते हैं –

तस्माद् इति–इव–इमानि लोमानि इति–इव–इमानि।। १–३–१–७

इसी तरह मनुष्य के रोम भी इस तरह से देखने को मिलते हैं – सामने के रोम ऊपर की तरफ हैं और पीछे के रोम नीचे की ओर हैं। इन सभी का यही अभिप्राय है कि सम्मार्जन सर्वप्रथम अन्दर से फिर बाहर से करना है। सर्वप्रथम स्रुक् व स्रुचों में किसका मार्जन होना चाहिए? यह जिज्ञासा भी मन में उत्पन्न होती है। उस जिज्ञासा का भी निवारण करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य व्यवस्था प्रतिपादन के लिए लिखते हैं –

स वै स्रुवमेव–अग्रे सम्मार्ष्टि।
अथेतरा स्रुचः योषा वै स्रुग् वृषा स्रुवः।। १–३–१–९

वह सर्वप्रथम स्रुव का सम्मार्जन करता है और तदनन्तर स्रुचों को शोधित करता है। ऋषि के मतानुसार यहाँ स्रुक् योषा अर्थात् स्त्री है तथा पुरुष स्रुव है। वृषा पुरुष का वाचक है। पारिवारिक व सामाजिक क्षेत्र में दोनों की प्रधानता है, परन्तु जिससे परिवार व समाज का निर्माण होता हो उन संस्कारों में प्रधानता पिता की ही होती है क्योंकि वह दोनों को पालता है। अतः याज्ञवल्क्य भी पुरुष को प्रधान मानते हुए आगे लिखते हुए प्रमाण सहित बड़ी सुन्दर व्यवस्था देते हैं –

''तस्माद् यद्यपि बह्व्य इव स्त्रियः सार्धं यन्ति य एव
तासु अपि कुमारक इव पुमान् भवति, स एव तत्र
प्रथमः एति अनूच्य इतराः तस्मात् स्रुवम् एव अग्रे
सम्मार्ष्टि अथ इतराः स्रुचः'' ।। १–३–१–९

अर्थात् हम इस संसार में देखते भी हैं कि जहाँ बहुत सी स्त्रियाँ एकत्रित हो जाती हैं और उनके मध्य एक भी पुरुष होता हो चाहे वह अवस्था में कुमार हो उनसे बहुत छोटा हो तो भी अपने–आपको प्रधान जानता हुआ उनसे आगे चलना वह अपना कर्त्तव्य समझता है। यहाँ यह जान लेना अपरिहार्य है कि वह पुरुष है इस अभिमान में आगे चलता हो। आगे चलने का भी कारण है जो आज याज्ञवल्क्य की महती कृपा से समझ में आया। पुरुष आगे–आगे चलता है, क्योंकि वह रक्षक है। रक्षा करना ही उसका कर्त्तव्य है। अतः स्त्रियाँ रक्षणीया होती हैं यही समझकर उन्हें अपने पीछे चलाता है, इसीलिए प्रथम स्रुव का मार्जन और पश्चात् में अन्य स्रुचों का सम्मार्जन करना चाहिए।

वह सम्मार्जन इस तरह करें कि पात्र साफ करते हुए जल के छींटे अग्नि में न पड़ें। अग्नि में छींटा पड़ना ऐसा ही है जैसे जिसे थाली परोसनी हो उसे उसी थाली आदि बर्तनों का छींटा दे दें। जैसे समाज में इस व्यवहार को अशिष्ट – असभ्य माना जाता है उसी तरह से धावन का छींटा पड़ना भी अपराध है। अतः पूर्व की ओर आगे बढ़कर सम्मार्जन करें जिससे अग्नि में छींटे न पड़ सकें।

कुशा से सम्मार्जन के पश्चात् उस कुशा का क्या किया जाये? इसकी व्यवस्था देते हुए भी याज्ञवल्क्य ने कहा –

''उस यज्ञ में कोई–कोई लोग स्रुक् सम्मार्जनी अर्थात् जिस कुशा से बर्तनों को साफ किया गया है उसे भी आग में डाल देते हैं। उनका तर्क होता है कि वह कुशा भी वेदि हो गई है क्योंकि इससे कुशा का सम्मार्जन किया गया है। अतः वह तो उसी का अंग है, तथा जो पदार्थ एक बार यज्ञीय अंग बन गया हो उसे बाहर नहीं करना चाहिए, वे उस दर्भ को भी आग में डाल देते हैं। याज्ञवल्क्य इस कर्म का विरोध करते हुए, इसे अनुचित, अव्यावहारिक मानते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं –

तदु तथा न कुर्याद् यथा यस्मै अशनम् आहरेत् तं पात्रं
निर्णेजनं पाययेद् एवं तत्–तस्माद्–उ परास्येद् एव एतानि।।

१–३–१–११

कर्मकाण्ड में कभी भी ऐसा नहीं करना चाहिए। यह तुम्हारा ऐसा कर्म तो वैसा ही हुआ कि जिस अतिथि के लिए थाली परोस कर लाये तो उसे उसी बर्तन का धावन पिला दो। जैसे इस कर्म को असभ्य माना गया है, इसी तरह से पात्र माँजने की कुशा को अग्नि में डालना अशिष्टता है। अतः उन कुशाओं को पात्र–सम्मार्जन के पश्चात् फेंक देना चाहिए। यही उचित भी है।

उपसंहार – विधिवत् यह सम्मार्जन हो, उसके दो ही साधन हैं १. प्रतपन, २. सम्मार्जन। इसके लिए साधन हैं – अग्नि व जल तत्त्व। सर्वप्रथम अग्नि से तपाना है और तदनन्तर जल से सम्मार्जन करना है। वह सम्मार्जन मन व शरीर पर वस्त्रादि का भी होना अनिवार्य है। वह क्रम वस्त्र–धावन की तरह है, पहले वस्त्र को गरम जल में डुबोते हैं, फिर ठण्डे जल से धोएँ और फिर धूप में सुखाया जाता है। यह क्रम अग्नि, जल और फिर अग्नि के रूप में होता है।

शरीर को भी भस्मान्त माना है, मृत देह का पहले प्रतपन अर्थात् अग्निदहन होता है। तदनन्तर ही अवशिष्ट भस्मादि का जल में प्रवाह कर दिया जाता है। यही तो सम्मार्जन है। यही क्रम यहाँ भी रखना चाहिए।

* * *

२९-नवविंशतितमपाथेयम्

पत्नीबन्धनम्

कर्मकाण्ड के क्षेत्र में विशेषतः यज्ञ में पत्नी का स्थान महत्त्वपूर्ण है। पत्नी को पत्नी इसीलिए कहा जाता है कि उसने पति के साथ कन्धे से कन्धा मिला कर चलना होता है। इसीलिए महर्षि पाणिनि अपने व्याकरण शास्त्र में इस शब्द को परिभाषित करते हुए लिखते हैं –

''पत्युर्नो यज्ञसंयोगे''

अर्थात् जो स्त्री पति द्वारा किये जा रहे उसके सम्पूर्ण यज्ञों में अपनी सहभागिता निभाती हो उसे ही पत्नी कहा जाता है। इसीलिए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी विवाह के समय संस्कार विधि में लिखते हुए कहा है –

तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः।।

पारस्करगृह्यसूत्रम् १–७–२

अब मैं उसी कथा का वर्णन करता हूँ जिनमें स्त्री के उत्तम यश का ही बखान हो अर्थात् जिसमें नारी का सर्वोत्तम यश होता है।

गृहस्थ प्रकरण में महर्षि दयानन्द मनु के वचनों को ही उद्धृत करते हुए पुनः लिखते हैं :–

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।।१।। मनु. ३–५६
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा।।२।। मनु. ३–५७
जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यति समन्ततः।।३।। मनु. ३–५८

जिस कुल में नारियों की पूजा अर्थात् सत्कार होता है, उस कुल में दिव्यगुण, दिव्य भोग और उत्तम सन्तान होते हैं और जिस कुल में स्त्रियों की पूजा नहीं होती, वहाँ जानो उनकी सब क्रिया निष्फल है।।१।।

जिस कुल में स्त्रियाँ अपने–अपने पुरुषों के वेश्यागमन वा व्याभिचारादि दोनों से शोकातुर रहती हैं, वह कुल शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाता है और जिस कुल में स्त्रियाँ पुरुषों के उत्तमाचरणों से प्रसन्न रहती हैं, वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है।।२।।

जिस कुल और घरों में अपूजित अर्थात् सत्कार को न प्राप्त होकर स्त्रियाँ जिन गृहस्थों को शाप देती हैं, वे कुल तथा गृहस्थ जैसे विष देकर बहुतों को एक बार नाश कर देवें, वैसे चारों ओर से भ्रष्ट हो जावें।। ३।।

एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः।

उत्कर्षं योषिताः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः।।४।। मनु. ९/२४

यदि स्त्रियाँ दुष्टाचरणयुक्त भी हों, तथापि इस संसार में बहुत स्त्रियाँ अपने पतियों के शुभ गुणों से उत्कृष्ट हो गईं, होती हैं और होंगी भी। इसलिए यदि पुरुष श्रेष्ठ हों तो स्त्रियाँ श्रेष्ठा और पुरुष दुष्ट हों तो स्त्रियाँ दुष्ट हो जाती हैं। इससे प्रथम मनुष्यों को उत्तम होके स्त्रियों को उत्तम करना चाहिए।।४।।

प्रजननार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः।

स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन।।५।। मनु. ९/२६

हे पुरुषो ! सन्तानोत्पत्ति के लिए महाभाग्योदय करने हारी, पूजा के योग्य, गृहाश्रम को प्रकाशित करने वाली, सन्तानोत्पत्ति करने–कराने वाली घरों में जो स्त्रियाँ हैं वे भी लक्ष्मीस्वरूपा होती हैं, क्योंकि लक्ष्मी, शोभा, धन और स्त्रियों में कुछ भेद नहीं।। ५।।

अपत्यं धर्मकर्माणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।

दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह।।६।। मनु. ९/२८

सन्तानोत्पत्ति, धर्म–कार्य, उत्तम सेवा और रति तथा अपना और पितरों का जितना सुख है, वह सब स्त्री के ही आधीन होता है।।६।।

इसीलिए उनके महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए अथर्ववेद कहता है –

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः।
स्योना श्वश्रै प्र गृहान् विशेमान्।। अथर्व. १४–२–२६

वरानने ! अच्छे मङ्गलाचरण करने वाली तथा दोष और शोकादि से पृथक् रहने वाली, गृहकार्य में चतुर और तत्पर रहकर उत्तम सुख युक्त होके, पति श्वशुर और सास के लिए सुखकर्त्री और स्वयं प्रसन्न हुई इन घरों में सुखपूर्वक प्रवेश कर।।

यजुर्वेद भी महिला का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए मन्त्र में महत्वपूर्ण बखान करता है, जो इस तरह से है –

इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति।
एता तेऽअघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मां सुकृतं ब्रूतात्।। यजु. ८–४३।।

अर्थात् हे ताड़ना न देने योग्य, आत्मा से विनाश को प्राप्त न होने वाली, श्रेष्ठशील से प्रकाशमान, प्रशंसनीय गुणयुक्त, स्वीकार करने योग्य, मनोहर स्वरूप, रमण करने योग्य, अत्यन्त आनन्द देने वाली, अनेक अच्छी कलाएँ और वेद जानने वाली, अत्यन्त प्रशंसा करने योग्य, प्रशंसित विज्ञान वाली पत्नी! उत्तम गुण प्रकाश करने वाले तेरे ये नाम हैं। तू उत्तम गुणों के लिए मुझ को उत्तम उपदेश किया कर।

इसका भावार्थ भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। अतः महर्षि दयानन्द सरस्वती इस मन्त्र का भावार्थ लिखते हुए कहते हैं –

जो विद्वानों से शिक्षा पाई हुई स्त्री हो वह अपने और अन्य सब स्त्रियों को यथायोग्य उत्तम कर्म सिखलाए, जिससे किसी तरह वे अधर्म की ओर न डिगे। वे दोनों स्त्री–पुरुष विद्या की वृद्धि और बालकों तथा कन्याओं को शिक्षित किया करें।

इस मन्त्र से पूर्व के मन्त्र में यजुर्वेद में स्त्री के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। मन्त्र कहता है –

आजिघ्र कलशं मह्या त्वा विशन्त्विन्दवः। पुनरूर्जा
निवर्तस्व सा नः सहस्रं धुक्ष्वोरुधारा पयस्वती
पुनर्माविशताद्रयिः।। यजुः–८–४२।।

अर्थात् हे प्रशंसनीय गुणवाली स्त्री! जो तू विद्या और अच्छी–अच्छी शिक्षाओं को अत्यन्त धारण करने प्रशंसित अन्न और जल रखने वाली है। वह गृहाश्रम के शुभ कामों में नवीन धारा को आघ्राण कर अर्थात् उसको जल से पूर्णकर उसकी उत्तम सुगन्धि को प्राप्त हो। फिर तुझे असंख्यात सोम आदि औषधियों के रस प्राप्त हों, जिससे तू दुःख से दूर रहे अर्थात् कभी तुझ को दुःख न प्राप्त हो। तू पराक्रम से हम को परिपूर्ण कर पीछे मुझे धन प्राप्त हो।

भावार्थ में महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि विद्वान् स्त्रियों को योग्य है कि अच्छी परीक्षा किए हुए पदार्थ को जैसे आप खायें वैसे ही अपने पति को खिलावें कि जिससे बुद्धि, बल और विद्या की वृद्धि हो और धनादि पदार्थों को भी बढ़ाती रहें।

इस तरह मन्वादि ऋषियों ने तथा महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेद व स्मृति के मन्त्र व श्लोकों की व्याख्या करते हुए नारी के महत्त्व को उजागरित किया है। लेखक ने भी श्लोकों व मन्त्रों के अर्थ महर्षि दयानन्द के अनुसार यहाँ पर वैसे के वैसे ही स्थापित किए हैं।

जिस नारी का इतना महत्त्व है वहाँ याज्ञवल्क्य भी कहाँ पीछे रहने वाले थे। उन्होंने भी अपने शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ का विस्तार नारी को ही माना है। अतः वे लिखते हैं –

अथ पत्नीं सन्नह्यति। जघनार्धो वा एष यज्ञस्य यत्पत्नी
प्राङ् मे यज्ञस्तायमानो यादिति युनक्ति एव एनाम् एतद्
युक्ता मे यज्ञम् – अन्वासता इति।। १–३–१–१२

प्रतपन व सम्मार्जन प्रक्रिया के पश्चात् अब यजमान अपनी पत्नी को रस्सी से बाँधता है क्योंकि यज्ञ का पिछला आधा भाग पत्नी का है। मेरे इस यज्ञ का विस्तार हो अर्थात् आगे ही आगे बढ़े। इसीलिए यजमान पत्नी को भी यज्ञ में जोतता है, जिससे कि यज्ञ में जुती हुई वह मुझ यजमान का अनुगमन करे।

अब याज्ञवल्क्य आगे लिखते हैं कि वह –

योक्त्रेण सन्नह्यति।। १–३–१–१३

अर्थात् अब वह योक्त्रेण अर्थात् बैल को गाड़ी में जोतने की रस्सी से बाँधता है, वर्तमान में यदि वह रस्सी उपलब्ध न हो तो उसकी प्रतीकात्मक रस्सी ग्राह्य है। वह सूत की डोरी होती है उसी से बन्धन किया करें। विधि के अनुसार जिसे जोतना हो उसे जोतने का चिह्न यही है इसलिए इससे जोतता है। बन्धन का अभिप्राय है कि पत्नी का एक भाग यज्ञ की दृष्टि से अपवित्र है। वह जो नाभि से नीचे का भाग है उसे अपवित्र माना गया है। क्योंकि उसके सामने अभी आज्य को लाना है, अतः उसके दर्शन की विधि आने वाली है इसीलिए पत्नी को योक्त्र से अन्तर्धान करता है। जिससे पत्नी का जो पवित्र उत्तर भाग है उससे घृत की ओर देखती है इसीलिए पत्नी को बाँधता है।

बन्धन विधि का विधान करते हुए याज्ञवल्क्य पुनः लिखते हैं –

स वा अभिवासः सन्नह्यति।। १–३–१–१४

अर्थात् अब यजमान वह बन्धन कपड़ों के ऊपर बाँधता है। यह वस्त्र ओषधि का चिह्न है। वह रस्सी वरुण देवता सम्बन्धिनी रज्जु है। वर्तमान में पुलिस महकमे की वस्तु है। जैसे पुलिस का कर्मचारी कर्त्तव्यनिष्ठ होकर अपने कर्त्तव्य को निभाता है, अडिगता व स्थिरता के लिए उसकी कमर में भी पुलिसपेटी को धारण किए हुए रहता है, उसी तरह यज्ञ में पत्नी के साथ तद्वत् अडिगता व स्थिरता यज्ञ में रखनी है। इसीलिए वह ग्रन्थि बन्धन करता है।

अब वह रस्सी और पत्नी के बीच औषधियों की ओट करता है। इसीलिए वस्त्रों के ऊपर बाँधता है। उस समय बाँधते हुए मन्त्र पढ़ता है –

''अदित्यै रास्नासि'' इति।। यजुः १–३०।।

अर्थात् इस पृथिवी का नाम अदिति है। फिर यह पृथिवी देव पत्नी है। इस समय यजमान की पत्नी भी यह पृथिवी बनी खड़ी है। इसीलिए यजमान उसके लिए मेखला बनाता है। यह मेखला मन्त्रपूर्वक बनती है, यह रस्सी नहीं है अर्थात् वह मेखला है। वही मेखला बनाई जाती है।

याज्ञवल्क्य के मतानुसार उस मेखला में गाँठ न बाँधें। बन्धन का कार्य पुलिस विभाग का है वह अपराधी को गाँठ बाँध कर कैदखाने ले जाते हैं। यहाँ तो यज्ञीय

विधान है, उस विधान में पत्नी को उस रस्सी से बाँधा है, जो मन्त्रपूर्वक यजमान ने बनाई है। अतः याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''स वै न ग्रन्थिं कुर्यात्'' ।। १–३–१–१६

अर्थात् निश्चय से सन्नहन विधि में गाँठ न बाँधे, उस रस्सी से गाँठ नहीं बाँधनी चाहिए। यह गाँठ तो वरुण की होती है। गाँठ बाँधने से तो वरुण पत्नी का मालिक हो जायेगा, उसे पकड़ लेगा। इसीलिए गाँठ नहीं बाँधनी चाहिए।

अब याज्ञवल्क्य बन्धनादि की पूर्ण व्यवस्था का वर्णन करते हुए लिखते हैं –

''ऊर्ध्वमेवोद् गूहति'' विष्णोर्वेष्पोऽसि इति।। १–३–१–१७

अर्थात् ग्रन्थि न बाँध कर दोनों सिरे ऊपर की ओर करके दाहिना पाश दूसरे सिरे से लटकाता है। उस समय वह यजुः का मन्त्र बोलता है –

''विष्णोर्वेष्पोऽसि इति'' ।।

अर्थात् तू विष्णु से व्याप्य है। इस मन्त्रांश को पढ़कर उसे ऊपर की ओर मोड़ता है। वह विष्णु से व्याप्य है। अतः पत्नी को चाहिए कि वह वेदि के पश्चिम से पूर्वाभिमुख न बैठे। वह पृथिवी अदिति है, वह देवों की पत्नी है। देवों की पत्नी वेदि के पश्चिम को पूर्वाभिमुख बैठती है। यदि यह स्त्री भी ऐसा ही करे तो अदिति हो जायेगी और शीघ्र ही परलोक सिधारेगी। अपने नियत स्थान पर बैठ कर बहुत दिनों जीती है। अदिति को प्रसन्न रखती है और अदिति उसको हानि नहीं पहुँचाती। इसीलिए पत्नी को दक्षिण की ओर हट कर बैठना चाहिए।

यहाँ मैं (लेखक) इस विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए स्वामी समर्पणानन्द महाराज की दी गई पंक्तियों को पाठकों के लिए दे रहा हूँ, जो इस तरह से हैं –

''परन्तु यह जोतना इतना सुकुमार हो कि इसमें कठोरता का लेश भी न हो। उसे गाड़ी खींचने में आनन्द आए। रस्सी हो पर अखरे नहीं। इसीलिए कपड़ों के ऊपर बाँधता है। उसे ऐसी ढीली बनाता है कि पत्नी उसे अपने शृंगार की रसना (करधनी) समझे और इसीलिए गाँठ नहीं बाँधता। बन्धन है, पर बिना गाँठ का कितना मधुर बन्धन है। गाँठ वाले बन्धन में तो कैदी बाँधे जाते हैं। पत्नी रानी है, कैदी नहीं। परन्तु

रानी का काम विलासमय जीवन नहीं, किन्तु 'जुतना' है और पति का काम है जोतने योग्य बनाना, अर्थात् पहले अपने आपको जोतना। उसके सामने आदर्श है भगवती सर्वसहा धरित्री। इसीलिए वह पृथिवी के आसन पर नहीं बैठती। जो इस पर चढ़कर बैठती है, अर्थात् माता पृथिवी सहनशीलता, उर्व्वरता आदि जिन आदर्शों को सामने रखती है उन आदर्शों पर चढ़ बैठती है, उन्हें कुचल डालती है, वह थोड़े दिन विलास का आनन्द ले कर नष्ट हो जाती है।''

इस सन्दर्भ में स्वामी जी महाराज के ये अपने उद्‌गार थे जो हमने यहाँ लिख दिए हैं। वास्तविकता में याज्ञवल्क्य का ग्रन्थिबन्धन से यही अभिप्राय है कि पत्नी यज्ञ में स्थिर रहेगी तो पति भी स्थिर बना रहेगा। जैसा कि यजुः के मन्त्र में दर्शाया गया है वह यजुः मन्त्र इस तरह से है –

''ध्रुवासि ध्रुवोऽयं यजमानोऽस्मिन्नायतने प्रजया पशुभिर्भूयात्।
घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथामिन्द्रस्य छदिरसि विश्वजनस्य छाया'' ।।

यजुः ५–२८ ।।

इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं कि – ''हे यज्ञ करने वाले यजमान की स्त्री ! जैसे तू राज्य वा अपने सन्तानों और हाथी, घोड़े, गाय आदि पशुओं के सहित इस जगत् व अपने स्थान वा सबके सत्कार कराने के योग्य यज्ञ में दृढ़ संकल्प है वैसे यह यज्ञ करने वाला तेरा पति यजमान भी दृढ़ संकल्प है। तुम दोनों घृत आदि सुगन्धित पदार्थों से आकाश और भूमि को परिपूर्ण करो। हे यज्ञ करने वाली स्त्री ! तू अत्यन्त ऐश्वर्य को भी अपने यज्ञ से प्राप्त करने वाली है। अब तू और तेरा पति यह यजमान संसार का सुख करने वाला हो।

अब भावार्थ में ऋषि लिखते हैं –

''मनुष्य को चाहिए कि जिन यज्ञ करने वाले यजमान की पत्नी और यजमान से तथा जिस यज्ञ से दृढ़ विद्या और सुखों को पाकर दुःखों को छोड़े उनका सत्कार तथा उस यज्ञ का अनुष्ठान सदा ही करता रहे।''

यजमान की पत्नी और यजमान के प्रति ये महर्षि दयानन्द के उद्‌गार थे। यहाँ भी स्त्री की दृढ़ता का प्रतिपादन इस तरह दिया है कि ''ध्रुवाऽसि ध्रुवोऽयं यजमानः'' अर्थात् यदि पत्नी दृढ़ संकल्प है तो पति तो स्वतः ही दृढ़ संकल्प होगा। अतः याज्ञवल्क्य भी लिखते हैं –

''अथ पत्नीं सन्नह्यति।।''

अर्थात् प्रतपन व सम्मार्जन प्रक्रिया के पश्चात् अब यजमान अपनी पत्नी को रस्सी से बाँधता है। यही बन्धन दृढ़ता का प्रतीक है। हमें भी दृढ़ता से इस यज्ञ को करना चाहिए तभी यज्ञ का लाभ सभी को प्राप्त होगा। इति।।

* * *

पत्नी द्वारा घृत अवलोकन

यज्ञ को ''यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'' क्रियमाण इस यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म माना गया है। यज्ञ में प्रधानता ''घृत'' की मानी गई है क्योंकि ''घृतप्रिया वै देवाः'' देवताओं को यज्ञीय पदार्थों में घृत ही प्रिय है। अतः याज्ञवल्क्य सभी यज्ञीय पदार्थों में सर्वप्रथम घृत अवलोकन का निर्देश देते हुए लिखते हैं –

अथाज्यमवेक्षते। योषा वै पत्नी रेत आज्यं मिथुनम्
एव एतत् प्रजननं क्रियते तस्मादाज्यमवेक्षते।।१ ।। १–३–१–१८

अब वह पत्नी घृत को देखती है। यहाँ पत्नी स्त्री है और आज्य जो घृत है वह वीर्य है। इस प्रकार दोनों में सम्पर्क स्थापित करके सन्तति प्रजनन कर देता है। इसीलिए पत्नी आज्य को देखती है।

इस बात को यहाँ जान लेना चाहिए कि जैसे पत्नी में सन्तानोत्पत्ति के लिए वीर्य की आवश्यकता होती है, उसी तरह यज्ञ में घृत की प्रधानता होती है। प्रजनन प्रक्रिया में दोनों समान हैं। अतः पत्नी यज्ञ में सर्वप्रथम यज्ञ करने से पूर्व घृत को ही देखती है। घृत शुद्ध हो, उसमें वीर्य की तरह स्निग्धता होनी चाहिए इसीलिए वह घृत देखती है।

वह घृत–दर्शन मन्त्रपूर्वक होता है वह मन्त्र पढ़ती है –

''अदब्धेन त्वा चक्षुषावपश्यामि''इति।। यजुः १–३०।।

अर्थात् मैं तुझे अनझपकी दृष्टि से तथा दोष रहित दृष्टि से देखती हूँ। अर्थात् पवित्र भावना से देखती हूँ। आगे फिर वह कहती है –

''अग्नेर्जिह्वासि इति।। यजुः १–३०।।

अर्थात् अब हवन करते हैं तब उसमें लपटें–सी उठती हैं। इसलिए कहता है – ''अग्नेः जिह्वासि'' ।।

फिर आगे कहते हैं –

''सुहूर्देवेभ्यः'' ।। यजुः १–३० ।।

अर्थात् तू देवों के लिए उत्तम हो। आहुतियों में घृत से उत्तम कोई पदार्थ नहीं अतः पर्याप्त मात्रा में यज्ञ में घृत का उपयोग होना चाहिए इसीलिए कहा गया है – ''सुहवं देवेभ्यः' इति।

अब आगे और कहा जाता है –

धाम्ने धाम्ने मे भव यजुषे यजुषे।। यजुः १–३० ।।

इसका तात्पर्य यह है कि यह घृत मेरे धाम–धाम अर्थात् मेरे हर ठौर के लिए है। तथा सम्पूर्ण यजुः के लिए हो अर्थात् सम्पूर्ण यज्ञ के लिए हो। अर्थात् सम्पूर्ण यज्ञ में घृत की ही प्रधानता होगी, अन्य पदार्थों की नहीं। इस बात का ध्यान हमें रखना होगा।

इस कण्डिका को एकरूपता में बाँधते हुए स्वामी समर्पणानन्द महाराज ने एक सुन्दर व्याख्यान दिया है जो इस तरह से है –

इस प्रकार पूरा वाक्य यों हुआ :–

अदब्धेन त्वा चक्षुषाऽवपश्यामि।

अग्नेर्जिह्वासि सुहूर्देवेभ्यो धाम्ने धाम्ने मे भव यजुषे यजुषे।।

इसका भाव यह है कि पत्नी–पति तथा पुत्र दोनों के वीर्यरूप निधि की पहरेदार है। उसके सामने पुरोडाश के रूप में एक पुत्र अथवा जामाता है और वेदिरूप कन्या अथवा पुत्रवधू है। इस जोड़े की वीर्यसम्पत्ति उत्तम तब हो सकती है जब वह स्वयं सन्तान उत्पन्न करने में इस बात का ध्यान रखे और कन्या के विवाह होने पर भी इस विषय में सावधान आँख रखे। पत्नी कहती है – हे वीर्य ! मैं अनझपकी आँख से तुझे देखती हूँ। तू ही हमारे कुल–संकल्प रूप अग्नि की जिह्वा है, सब देवों को उत्तम आहुति दे अर्थात् जिस दिन शरीर वा मानस गुणों के योग से उत्तम सन्तान बनती है उन सबको ही तेरी आहुति पहुँचे। हमारे कुल ठौर–ठौर और समारम्भ–समारम्भ में तेरा राज्य हो'' ।

इस सुन्दर उपदेश से हमें आज्य अर्थात् ''घृत'' के महत्त्व को समझ लेना चाहिए। यह आज्य ही आहुति के रूप में ठौर–ठौर तक जाने में सक्षम है। इसीलिए वह आज्य को देखती है।

यहाँ सभी याज्ञिकों को इस बात का ध्यान अवश्य रखना होगा कि जब यज्ञ के लिए हमने घृत को आज्यपात्र में लिया तो उसे सीधे यज्ञवेदि पर लाकर याज्ञवल्क्य के मतानुसार वेदि के भीतर रखना है। यह भीतर रखने से अभिप्राय वैसे है जैसे कि हम बोलते हैं –

''गङ्गायां घोषः''

अर्थात् उसका घर गंगा के अन्दर है अर्थात् गंगा के तट पर है। यहाँ भी ध्वनि है कि हमें भी यज्ञ के घृत को वेदि के ऊपर मध्य मेखला पर रखना है। मध्य पर भी इसीलिए कि नीचे भूलोक है और ऊपर ''द्यौ' लोक है। अब यजमान पर निर्भर करता है कि वह अपने यज्ञ को 'भू' लोक में ही रखना चाहता है कि यज्ञ को अन्तरिक्ष से ''द्यौ'' लोक में पहुँचाना चाहता है। इसीलिए घृत को वेदि के ऊपर रखना चाहिए। इसीलिए याज्ञवल्क्य ने कहा –

''अथाज्यमवेक्षते।।''

* * *

आज्योत्पवन विधि

यज्ञ में पवित्रता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रारम्भ से ही याज्ञवल्क्य ने प्रोक्षणीपात्र को लेकर पवित्रता का विधान किया है। अब यहाँ भी इस विधि का विधान ''आज्योत्पवन विधि'' के रूप में किया है। इस विधि का अर्थ है – ''घृत को पवित्र'' करना यही आज्योत्पवन विधि है।

यज्ञ में घृत देवों के लिए होता है क्योंकि –

''घृतप्रिया वै देवा भवन्ति'' देवता लोगों को घृत प्रिय होता है। अब घृत की पवित्रता का ध्यान रखते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

> प्रोक्षणीषु पवित्रे भवतः। ते ततः–आदत्ते
> ताभ्याम्–आज्यम्–उत्पुनाति–एकः–वा–
> उत्पवनस्य बन्धुः मेध्यम्–एव–एतत् करोति।। १–३–१–२२

दोनों पवित्रे प्रोक्षणी पात्र में रखे होते हैं। उन्हें वहाँ से लेकर उनके द्वारा घृत को पवित्र करता है। इस विधि का एक ही बन्धु अर्थात् कारण है कि घृत को पवित्र करता है। उस घृत को पवित्र करते हुए मन्त्र को पढ़ता है, वह मन्त्र का भाग इस तरह से है–

> ''सवितुस्त्वा प्रसवः उत्पुनामि–अच्छिद्रेण पवित्रेण
> सूर्यस्य रश्मिभिः।। यजुः १/३१।।

अर्थात् सविता की प्रेरणा से छिद्ररहित पवित्रों से सूर्य की रश्मियों से हे घृत! तुझे पवित्र करता हूँ।

अब आज्य में लिपटे हुए पवित्रों से प्रोक्षणी पात्रों को पवित्र करता है फिर उसी मन्त्र को पढ़ता है –

''सवितुर्वः प्रसव – उत्पुनामि अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः।।

१–३–१–२४

इसका अर्थ भी पूर्ववत् है। क्रिया भी पूर्ववत् करनी है। पहले हमने पवित्रियों से घृत को पवित्र किया था। अब हमें घृत से सन्नी पवित्रियों से जल को पवित्र करना है। यह प्रक्रिया महत्त्वपूर्ण है, अतः याज्ञवल्क्य आगे लिखते हैं –

तद्यत् आज्यलिप्ताभ्याम् पवित्राभ्याम् प्रोक्षणीः
उत्पुनाति तत् अप्सु पयः दधाति तद् इदम्–अप्सु
पयः हितम्–इदं हि यदा वर्षति अथ औषधयः जायन्त औषधिः
जग्ध्वा अपः पीत्वा ततः एषः रसः सम्भवति
तस्मात् उ रसस्य उ च एव सर्वत्वाय।। १–३–१–२५

अर्थात् अब वह जो आज्यलिप्त अर्थात् घी से लिपे हुए पवित्रों से प्रोक्षणी जल को पवित्र करता है सो आपः में दूध की स्थापना करता है। जल में दूध हितकर होता है। जब बरसता है तो औषधियाँ उत्पन्न होती हैं। औषिधियों को खाकर और जल को पीकर ही रस बनता है। ऐसा करने से वह यजमान को रसयुक्त और पूर्ण कर देता है।

यहाँ इस बात को अवश्य समझना व जान लेना चाहिए कि यह ''आज्योत्पवन'' विधि आज्य व प्रोक्षणी–पात्र के जल के परस्पर संशोधन के लिए है। यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ''अप्सु पयः दधाति'' वह जल में दूध को मिलाता है। याज्ञवल्क्य के मतानुसार दूध मिश्रित जल से औषधियाँ उत्पन्न होती हैं। वे रस युक्त हो जाती हैं उसी तरह यजमान भी रसयुक्त और पूर्ण हो जाता है। अतः हमें भी उस जल के पात्र में दूध मिला देना चाहिए जिससे कि यजमान रस युक्त और पूर्ण हो जावे।।

* * *

अध्वर्यु द्वारा घृतावेक्षण विधि

यज्ञ में ''अध्वर्यु'' का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता है क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञ की रक्षा का भार ''अध्वर्यु'' पर ही होता है। उसने ही यज्ञ के सभी घृतादि अङ्गों की व्यवस्था करनी है। उसके बिना शान्तिपूर्वक यज्ञ सम्पन्न ही नहीं हो सकता, क्योंकि यजमान ने तो आहुति विधिवत् चढ़ाकर यज्ञसम्पन्न करना है। अतः यज्ञ का रक्षक अध्वर्यु होता है। अतः याज्ञवल्क्य यहाँ लिखते हैं –

> अथ आज्यम् अवेक्षते। तद् ह एके यजमानम् अवख्यापयन्ति
> तत् उ ह उवाच याज्ञवल्क्यः कथं नु न स्वयं अध्वर्यवः
> भवन्ति कथं स्वयं न अन्वाहुर्यत्र भूयस्य इव
> आशिषः क्रियन्ते कथं नु एषाम्–अत्र–एव श्रद्धा भवति इति
> याम् वै कां च यज्ञे ऋत्विज आशिषम्–आशासते–
> यजमानस्यैव सा तस्माद् अध्वर्युः एव अवेक्षेत।। १–३–१–२६

अर्थात् अब अध्वर्यु आज्य को देखता है। कुछ लोगों का मत है कि यजमान को देखना चाहिए। इस पर फटकार लगाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यजमान स्वयं ही अध्वर्यु क्यों नहीं बन जाते? स्वयं ही आशीर्वाद के मन्त्र क्यों नहीं पढ़ लेते? उनकी यही श्रद्धा क्यों है कि अध्वर्यु से ही यह कार्य करवाना है। यज्ञ में ऋत्विज् लोग जो भी मंगल कार्य करते हैं वह सब यजमान के लिए होता है। अतः आज्य–घृत अध्वर्यु को ही देखना चाहिए।

अब आगे याज्ञवल्क्य घृतावेक्षण अर्थात् घृत दर्शन की व्यवस्था का विधान करते हुए लिखते हैं –

> सः अवेक्षते। सत्यं वै चक्षुः सत्यं हि वै चक्षुः
> तस्मात् यत् इदानीं द्वौ विवदमान अवेयाताम् अहम्
> अदर्शम् अहम् अश्रौषम् इति यः एवं ब्रूयात्

अहम् अदर्शम् – इति तस्मै एव श्रद्दध्याम तत्
सत्येन एव एतत् समर्द्धयति।। १–३–१–२७

अर्थात् वह अध्वर्यु घृत का अवलोकन करता है क्योंकि प्रत्यक्ष सत्यता का सबसे बड़ा प्रमाण है। इसलिए जब दो मनुष्य विवाद करते हुए न्यायालय में आ गये उनमें से एक कहे कि मैंने देखा और दूसरा कहे कि मैंने सुना। तो जो यह कहता है कि मैंने देखा उसी की बात मानी जाती है। आगे पुनः याज्ञवल्क्य निर्देश देते हुए लिखते हैं –

अथाज्यमादाय प्राङ् उदाद्रवति।। १–३–१–२०।।

पहले अग्नीध्र गार्हपत्य में पत्नी सहित घृत को पिघलाकर पीछे उस घृत को लेकर पूर्व की ओर आता है और आहवनीय पर रखता है। यह माना करें कि हमारी समस्त हवियाँ आहवनीय पर पकें। जिसके कुल में आहवनीय में पुरोडाश पाक की प्रथा है वह यही चाहता कि मेरा सारा यज्ञ आहवनीय में ही सम्पन्न हो। गार्हपत्य पर वह आज्य को इसीलिए रखता है कि पत्नी को देखने का अवकाश मिल सके। यह तो ठीक न होगा कि यज्ञ करते समय आहवनीय अग्नि पर से उठा कर आज्य को केवल इसीलिए पश्चिम को लाया जाये कि पत्नी को देखने का अवकाश मिल सके। यदि पत्नी को आज्य न दिखाया जाये तो इसका अर्थ यह होगा कि पत्नी को यज्ञ में कोई अधिकार नहीं दिया गया। ऐसा करने से वह पत्नी को यज्ञ के अधिकार से बहिष्कृत नहीं कर सकता और पत्नी के निकट पकाकर और पत्नी को दिखाकर ही पूर्व की ओर ले जाता है, इसलिए पत्नी को साथ लेकर दोनों इकट्ठे मिलकर गार्हपत्य पर पिघला कर फिर पूर्व की ओर लाता है।

याज्ञवल्क्य पत्नी के अभाव में अर्थात् जिनके पत्नी साथ न हो उसकी व्यवस्था देते हुए लिखते हैं। –

यस्य उ पत्नी न भवति अग्रे एव तस्याहवनीये
अधिश्रयति तत् ततः आदत्ते तदन्तर्वेद्यासादयति।। १–३–१–२०

अर्थात् जिसकी पत्नी उपस्थित न हो, मर गई हो या अन्य कारण हो तो वह पहले से आहवनीय पर चढ़ाए। फिर उसे अर्थात् घृत को वहाँ से लेता है और वेदि भीतर रख देता है।

यहाँ कुछ लोगों का मानना है कि घृत को वेदि के अन्दर न रखें। इस घृत से देव पत्नियों को आहुतियाँ दी जानी हैं। इस प्रकार वह देव पत्नियों को सभा में बहिष्कृत करता है अर्थात् अपमानित करता है। देव पत्नियों का भाग यज्ञवेदि को अर्थात् अपनी पुत्रवधू को देता है फिर परिणाम यह होगा कि उसकी पत्नी का भाग दूसरों को मिल जायेगा। इसका परिणाम यह होगा कि यजमान की पत्नी यजमान से रुष्ट हो जाएगी क्योंकि कोई अपना भाग बाँटना नहीं चाहेगा। अतः यहाँ भी इस स्थिति में याज्ञवल्क्य व्यवस्था देते हुए लिखते हैं –

तदु ह उवाच याज्ञवल्क्यो यथादिष्टं पत्न्याऽस्तु
कस्तद् आद्रियेत यत् परः पुंसा वा पत्नी स्याद् यथा
वा यज्ञो वेदिः यज्ञः आज्य यज्ञाद् यज्ञं निर्ममा
इति तस्माद् अन्तर् वेदिः आसादयेत्।। १–३–१–२१

अर्थात् इस पर अब याज्ञवल्क्य आदेश देते हैं कि जिस प्रकार यहाँ आज्ञा दी गई है। उसी प्रकार पत्नी का व्यवहार होना चाहिए। पराये पुरुषों के साथ उठना–बैठना और उनसे बात–चीत करना यदि वह यज्ञ के निमित्त अर्थात् लोकोपकार के निमित्त शास्त्र के आदेशानुसार हो तो फिर उसकी परवाह कौन करे ? अर्थात् यज्ञार्थ–लोकोपकारार्थ यहाँ चिन्ता नहीं करनी चाहिए। अपने इस कार्य से विचलित नहीं होना चाहिए कि दुनिया क्या बोलेगी ? दुनिया का काम बोलना है हमें तो याज्ञवल्क्य के आदेश को मानना है। वे आगे कहते हैं कि वेदि भी यज्ञांग है, घृत भी यज्ञांग है, यज्ञ से यज्ञ का निर्माण हो इसी लिए आज्य को वेदी में ही रखना चाहिए। अर्थात् वेदि के ऊपर रखें, देखे हुए को ही सत्य माना जाता है।

इस प्रकार वह सत्य से इसकी वृद्धि करता है। सत्य में ही श्रद्धा होनी चाहिए। अतः जिसने देखा है वही प्रमाण के योग्य है, सुनी हुई बात पर कोई भी विश्वास नहीं करता। अतः यहाँ कर्मकाण्ड में वेदि पर सुस्थिर होकर घृत का अवलोकन करता है। उसे करना भी चाहिए क्योंकि वही सम्पूर्ण यज्ञ का रक्षक है। वह ऐसे ही नहीं मन्त्रपूर्वक दर्शन करता है, इसीलिए याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

सः अवेक्षते। ''तेजोसि, शुक्रम् असि, अमृतमसि'' इति
सः एष सत्यः एव मन्त्रः – तेजो हि एतत् शुक्रं
हि एतद् अमृतं हि एतत् तत् सत्येन एव एतत् समर्द्धयति।।

१–३–१–२८

यहाँ अध्वर्यु यजुः के इस मन्त्रांश का पाठ करते हुए बोलता है कि तू तेजोसि, शुक्रम् असि, अमृतम् असि'' वीर्य तेज है शुक्र है, अमृत है। इसको सत्य के प्रकाश से समृद्ध करना है। इस लिए यह मन्त्र ठीक तो है क्योंकि आज्य शुक्र, तेज है, अमृत है। इस प्रकार वह सत्य से इसकी अभिवृद्धि करता है।

यहाँ पर स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती का तात्पर्य अवलोकन के लिए अनिवार्य है। उसको यहाँ पर पाठक के हित में अभिलक्षित कर दिया जा रहा है, जो इस तरह से है –

''तात्पर्य यह कि जहाँ पत्नी का कर्त्तव्य है कि गृहस्थाश्रम में पति के वीर्य की रक्षा करे वहाँ पुरोहित का भी यह कर्त्तव्य है कि यजमान को सदा स्मरण दिलाता रहे कि तेरा वीर्य तेरा तेज है। यही शुच् अर्थात् क्रान्ति पैदा करता है, यही अमृत है और इस विषय में पुरोहित अपने कर्त्तव्य को किसी दूसरे पर न डालें, परन्तु स्वयं अपनी आँख से निरीक्षण करे। जहाँ इस प्रकार लोग पुरोहित के निरीक्षण में रहने को तैयार हैं वहाँ ही सच्ची वीर्य रक्षा हो सकती है, परन्तु इस विषय–लम्पट युग में प्रथम ऐसे पुरोहित ही कहाँ मिले ? फिर यदि मिल भी गए तो कौन अपने आपको उनके निरीक्षण में रखता है।।

इस टिप्पणी पर हमें ध्यान देना है। पुरोहित को कर्त्तव्य निभाना है, वही कुल सुरक्षित है जिसका पुरोहित सजग है, पुरोहित की सजगता अनिवार्य है। इसीलिए याज्ञवल्क्य लिखते हैं ''स अवेक्षते'' इति।।

* * *

३३-त्रयस्त्रिंशत्तमपाथेयम्

पुरुषो वै यज्ञः

संसार का सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद को माना गया है। उसमें प्राणी मात्र के लिए एक आदेश दिया गया है, जो बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। यदि सम्पूर्ण विश्व उस आदेश का पालन करता तो प्राणी मात्र में ये लड़ाई–झगड़े कभी भी न होते, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का यह मानव–जगत् एकसूत्र में बन्धा होता। न कोई ईसाई, न कोई मुसलमान, न कोई यहूदी न कोई बुद्ध, न कोई जैन, न कोई सिखादि अन्य जातियों में यह मनुष्य विभक्त होता, क्योंकि इस वेद ने सम्पूर्ण मानव–जाति के लिए एक ही आदेश दिया है –

''मनुर्भव''

अर्थात् हे मानव ! तुमने इस संसार में बस मनुष्य बनना है। अन्य इधर–उधर नहीं भटकना, मतान्तरों में नहीं उलझना बस एक ही मत है, एक ही धर्म है, वह है मनुष्य बन।

महाभारत में महामानव भीष्म पितामह व युधिष्ठर का एक संवाद आता है कि भीष्म पितामह एक दिन प्रातः अपने आसन पर बैठे हैं, युधिष्ठिर के आने का समय हो गया है। युधिष्ठिर को आते हुए देख भीष्म पितामह कहते हैं – बेटा युधिष्ठिर दौड़ कर जल्दी आओ, आज तुम्हें मैं गुह्य ब्रह्म ज्ञान देना चाहता हूँ। यह ऐसा गोपनीय ज्ञान है कि इसके सन्दर्भ में बड़े–बड़े ऋषि–मुनियों ने बड़ी–बड़ी बात कही है। युधिष्ठिर भी आज्ञा का पालन करता हुआ दौड़ता हुआ भीष्म पितामह के पास आता है, चरणों में नमन करता है, हाथ जोड़ कर खड़ा हो जाता है, तब भीष्म पितामह ने कहना प्रारम्भ किया –

''गुह्यं–न हि मानुष्यात् श्रेष्ठतरमिह किञ्चित्।।''

हे पुत्र युधिष्ठर ! तुझे मैं आज ऐसा गुह्य अर्थात् गोपनीय ज्ञान देना चाहता हूँ। उसे बेटे ध्यान–पूर्वक सुन ''न हि मनुष्याद् श्रेष्ठतरमिह किञ्चित्'' अर्थात् इस संसार

में मनुष्य से श्रेष्ठ अन्य कोई भी वस्तु नहीं है। अतः इस मनुष्यता को जीवन भर सुरक्षित रखना है। जिस मनुष्य का इतना सुन्दर महत्त्व है तो उस सन्दर्भ में महर्षि याज्ञवल्क्य भी अपने जगत् प्रसिद्ध मुख्य–प्रतिष्ठ कर्म–काण्ड प्रतिबन्धक शतपथ ब्राह्मण–ग्रन्थ में लिखते हैं –

पुरुषो वै यज्ञः। पुरुषस्तेन यज्ञो यदेनं पुरुषस्तनुते
एष वै तायमानो यावान् एव पुरुषः तावान्
विधीयते तस्मात् पुरुषो यज्ञः।। १–३–२–१

मनुष्य को अपने जीवन का एक–एक क्षण सुविभक्त कर रखना चाहिए। सुविभक्त जीवन ही सुखकारी व श्रेयस्करी रहता है। कर्म काण्ड में दो शब्दों का प्रयोग होता आया है – वह है ''प्रयाज'' और ''अनुयाज''। इन शब्दों की सुन्दर व्यवस्था स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज ने इस तरह से किया है –

''अभी यदि मनुष्य अपने गृहस्थाश्रम को सुखी बनाना चाहे तो उसे अपने जीवन का एक–एक क्षण सुविभक्त करके रखना चाहिए, वह विभाग किस प्रकार होना चाहिए यह आगे बताते हैं। विभाग के तीन अंग हैं १. उद्देश्य, २. काल, ३. सामग्री। सबसे पहले उसे अपने उद्दिष्ट कार्यों की सूची बनानी चाहिए। वे कार्य उसके जीवन के देवता हैं और वास्तव में तो उन कार्यों में भी एक मुख्य और शेष उसके सहायक हो, मुख्य कार्य अग्नि है और शेष उसके सहायक है। फिर उसमें से प्रत्येक कार्य को जितना समय देना है वह उस कार्य का ''प्रयाज'' है और उस अनुकूल जितनी सामग्री बाँटनी है वह 'अनुयाज' है। बस इस प्रकार अपने जीवन के छोटे से छोटे अंग को इन विभागों में बाँटने की आदत पड़ने पर ही मनुष्य का जीवन यज्ञ रूप हो सकता है। इसीलिए याज्ञवल्क्य ने कहा –

''पुरुषो वै यज्ञः''

अर्थात् यज्ञ ही पुरुष है। यज्ञ पुरुष क्यों है? इस जिज्ञासा पर कहते हैं कि – इसीलिए कि पुरुष ही यज्ञ को तानता है और जब तन जाता है तो यज्ञ इतना बड़ा हो जाता है कि जितना पुरुष। इसलिए अपने विस्तार में यह उतना ही रूप धारण करता

है, उतना ही बनाया जाता है जितना इसका विस्तार करने वाला पुरुष। इसीलिए ''यज्ञ'' पुरुष है।

अब आगे यज्ञ–पुरुष का विस्तार से विभागीकरण याज्ञवल्क्य द्वारा किया जायेगा, जिसमें यज्ञ–पुरुष के अंगों–प्रत्यंगों का विभागीकरण करते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं कि –

तस्य इयम्–एव जुहूः। इयम्–उपभृत् आत्मा
एव ध्रुवा तद् वा आत्मनः एव इमानि सर्वाणि
अङ्गानि प्रभवन्ति तस्माद् उ ध्रुवायाः एव सर्वः यज्ञः प्रभवति।।

१–३–२–२

अर्थात् इस यज्ञरूप पुरुष की यह दाहिनी भुजा ही ''जुहू'' है और यह बाँई भुजा उपभृत है और आत्मा अर्थात् धड़ ही ध्रुवा है। इस धड़ से ही सब अंग उपजते हैं इसलिए ध्रुवा से ही सब यज्ञ उत्पन्न होता है अर्थात् जिस प्रकार आत्मा की उपस्थिति से ही वीर्य में से सारे अंग प्रादूर्भूत होते हैं इसी प्रकार ध्रुवा से ही सारा यज्ञ चलता है। आगे विस्तार से याज्ञवल्क्य कहते हैं कि –

''स्रुव'' यज्ञपुरुष का 'प्राण' है, प्राण ही सब अंगों को अपना–अपना अभीष्ट पदार्थ पहुँचाता है। इसीलिए ''स्रुव'' सब स्रुचों तक घृत संचार द्वारा उनका प्रतिपालन करता है।

ब्रह्माण्ड यज्ञ में भी यही बात देखने में आ रही है। इस यज्ञ की द्यौ जुहू है, उपभृत् अन्तरिक्ष और ध्रुवा पृथिवी इसी से सम्पूर्ण लोकों की सामग्री प्रादुर्भूत होती है इसी प्रकार ध्रुवा से ही सारा यज्ञ चलता है।

यह जो सारे अन्तरिक्ष में बहने वाला वायु है वही स्रुवा है। वायु का संचार सब लोकों में होता है। इसीलिए स्रुवा सभी स्रुचों में अनुसरण करता है।

आगे अब जब यज्ञ को ताना जाता है अर्थात् यज्ञ का विस्तार किया जाता है। इस यज्ञ के तीन विस्तार के अधिगम्य हैं। जिनके निमित्त विस्तार होता है – देवों के लिए, ऋतुओं के लिए, छन्दों के लिए। वह हवि सोमराजा और पुरोडाश देवों के लिए होती

है। वह जब इनको लेता है तो उन–उन देवताओं का नाम लेकर कहता है – ''मैं अमुक देवता के लिए तुझ प्रिय को लेता हूँ। इस प्रकार वह उस देवता की हो जाती है।

अब जब आज्य अर्थात् घृत लिया जाता है वह ऋतुओं और छन्दों के निमित्त लिया जाता है। उसमें नाम निर्देश के बिना ही घृत लेता है। फिर चार बार जुहू में घृत लेता है और उपभृत में आठ बार।

अब आगे याज्ञवल्क्य फिर इस सन्दर्भ में कहते हैं –

''सः यत् चतुः जुह्वां गृह्णाति। ऋतुभ्यः तत्
गृह्णाति प्रयाजेभ्यः हि तत् गृह्णाति।
ऋतवः हि प्रयाजा तत् तद् अनादिश्य आज्यस्य
एष रूपेण गृह्णाति अजमितायै जामि
ह कुर्यात् यत् वसन्ताय त्वा ग्रीष्माय त्वा
इति गृह्णीयात् तस्मात् अनादिश्य आज्यस्य
एव रूपेण गृह्णाति।। १–३–२–८

अर्थात् जुहू में जो चार बार लेता है वह ऋतुओं के लिए लेता है, प्रयाजों के लिए लेता है। प्रयाज ही ऋतु है, वह आज्य को लेने में किसी का नाम नहीं लेता, अजामिता के लिए। यदि ''वसन्ताय त्वा ग्रीष्माय त्वा'' ऐसा कहे तो फिर तो जामिता आ जाए अर्थात् फिर तो विशेष ऋतु से सम्बन्ध हो जाये। इसलिए बिना नाम लिए ही आज्य को लेता है। तात्पर्य तो यह है कि देवता नहीं बदलता ऋतु तो आवश्यकतानुसार बदलती रहती है, उद्देश्य नहीं बदलता समय–विभाग बदलता रहता है। किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कितने ग्रीष्म, कितने वसन्त की आवश्यकता है, यह नियम से नहीं कहा जा सकता, इसलिए यहाँ ऋतु विशेष का नाम नहीं लिया जा सकता, किन्तु हाँ इतना तो आवश्यक है कि कोई न कोई समय–विभाग अवश्य चाहिए।

फिर जो आठ बार उपभृत में आज्य लेता है यहाँ छन्दों के निमित्त लेता है तथा अनुयाजों के लिए लेता है। अनुयाज ही छन्द हैं। उनको बिना नाम लिए ही लेता है – अजामिता के लिए, यदि ''गायत्र्यै त्वा, त्रिष्टुभे त्वा'' कहे तब तो छन्द विशेष से

सम्बन्ध हो जायेगा फिर यहाँ जामिता आ जायेगी। इसीलिए इसे आज्य के रूप में ही बिना देवता का नाम लिए ही लेता है।

अब जब वह ध्रुवा में चार बार लेता है वह सम्पूर्ण यज्ञ के निमित्त लेता है। इसको भी वह आज्य के रूप में बिना देवता का नाम लिए ही लेता है। नाम किस देवता का लिया जाए? वह तो सभी देवताओं के लिए निकलता है इसीलिए बिना नाम लिए ही आज्य के रूप में उसको लेता है।

इस स्थूल यज्ञ से मूल यज्ञ को जानता हो तो यजमान को ''जुहू'' समझो। यजमान ''जुहू'' के पीछे खड़ा होता है और जो उसका अशुभ चिन्तक है वह उपभृत के पीछे। खाने वाला ''जुहू'' के पीछे खड़ा होता है और खाई जाने वाली चीज उपभृत के पीछे, ''जुहू'' खाने वाला है और उपभृत खाद्य, ''जुहू'' में चार बार लेता है और उपभृत में आठ बार लेता है।

अब जो चार बार ''जुहू'' में लेता है वह भोक्ता को परिमित्तर, छोटे परिमाण वाला बनाता है, आठ बार जो उपभृत में लेता है तो आज्य को अपरिमित्तर अर्थात् बड़े परिमाण वाला बनाता है। जहाँ खाने वाला छोटा हो और खाद्य पदार्थ बहुत हो वहाँ यह समृद्धि का सूचक है। तभी समृद्धि होती है।

इस तरह ''जुहू'' में चार बार में बहुत आज्य ले लेता है और उपभृत में आठ बार लेता है, किन्तु मात्रा में जुहू की अपेक्षा कम लेता है।

सो वह ''जुहू'' में चार बार घृत लेता है और अधिक मात्रा में लेता है। इससे वह खाने वाले को छोटा और परिमित बनाकर उसमें अधिक वीर्य अर्थात् बल को दे देता है। उपभृत में जो आठ बार में थोड़ा आज्य लेता है उससे खाद्य को अपरिमित और बहुत बना देता है और उसको शक्तिहीन तथा निर्बल बना देता है। जैसे राजा एक–एक ही स्थान से बैठा–बैठा बहुत–सी प्रजा को वश में करके उन पर मनचाहा राज करता है इसी प्रकार अध्वर्यु जुहू में बहुत–सा घृत ले लेता है। अब जो जुहू में लेता है वह भी जुहू द्वारा हवन किया जाता है। जो उपभृत में लिया जाता है वह भी जुहू द्वारा ही हवन किया जाता है।

सो इस पर यह पूछते हैं कि जब उपभृत से हवन नहीं करते तब उसमें घृत लेते क्यों हैं? सो इसका उत्तर यह है कि यदि उपभृत से पृथक् हवन होने लगे तो शासनीय और शासक का कोई सम्बन्ध ही न रहे। न खाने वाला रहे न खाद्य। यह जो साथ–साथ जुहू से आहुति देता है, यह ऐसा ही है जैसे वैश्य लोग राजा को कर देवे। उपभृत से जो लेता है उसका अर्थ यह है कि राजा के आधीन प्रजा, पशु आदि की प्राप्ति करती है और जब उपभृत के आज्य की भी जुहू द्वारा आहुति दी जाये तो इसका तात्पर्य यह है कि राजा जब चाहे वैश्य से कहे जो इकट्ठा किया है उसे मुझे दो, इस प्रकार वह उसको वश में ही रखता है और जो चाहता है उसको इस शक्ति के द्वारा ले लेता है।

वे आज्य छन्दों के लिए, लिए जाते हैं। जो जुहू में चार बार लिए जाते हैं वे गायत्री के लिए होते हैं। जो उपभृत् में आठ बार लिए जाते हैं वे त्रिष्टुप् और जगती के लिए। जो ध्रुवा में चार बार लिए जाते हैं वे अनुष्टुप् के लिए। वाणी अनुष्टुप् है, वाणी में ही यह सब प्रजा जन्म लेती है। ध्रुवा से ही सब यज्ञ उत्पन्न होते हैं। अनुष्टुप् पृथिवी है, पृथिवी से सब जगत् उत्पन्न होता है। अतः ध्रुवा से ही सब यज्ञ उत्पन्न होते हैं।

अब याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

> सं गृह्णाति। ''धाम नामासि प्रियं देवानाम्'' इति
> एतत् वै देवानां प्रियतमं धाम यद्–आज्यं–तस्माद्
> आह धाम नाम असि प्रियं देवानाम् इति–अनाधृष्टं
> देवयजनम्–असि–इति वज्रः हि आज्यम् तस्माद् आह
> ''अनाधृष्टं देवयजनम् असि'' इति।। १–३–२–१७

यहाँ याज्ञवल्क्य कहते हैं – वह घृत को ग्रहण करता है। उस समय वह यह मंत्रांश बोलता है – ''धाम नाम असि प्रियं देवानामिति'' यह वीर्य का प्रतिनिधि घृत ही देवों का प्रियतम धाम है। इसलिए कहा – धाम नाम असि प्रियं देवानाम्। आगे कहते हैं – ''अनाधृष्टं देवयजनमसि'' सो यह नियमपूर्वक मर्यादा से प्रयोग की हुई घृतोपलक्षित

शक्ति वज्र के समान ओजस्वी किसी की घर्षणा न सहने वाला प्रभाव उत्पन्न करती है इसीलिए कहा –

''अनाधृष्टं देवयजनमसि''

मनुष्य को यत्न करना चाहिए कि यह अनुपात जो स्वाध्यायादि कर्मों का तथा देश काल सामग्री का नियत किया गया है इसे धृष्ट न होने दे तभी उनका घर देवयजन बनेगा।

इस प्रकार 'धाम नाम असि प्रियं देवानामिति'। इस वाक्य को बोलकर एक बार 'जुहू' में घृत ग्रहण करता है। फिर तीन बार चुप–चाप। फिर इसी वाक्य से एक बार उपभृत में घृत लेता है, सात बार चुप–चाप। फिर इसी वाक्य से एक बार ध्रुवा में लेता है, तीन बार चुप–चाप। कुछ लोग कहते हैं कि तीन बार मन्त्र बोलें क्योंकि यज्ञ त्रिवृत् है परन्तु यह उद्देश्य तो एक बार मन्त्र बोल कर पूरा हो जाता है क्योंकि जुहू, उपभृत और ध्रुवा में तीन बार मन्त्र हो जाता है।

इस तरह से याज्ञवल्क्य ने यज्ञ के सभी अंग–प्रत्यंगों का वर्णन करते हुए यज्ञ ''पुरुषो वै यज्ञः'' इस प्रतिज्ञा वाक्य की विस्तृत व्याख्या कर दी है। इसीलिए याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट शब्दों में लिख दिया –

''तस्य इयम् एव जुहूः। इयम् उपभृत आत्मा एव
ध्रुवा तत् वा आत्मनः एव इमानि सर्वाणि अङ्गानि
प्रभवन्ति तस्माद् उ ध्रुवायाः एव सर्वः यज्ञः प्रभवति''।। १–३–२–२

अर्थात् इस यज्ञ रूप पुरुष की यह अर्थात् दाहिनी भुजा ही ''जुहू'' है। यह वाम भुजा ''उपभृत्'' है और आज्य अर्थात् धड़ ही ध्रुवा है। जिस प्रकार आत्मा की उपस्थिति से वीर्य में सारे अंग प्रादुर्भूत होते हैं उसी प्रकार ध्रुवा से ही सारा यज्ञ चलता है।

यही यज्ञ पुरुष का वर्णन है। जिसमें स्रुवा, उपभृत् व ध्रुवा का ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।

* * *

जल–प्रोक्षणविधिः

यज्ञ में जल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बिना जल के यज्ञ आगे बढ़ ही नहीं सकता है। जैसे मानव–जीवन बिना जल के नहीं चल सकता है उसी तरह से यज्ञ का संचार बिना जल के असंभव है, क्योंकि जल शब्द का निमार्ण ज+ल इन दो अक्षरों से हुआ है। इनका तात्पर्य है – 'ज' से अभिप्राय जीवन से है क्योंकि ''जल'' को ही हमारे यहाँ जीवन माना गया है और 'ल' का अर्थ है ''लय'' अर्थात् गति। जिस जीवन में गति नहीं वह जीवन किसी काम का नहीं। अतः जल वह पदार्थ है जो जीवन तो देता ही है परन्तु उसमें सञ्चार को भी पैदा करता है इसी तरह यज्ञ में भी जल को ही सञ्चार माना गया है।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिस जल का इतना महत्त्व है उस जल को कहाँ रखा जाता है ? तो कर्म–काण्ड में उस जल को जिस पात्र में रखा जाता है उसे ''प्रोक्षणी–पात्र'' कहते हैं। यज्ञ के कर्म–काण्ड में वेदि पर इसी से जल ग्रहण कर यज्ञ के कर्म काण्ड की विधि को सम्पन्न किया जाता है। अतः अब महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''प्रोक्षणीरध्वर्युः आदत्ते।। १–३–३–१

अर्थात् अब अध्वर्यु प्रोक्षणी जल को ग्रहण करता है। यहाँ इस बात का ध्यान अवश्य रखना है कि यज्ञ में अध्वर्यु का महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि प्रोक्षणी जल को वही ग्रहण करता है। आगे फिर कहा –

स इध्मम्–एव–अग्रे प्रोक्षति।। १–३–३–१

अर्थात् वह अध्वर्यु इध्म अर्थात् २० इन्धनों की गठरी को जो २० पुरुष के गुणों की सूचक है उसका प्रोक्षण करता है। यहाँ २० का विधान इस लिए किया गया है कि पुरुष की पूर्णता भी पाँच महाभूत, पाँच तन्मात्राएँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ व पाँच कर्मेन्द्रियों से मिल कर (इन २० गुणों से) होती है और इध्म भी २० इंधनों की गठरी से युक्त ग्रहण

करनी चाहिए। इस तरह वह उसका प्रोक्षण करता है। वह ''इध्म प्रोक्षण'' मन्त्रपूर्वक होता है। वही मन्त्र बोलता है –

''कृष्णः असि आखरेष्ठः'' अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि–इति। अर्थात् हे इध्म! तुम आकर्षण किये हुए आखरेष्ठ हो अर्थात् तू इध्मवीरवान् है। वह खान जिससे ''हीरा'' उत्पन्न होता है अर्थात् यह इध्म की गठरी भी हीरे से कम नहीं है अतः भावनाओं से ओतप्रोत होकर उस इध्म की गठरी को प्रोक्षण–जल से अभिसिञ्चित करता है, उसे पवित्र करता है और कहता है –

तन्मेध्यम् एव एतद् अग्नये करोति।। १–३–३–१

अर्थात् तुझे अग्नि की तृप्ति के लिए पवित्र करता हूँ। इस प्रकार वह उसको अग्नि के लिए पवित्र करता है।

अग्नि की तृप्ति इध्मों से ही सम्भव है। वह पवित्रतापूर्वक हो तो ''सोने में सुहागा'' जैसी बात हो जावे। यह सारी व्यवस्था अध्वर्यु की है। अतः ''प्रोक्षणीरध्वर्युरात्ते'' यह याज्ञवल्क्य का कथन समुचित है। आगे पुनः याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

अथ वेदिं प्रोक्षति।। १–३–३–२

अर्थात् अब वह वेदि का प्रोक्षण करता है अर्थात् यज्ञ करने के लिए बनी वेदि पर उसके पवित्रीकरण के लिए छींटे देता है। यज्ञ की पवित्रता के लिए परमावश्यक भी है। छींटे देते हुए इस मन्त्र को पढ़ता है –

''वेदिः असि बर्हिषे त्वा जुष्टां प्रोक्षामि'' इति

तत् मेध्याम् एव एतद् बर्हिषे करोति।। १–३–३–२

इस यजुः (२–१) मन्त्र से वेदि को सिंचित करता हुआ बोलता है – ''तू वेदि है, बर्हि के लिए तुझे पवित्र करता हूँ'' इस प्रकार वेदि को बर्हि के लिए पवित्र करता है। यह पवित्रीकरण आवश्यक भी है क्योंकि बर्हिस्तरण इसके पश्चात् होना है। आगे फिर बर्हि को पवित्र करने का विधान याज्ञवल्क्य जी करते हुए लिखते हैं –

अथ अस्मै बर्हिः प्रयच्छति।। १–३–३–३

अर्थात् अब फिर अग्नीध्र उस अध्वर्यु को बर्हि अर्थात् वेदि पर चारों ओर बिछाने के लिए कुशाओं का गुच्छा देता है। उसे पूर्व की दिशा में ग्रन्थि करके रखता है। उसका प्रोक्षण अर्थात् जल सिञ्चन करता है। यह जल सिञ्चन मन्त्र पूर्वक करता है। सिञ्चन करते हुए यजुः के इस मन्त्रांश का पाठ करता है –

''बर्हिः असि स्रुग्भ्यः त्वा जुष्टं प्रोक्षामि''इति।। १–३–३–३

अब वह इस पर जल छिड़कते हुए यजुः के मन्त्र का पाठ करते हुए कहता है कि ''तू बर्हि'' है। मैं तुझे स्रुचों के लिए पवित्र करता हूँ। इस प्रकार वह उस बर्हि को स्रुचों के लिए पवित्र करता है।

अब याज्ञवल्क्य प्रोक्षणी–पात्र के अवशिष्ट जल के सन्दर्भ में व्यवस्था देते हुए लिखते हैं –

अथ याः प्रोक्षण्यः परिशिष्यन्ते। ताभिः ओषधीनाम्
मूलानि उपनिनयति ''अदित्यै व्युन्दनम् असि'' इति
इयं वै पृथिवी अदितिः तत् अस्यै एव एतत्–मूलानि
उपोनत्ति ताः इमाः आर्द्रमूलाः ओषधयः–
तस्माद् यद्यपि शुष्काणि अग्राणि भवन्ति आर्द्राणि एव मूलानि भवन्ति।।
१–३–३–४

अर्थात् अब जो प्रोक्षणी में प्रोक्षणार्थ जल में जो जल शेष रह जाता है वह बर्हि के मूल अर्थात् जड़ में डाल दिया जाता है। जल डालते हुए वह इस यजुः के मन्त्रांश को बोलता है'' अदित्यै व्युन्दनम् असि'' इति अर्थात् औषधियों के मूलों को सींचता हुआ कहता है – ''तू'' अदिति को आर्द्र करने का साधन है। यह पृथिवी ही अदिति है, वह पृथिवी पौधों के मूलों को तर करता है। पौधों की जड़ें तर होती हैं। आगे के भाग शुष्क हों तब भी जड़ें तर ही रहती हैं।

इस अवशिष्ट जल का हमें प्रयोग करना चाहिए। इस जल से शुष्क वृक्ष भी तर हो कर रस भरा हो जायेगा। अतः थोड़ा सा जल लेकर दक्षिण से उत्तर की ओर बहा कर शेष जल पौधों में डालना चाहिए। इस अवशिष्ट जल का हमें सदुपयोग करना चाहिए।

* * *

बर्हिस्तरणम्

याज्ञवल्क्य वेदि के निर्माण के पश्चात् वेदि की नग्नता स्वीकार नहीं करते, क्योंकि वेदि की नग्नता को देखकर देव अपना–अपना हविष्य पदार्थ ग्रहण करने नहीं आते। क्योंकि वे वेदि की नग्नता को देखकर भयभीत हो वापिस लौटते हैं। अतः याज्ञवल्क्य 'बर्हिस्तरणम्' के इस प्रकरण में लिखते हैं कि –

''अथ विस्त्रंस्य ग्रन्थिम्। पुरस्तात् प्रस्तरं गृह्णाति'' ।। १–३–३–५

अर्थात् अब फिर दर्भ समूह के बन्धन की ग्रन्थि को खोलता है। फिर प्रस्तर नामक तृण समूह को अलग करता है, क्योंकि उसने वेदि के चारों तरफ दर्भ समूह के प्रस्तर को बिछाना है। उस समय यजुः के इस मन्त्रांश को पढ़ता है –

''विष्णोः स्तुपः असि इति'' । १–३–३–५

अर्थात् यह ही विष्णु है, यह स्तुप ही उसकी शिखा है। सो इस स्तुप को लेते हुए शिखर स्थापन करता है यह स्थापन अग्रभाग से लिया जाता है क्योंकि स्तुप भी मनुष्य के अग्रभाग अर्थात् शिखर पर है। यहाँ पर यह विचारणीय है कि याज्ञवल्क्य ने यहाँ उस दर्भसमूह को ही यज्ञ माना है, क्योंकि दर्भसमूह को ही यज्ञ वेदि के चारों तरफ बर्हिस्तरणम् के रूप में बिछाता है।

अब वह बर्हि के पूले को खोलता है यह बन्धन खोलना यजमान के लिए महत्त्वपूर्ण है। वह इसीलिए कि यजमान की पत्नी बिना कष्ट के उत्तम सन्तान को पैदा कर सके, फिर उस बन्धन को वेदि की दक्षिण श्रोणी पर रखता है। यह उसकी 'निवी' है अर्थात् वह यजमान की कमर का प्रतिनिधि है इसीलिए दाहिनी श्रोणी में रखता है। वह उसको बर्हि से आच्छादित कर देता है क्योंकि कमर भी कपड़ों से ढकी रहती है – यह उसके आच्छादित करने का दूसरा हेतु है।

आगे याज्ञवल्क्य इसी सन्दर्भ में बहुत ही सुन्दर बात का विवेचन करते हैं जो इस तरह से है –

अथ बर्हिस्तृणाति। अयं वै स्तूपः प्रस्तरः अथ
यानि अवाञ्चि लोमानि तानि एव
अस्य यत् इतरं बर्हिः तानि एव अस्मिन्
एतत् दधाति तस्मात् बर्हिस्तृणाति।। १–३–३–७

अब फिर बर्हि के पूले को वेदि पर बिछाता है, प्रस्तर नामक तृण को जो आगे का सिरा है, जो यज्ञ की शिखा है, उसको आगे करता है, क्योंकि इससे वह स्त्री–पुरुष दोनों को ही इसमें सम्मिलित करता है। यज्ञ के लिए दूसरी घास ऐसी है जैसे चोटी से इतर स्थान के लोग। अब जो अन्य नीचे के लोग हैं वही यह शेष कुशा है। सो उन लोगों को इस यज्ञ में इस बर्हिस्तरण की क्रिया द्वारा स्थापित करते हैं। अतः वह बर्हिस्तरण करता है।

हमें इस कण्डिका से यह समझ लेना चाहिए कि जैसे कुशा के स्तुप में छोटे–बड़े सभी घास बर्हिस्तरण में सम्मलित होते हैं, उसी तरह से यज्ञ में भी यजमान दम्पती के साथ छोटे–बड़े सम्मलित हो सकते हैं। होना भी चाहिए क्योंकि यज्ञ सर्वहिताय है, इसीलिए बर्हिस्तरणम् किया जाता है। फिर याज्ञवल्क्य बर्हिस्तरण के महत्त्व को उदाहरण सहित प्रकाशित करते हुए लिखते हैं कि –

योषा वै वेदिः। ताम्–एतत्–देवाः च पर्यासते
ये च इमे ब्राह्मणाः शुश्रुवांसः, अनूचानाः
तेषु एव एनाम् एतद् पर्यासीनेषु अनग्नां
करोति। अनग्नतायाः एव तस्मात् बर्हिस्तृणाति।। १–३–३–८

वेदि योषा है अर्थात् वेदी को भी इतना महत्त्व दिया गया है जितना कि एक स्त्री को दिया गया है। जिस तरह से वेद में स्त्री को संसार का ब्रह्मा माना गया है, उसी तरह यज्ञ में वेदि का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः याज्ञवल्क्य ने ''योषा वै'' इस वाक्य का प्रयोग किया है। वेदि के चारों तरफ देवता और वेद के ज्ञाता ब्राह्मण लोग जो

बहुश्रुत और बहुत अनुवचन अर्थात् अध्यापन करने वाले हैं, ये सब बैठे होते हैं। इन विद्वानों के चारों ओर बैठने पर स्त्री को नग्न होकर नहीं आना चाहिए। जिस तरह यहाँ स्त्री की नग्नता मान्य नहीं है उसी तरह से 'वेदि' की नग्नता भी आदर योग्य नहीं है। अतः वेदि का बर्हिस्तरण किया जाता है। आगे याज्ञवल्क्य कहता है –

> यावती वै वेदिः तावती पृथिवी–ओषधयः बर्हिः तद्–अस्याम्
> एव एतत्–पृथिव्याम्, ओषधीः दधाति, ताः–इमाः–अस्यां
> पृथिव्याम् ओषधयः प्रतिष्ठिताः तस्मात्–बर्हिस्तृणाति।। १–३–३–९

अब बर्हिस्तरण विधि द्वारा वेदि के महत्त्व को प्रतिपादित किया जाता है कि जितनी वेदि है उतनी पृथिवी है। इसलिए यदि हम ''स्त्री'' को भी वेदि के समान मानें तो उसमें पृथिवी के समान विशालता का महत्त्वपूर्ण गुण होना चाहिए। यह मेरा है, वह तेरा है, इन संकुचित भावनाओं से ऊपर उठना होगा – ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' अर्थात् सम्पूर्ण धरती और मानव जाति को ही अपना समझना होगा। तभी याज्ञवल्क्य का कथन ''योषा वै वेदिः'' यह सार्थक होगा। बर्हि औषधि का रूप है। मानो पृथिवी में बर्हि को बिछाता हुआ औषधि रख रहा है। इस पृथिवी में ये औषधियाँ तथा अनेक प्रकार का अन्न प्रतिष्ठित है। उनकी सूचना के लिए ''बर्हिस्तरण'' करता है।

अब याज्ञवल्क्य अन्य लोगों के मत का बखान करते हुए कहते हैं –

> ''तत् वै बहुलं स्तृणीयात्–इति–आहुः।।
> यत्र वा अस्यै बहुलतमा ओषधयः तदस्याः
> उपजीवनीयतमं–तस्माद्–बहुलं स्तृणीयाद्–इति तद्
> वै तत्–आहर्ति–एव–अधि त्रिवृत् स्तृणाति त्रिवृत्–
> हि यज्ञः अथ–उ–अपि प्रबर्हं स्तृणीयात् स्तृणन्ति बर्हि
> आनुषग् इति हि ऋक् ऋषिणा अभ्यूनक्तम्–अधरमूलं
> स्तृणाति अधरमूला इव हि इमाः अस्यां पृथिव्याम्
> ओषधयः प्रतिष्ठिताः तस्माद् अधरमूलं स्तृणाति।। १–३–३–१०

कुछ लोग कहते हैं कि कुशा बहुत घनी–घनी बिछानी चाहिए। ऐसा कहते हैं कि धरती पर जहाँ पौधे बहुत होते हैं वहाँ जिजीविषा बहुत होती है। इसीलिए कुशा को बहुत घना बिछाना चाहिए। उसे तीन बिछाना चाहिए क्योंकि यज्ञ ''त्रिवृत्'' है। यहाँ पर कुछ लोगों का पक्ष है कि प्रथम एक मुष्टि वेदि के पूर्व भाग में बिछा उसके पश्चात् दूसरी मुष्टि वेदी के स्कन्द के दोनों भागों के दोनों तरफ बिछायें कि पूर्ण मुष्टि के कुशा के मूल पर द्वितीय के आगे के – अग्र भाग पड़ें। फिर तीसरी मुष्टि वेदि के पश्चात् भाग में उसी प्रकार बिछायें। दूसरा मत यह है कि पश्चात् भाग में पहले बिछाकर फिर पश्चाद् भाग की नोक पूर्व की ओर करके बिछाये हुए कुशों की नोक किसी काठादि से ऊँचा उठाकर द्वितीय मुष्टि कुशाओं का मूल उस नोक के नीचे रख कर बिछायें। हर अवस्था में नोक पूर्व की ओर हो और उत्तर भाग का मूल नीचे के अग्रभाग में छिपा हो। यजुः मन्त्र कहता है –

''स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्।। १–३–३–१०

जड़ को अर्थात् मूल को नीचे की ओर करके रखना चाहिए। पृथिवी में पौधों की जड़ें भी नीचे को होती हैं। ये अन्न सब नीचे की ओर जड़ करके इस पृथिवी में प्रतिष्ठित हैं। इसलिए जड़ों को नीचे की ओर करके बिछाना चाहिए। बिछाते समय यजुः का यह मन्त्रांश पढ़ता है –

ऊर्णम्म्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां देवेभ्यः।। १–३–३–११

अर्थात् ऊन के समान नरम तुझको देवों के लिए प्रिय समझ कर बिछाता हूँ। ऊन के समान नर्म इसीलिए कहा है कि देव सुख से वेदि पर बैठ सकें।

शतपथ ब्राह्मण की इन कण्डिकाओं से समझ लेना चाहिए कि वेदि के चारों तरफ उत्तम से उत्तम पवित्र आसन बिछाने चाहिए, जो ऊन की तरह नरम हो। हो सके तो चारों तरफ ऊन के ही नरम पवित्र आसन बिछायें क्योंकि उन पर देवों ने, विद्वानों ने तथा यजमान ने बैठना होता है।

* * *

अग्नि कल्पन विधि

सभी कत्तर्व्य कर्मों में यज्ञ को मुख्य माना गया है। उस यज्ञ को सम्पन्न करने का मुख्य साधन अग्नि को माना जाता है। बिना इसके यज्ञ को नहीं माना जाता। यज्ञ को विष्णु माना गया है। विष्णु को व्यापकत्वाद् विष्णु माना गया है। वह सर्वत्र व्यापक है, इसीलिए उनका नाम विष्णु है, यज्ञ भी व्यापक होता है, उसकी व्यापकता अग्नि पर निर्भर है। अतः यहाँ ''अग्नि–कल्पन विधि'' का बखान याज्ञवल्क्य के माध्यम से किया जाता है –

''अथ अग्निं कल्पयति। शिरः वै यज्ञस्य आहवनीयः'' ।। १–३–३–१२

अर्थात् अब आहवनीय में अग्नि प्रदीप्त करता है। यज्ञ में जिस अग्नि को प्रदीप्त किया जाता है वह अग्नि आहवनीय कहलाती है। सर्वप्रथम यजमान आहवनीय अग्नि को यज्ञकुण्ड में प्रदीप्त करता है क्योंकि आहवनीय अग्नि ही यज्ञ का सिर है। पूर्वार्द्ध सिर है। अतः आहवनीय के कल्पन अर्थात् प्रदीपन द्वारा यज्ञ के पूर्वार्द्ध को कार्य–सम्पादन–समर्थ करता है। जिस समय आहवनीय में अग्नि प्रदीप करता है उस समय प्रस्तर नामक तृण भाग को उसके ऊपर धारण किए हुए रहता है। यह शिखा ही तो प्रस्तर है। इसको ही इस यज्ञ में स्थापित करता है। इसलिए प्रस्तर अर्थात् शिखा सूचक तृण समूह को ऊपर–ऊपर धारण किए हुए प्रदीप्त करता है।

अब पुनः याज्ञवल्क्य ''परिधि'' नाम के तीन काष्ठ आहवनीय अग्नि के ऊपर स्थापन करने की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहते हैं –

''अथ परिधीन् परिदधाति।। १–३–३–१३

अब अध्वर्यु परिधियों अर्थात् इस नाम वाले तीन काष्ठों को जिनका परिमाण बाहुमात्र हो उनमें से स्थूलतम को मध्यम परिधि मानकर आहवनीय के पीछे अग्र भाग उत्तर की ओर करते हुए रख दें। फिर जो उससे पतला है, उसे द्वितीय परिधि मानकर दक्षिण की ओर अग्र भाग पूर्व की ओर करके रख दें। फिर तीसरा जो सबसे पतला

है उसे उत्तर की ओर अग्र भाग पूर्व की ओर करके रख दें। सो यह जो परिधियों का परिधान करता है उसका कारण यह है कि जब देवों ने अग्नि को होतृकर्म के लिए वरण किया तो वह बोला मुझे साहस नहीं होता कि मैं तुम्हारा होता बनूँ। तुम्हारे हव्य को देवों तक पहुँचाऊँ। पहले तुम तीन का वरण कर चुके हो वो सब चलते हुए पहले मुझे उन्हें लाकर दो, तब मुझे भी साहस होगा कि मैं तुम्हारा होता बनूँ, तुम्हारा हव्य ढोकर ले जाऊँ। तब ऐसा ही होगा कहकर उन्हें उसके पास लाकर उपस्थित किया वही यह परिधि है।

यहाँ अध्वर्यु को इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि आहवनीय अग्नि को स्थापित करने से पूर्व इसे परिधि में बाँधना होगा। यज्ञकुण्ड के परिमाण को देखते हुए स्थूल, मध्यम व लघु तीन यज्ञ समिधाओं को लेना है। सर्वप्रथम जो सबसे स्थूल समिधा है उसे मध्यम परिधि मानते हुए आहवनीय के पीछे अग्र भाग उत्तर की ओर करके रख दें। अब जो उससे पतली समिधा है उसे द्वितीय परिधि के रूप में दक्षिण की ओर अग्र भाग पूर्व की ओर करके रखें। फिर अब जो उससे भी पतली हो उसे उत्तर की ओर अग्र भाग पूर्व की ओर रखें।

यही प्रथम परिधि के रूप में समिधाओं को यज्ञ कुण्ड में रखने का विधान है। फिर उसके पश्चात् पूर्व–पश्चिम, तदनन्तर दक्षिण–उत्तर इस तरह से समिधाओं का चयन करना होगा। तभी हमारा यज्ञ देव ग्रहण करेंगे क्योंकि यज्ञ होता ही देवताओं के लिए है।

अब तीन परिधियों की स्थापना का प्रयोजन इस अगली कण्डिका में याज्ञवल्क्य इस तरह से प्रतिपादित करते हुए कहते हैं –

सः ह उ उवाच। वज्रः वै तान् वषट्कारः प्रावृणक्
वज्राद् वै वषट्कारात् बिभेमि यन्मा वज्रः वषट्कारः न
प्रवृञ्ज्यात् एतैः एव मा परिधत्त तथा मा वज्रः वषट्कारः
प्रवर्क्ष्यति इति तथा इति तम् एतैः पर्यदधुः तत् न
वज्रः वषट्कारः प्रावृणक् तत् वर्म एव एतत् अग्नये
नह्यति यत् एतैः परिदधाति।। १–३–३–१४

अर्थात् उसने अब कहा – वषट्कार रूपी वज्र ने उन तीनों अग्नियों को खदेड़ डाला। मुझे डर है कि वषट्कार मुझे भी खदेड़ डालेगा। इसलिए इन तीनों परिधियों की स्थापना कर दो। फिर मुझे वषट्कार रूप वज्र न खदेड़ सकेगा। तब ऐसा ही करने का निश्चय करके यज्ञकर्त्ताओं ने उस अग्नि को तीन इन परिधियों से उस अग्नि का परिधान कर लिया। तब वषट्कार रूपी वज्र ने उसको न खदेड़ा। ये तीन–तीन परिधियाँ मानो उस अग्नि के लिए वर्म हैं अर्थात् उसका कवच हैं। अब उन्हें वषट्कार द्वारा खदेड़ने का डर नहीं रहा।

अब तीनों बोले यदि हमें इस तरह से यज्ञ में स्थापित करते हो तो हमें भी यज्ञ में भाग मिल जाएगा।

अब देवों ने उत्तर दिया – अच्छा जो परिधियों के बाहर गिर जाएगा वह तुम्हारा भाग होगा और जो आहुतियाँ तुम्हें ही दी जाएँ वे तुम्हारी, जो आहुतियाँ अग्नि में गिर जायें वे तुम्हारी। इस प्रकार जो आहुति अग्नि में दी जाती है वह इन अग्नियों की तृप्ति के लिए होती हैं। जो आहुतियाँ उन्हीं परिधियों पर दी जाती हैं वे भी उनकी तृप्ति के लिए होती हैं और जो परिधियों के बाहर गिर जाती है वह भी उन्हीं की आहुति है। इस प्रकार जो आज्य बाहर गिर पड़ता है उसका पाप नहीं लगता क्योंकि जब अग्नियाँ जाने लगी तो पृथिवी में प्रविष्ट हो गईं, जो गिरा वह पृथिवी में ही तो रहेगा।

यज्ञकुण्ड में जो हमने समिधाओं की परिधियाँ बनाई हैं हमारी आहुति प्रथमदृष्ट्या उसके मध्य में चढ़नी चाहिए। उन परिधियों के ऊपर भी गिरती है तब भी यह दोष कारक नहीं है। यदि उन परिधियों के बाहर भी यज्ञ करते हुए गिर जायेगा वह भी उन परिधियों के लिए तृप्ति का कारण होगा क्योंकि वह आहुति भी उन्हीं के लिए है। ऐसी स्थिति में परिधियों से बाहर गिरने वाला आज्य भी पाप का कारण नहीं होता। अग्नियाँ जब जाने लगती हैं तो वे पृथिवी में ही प्रविष्ट हो जाती हैं। अतः परिधियों से बाहर चढ़ते हुए घृत से भयभीत नहीं होना चाहिए। यजमान प्रयत्न करें कि सभी आहुतियाँ परिधियों के अन्दर ही चढ़ाएँ क्योंकि ऐसी आहुतियाँ ही अग्नि की तृप्ति का कारण होती हैं।

वह बाहर गिरे हविद्रव्य को स्पर्श करता है। उस समय यजुः (२–२) का मन्त्रांश पढ़ता है, जो इस तरह से है –

''भुवपतये स्वाहा, भुवनपतये स्वाहा, भूतानां पतये स्वाहा''

अर्थात् भुवपति, भुवनपति और भूतपति–ये तीनों अग्नियों के नाम हैं। वषट्कार कह कर जो आहुति दी जाती है वह उसी देवता की होती है जिसका नाम लिया जाता है। यहाँ ये आहुतियाँ इन्हीं अग्नियों की है जिन का नाम लिया जाता है।

अन्यों के मत का निषेध करते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हुए कहते हैं –

> तत् ह एके। इध्मस्य एव एतान् परिधीन् परिदधाति तत् उ तथा न कुर्यात् अनवक्लृप्ता ह तस्य एते भवन्ति यान् इध्मस्य परिदधाति अभ्याधानाय हि एव इध्मः क्रियते तस्य उ ह एव एते अवक्लृप्ता भवन्ति यस्य एतान् अन्यान् आहरन्ति परिधय इति तस्माद् अन्यान् एव आहरेयुः।।
>
> १–३–३–१८

अर्थात् कुछ लोग समिधाओं से लेकर परिधियाँ बना देते हैं अर्थात् समिधाओं की गठरी से ही परिधि परिधान कर लेते हैं, उनका ऐसा करना समुचित नहीं है। समिधाएँ अग्नि पर रखने के लिए बनायी जाती हैं अतः वे परिधियों के योग्य नहीं होती। अतः अलग से ही परिधियाँ बनानी चाहिए। और जो काष्ठ–परिधि कह कर लाए जाते हैं वे इस परिधिकरण के लिए उपयोगी होते हैं।

अतः हमें तीन परिधियों के लिए ही तीन काष्ठ ग्रहण करने चाहिए। जो यज्ञार्थ समिधाओं की गठरी है उसे उसमें से नहीं ग्रहण करना चाहिए इस बात का ध्यान रखना होगा।

यहाँ पर भुवपतिः, भुवनपतिः और भूतानां पतिः की व्याख्या कण्डिकाओं सहित स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज ने जिस रूप से की है वह द्रष्टव्य है, उसे समझना उपयुक्त होगा तभी इन कण्डिकाओं का महत्त्व हमें ज्ञात होगा –

अब भुवपतिः वंश–परम्परा का प्रतिनिधि है, क्योंकि वह ''भुवः'' अमुक–वंश में जन्म लेने के कारण ''पति'' है। ''भुवपतिः'' नाम राजा का है अतः भुवनपति राजा का

प्रतिनिधि है। ''भूतानां पतिः'' प्रजा का प्रतिनिधि है। इस बात की सूचना यहाँ ''भूतानाम्'' इस बहुवचन से ज्ञात होती है। भुवपतिः भूतकाल का प्रतिनिधि है। भुवनपति वर्तमान का और भूतानां पतिः भविष्य का, क्योंकि इसका फल क्या होगा यह प्रजाजन अच्छा समझते हैं और यहाँ ''अग्नि'' विज्ञान का प्रतिनिधि है।

अब कण्डिकाओं का अर्थ इस प्रकार हुआ – ''फिर अध्वर्यु परिधियों को आहवनीय के तीन ओर रखता है। सो यह जो परिधियों को रखता है, यह इसका सूचक है कि जब राष्ट्र के कार्यकर्त्ता देवों ने किसी कर्मचारी को परीक्षा के पश्चात् नियुक्त किया तो वह बोला, मुझे तो हिम्मत नहीं पड़ती कि मैं तुम्हारा होता बनूँ। यह तुम्हारा हव्य ढोऊँ पहले तुमने इसी पद पर तीन को नियुक्त किया वे चलते बने। उन्हें मुझे लाकर दो। तब मुझे यह उत्साह होगा कि तुम्हारा होता बनूँ या तुम्हारा बोझ ढोऊँ। तब देवों ने ''ऐसा ही होगा'' कह कर उन्हें लाकर उपस्थित किया। वे ये तीन परिधियाँ उन्हीं का चिह्न हैं।। १३।।

वह अग्नि अर्थात् राजकर्मचारी बोला – संसार की कड़ी परीक्षा के वज्र ने उन्हें खदेड़ दिया था। मैं भी उसकी कड़ी परीक्षारूप वज्र से डरता हूँ। कहीं मुझे कड़ी परीक्षा रूप वज्र न खदेड़ दे। इसीलिए इन तीनों से अर्थात् राजानुमोदन, लोकानुमोदन और वंश परम्परानुमोदन से मुझे ढक दो। फिर मुझे कड़ी परीक्षा–रूप वज्र न खदेड़ेगा। तब ऐसा ही हो, यह कह कर उस अग्नि अर्थात् राजकर्मचारी को इन्होंने इन तीनों से ढक दिया। तब कड़ी परीक्षा का वज्र उसे न खदेड़ पाया। सो यह जो परिधियों की स्थापना करना है वह अग्नि के लिए कवच बाँधना है। ये केवल परिधि मात्र है, कवच है। शरीरधारी नहीं, कवच है। कवच के स्वामी नहीं, स्वामी तो अग्नि ही है। वह कवच के बिना भी चल सकता है, किन्तु इस अवस्था में कवचहीन अवस्था की अपेक्षा खतरे अधिक होंगे।। १४।।

तब यह परिधि बोले यदि हमें यज्ञ में जोतते ही हो तो हमें यज्ञभाग भी तो मिलना चाहिए।। १५।।

देवों ने कहा – ऐसा ही होगा। जो परिधि के बाहर जा पड़ेगा वह तुम्हारा होगा और जो तुम्हारे ऊपर से हवन होगा अर्थात् तुझ को साक्षी बनाकर तुम्हारी अनुमति से कार्य

होगा, वह तुम्हारी रक्षा करेगा, अर्थात् यही तुम्हारा गौरव होगा और जो राजकर्मचारी कार्य करेंगे उसके सहायक होने के कारण उस पुण्य के भागी भी तुम होगे। वह पुण्य तुम्हारी रक्षा करेगा। अर्थात् इन्हें अपनी सम्पत्ति देने का पुण्य भी इनकी रक्षा करता है। यह प्रजाजन अच्छा समझते हैं। यहाँ अग्नि विज्ञान का प्रतिनिधि है।

और जो परिधि से बाहर कार्य आ पड़ा वह तो दिया ही इन्हें जायेगा, इसमें यह होगा कि कार्य के अत्यधिक बढ़ जाने पर राज कर्मचारी जल्दी घसीटने के जिस अपराध के प्रलोभन में फंस जाते हैं, उससे बच जायेंगे। क्योंकि जो गिरा सो धरती पर गिरा और धरती पर अब ये प्रतिष्ठित है। सो पात्र में ही गिरा।। १६ ।।

बिखरे हुए हवि द्रव्य को स्पर्श कर के वह (अध्वर्यु) मन्त्र पढ़ता है ''भुवपतये स्वाहा'' ''भुवनपतये स्वाहा'' ''भूतानां पतये स्वाहा'' – ये उन तीन अग्नियों के नाम हैं, भुवपति, भुवनपति, भूतानां पति। सो इनमें हवन हुआ मानो वषट्कृत हुआ अर्थात् सुपरीक्षित ही हुआ।। १७।।

कई लोग यह परिधि इन्धन अर्थात् पहले अन्य कार्यों में लगे हुए कर्मचारियों में से ही ले लेना चाहिए ऐसा कहते हैं। किन्तु ऐसा कभी नहीं करना चाहिए। जो पहले ही दूसरे अग्नि के इन्धन बन चुके हैं, जिनका समय अन्य कार्यों के अर्पण हो चुका है, वे इस कार्य के लिए अनुपयुक्त होते हैं। इन्धन तो पहले ही अग्नि में अभ्यादान के लिए तैयार किया जाता है। सो वे ही उस कार्य के लिए ठीक हैं, जिन्हें अतिरिक्त रूप से, परिधि कह कर लाया जाता है। तात्पर्य यह है कि इस कार्य के लिए वही मनुष्य चुने जाने चाहिए जिन्हें किसी अन्य कार्य का विशेष व्यसक्त न हो। इसीलिए और ही लाये जाने चाहिए, कार्य व्यासक्त नहीं।। १८।।

वे ब्राह्मण ही होने चाहिए क्योंकि ब्राह्मण ही त्यागी होने के कारण जीविका की चिन्ता से मुक्त हो सकता है।

यह सम्पूर्ण विवेचन स्वामी जी का परिधियों के संदर्भ में था। उन्हीं परिधियों में हमने अग्नि–कल्पन–विधि को करना है। यही विधि है और विधान भी यही है। इसी बात का अनुसरण हमें करना होगा।

* * *

समिधा—प्रकार

यज्ञ में समिधाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है, सम्पूर्ण यज्ञ समिधाओं के ऊपर निर्भर करता है।

समिधा का व्यावहारिक अर्थ है – जो स्वयं भी चमके और दूसरे को भी चमकाए वही समिधा कहलाती है। समिधा जैसे ही अग्नि में चढ़ती है वैसे ही प्रथमदृष्ट्या वह स्वयं चमकती है और तदनन्तर वह समिधा अग्नि को भी चमकाती है। अतः यज्ञ की चमक समिधा पर ही निर्भर करती है। ये समिधाएँ कैसी हों इस पर याज्ञवल्क्य विस्तृत चर्चा करते हुए लिखते हैं –

> ''ते वै पलाशाः स्युः। ब्रह्मा वै पलाशः ब्रह्मा
> अग्निः अग्नयः हि तस्मात् पालाशाः स्युः।।.......।। १–३–३–१९

अर्थात् वे अध्वर्यु ब्राह्मण ही होने चाहिए। क्योंकि ब्राह्मण ही त्यागी होने के कारण जीविका की चिन्ता से मुक्त हो सकता है। पलाश लकड़ी, लकड़ियों में ब्राह्मण तुल्य है इसीलिए वह ब्राह्मण की प्रतिनिधि बनाई गई है। वह ब्राह्मण इसीलिए है कि वह आग को शीघ्र ग्रहण करती है और देर तक रखती है।

आगे याज्ञवल्क्य यज्ञार्थ अन्य समिधाओं का विकल्प देते हुए कहते हैं –

> यदि पलाशात् न विन्देत् अथ उ अपि वैकङ्कताः
> स्युः यदि वैकङ्कतान् न विन्देत अथ उ अपि
> कार्ष्मर्यमयाः स्युः यदि कार्ष्मर्यमयात् न
> विन्देत् अथ उ अपि बैल्वाः स्युः अथो
> खादिरा अथो औदुम्बराः एते वृक्षाः यज्ञियाः तस्माद्
> एतेषां वृक्षाणां भवन्ति।। १–३–३–२०

अर्थात् यदि पलाश न मिले तो वैकङ्कत की परिधि बना लें। यदि वैकङ्कत न मिले तो कार्ष्मर्य के। यदि कार्ष्मर्य न मिले तो बिल्व के। यदि बिल्व न मिले तो खदिर के। यदि खदिर न मिले तो औदुम्बर के। ये ही वृक्ष यज्ञिय हैं, इसीलिए इनकी ही परिधि होते हैं –

इन के हिन्दी नामान्तर निम्नलिखित हैं –

१. पलाश – ढाक

२. वैकङ्कत – किंकणी, बम्ज या कण्टाई।

३. कार्ष्मर्य – खम्भारी

४. बिल्व – बेल या बिल।

५. खदिर – खैर

६. उदुम्बर – गूलर

इस संदर्भ में ब्राह्मण ग्रन्थों में जो लिखा है, वह इस तरह है–

प्रजापतिर्याम्प्रथमामाहुतिमजुहोत्स हुत्वा यत्र न्यमृष्ट
ततो विकङ्कतः समभवत्।। ६–६–३–१

अर्थात् मानो प्रजापति ने जो प्रथम हवन किया उसके पश्चात् जहाँ आप चिकने हाथ पोंछ दिए उससे विकङ्कत हुआ।

देवा ह वा एतं वनस्पतिषु रक्षोघ्नं ददृशुः यत् कार्ष्मर्यम्।।
शत. ३–४–१–१६।।

अर्थात् देवों ने जिस वनस्पति को वनस्पतियों में राक्षस–नाशक पाया वह यह कार्ष्मर्य है। तात्पर्य यह है कि कार्ष्मर्य रोगों के कीटाणुओं का नाशक है।।

अथ (प्रजापते) यत् कुन्तापमासीत् यो मज्जा स सार्धं समवद्रुत्य श्रोत्रत
उदभिनत् स एष वनस्पतिरभवद् बिल्वः।। शतपथ १३–४–४–८

अर्थात् वानस्पत्य जगत्रूपी प्रजापति का भेजा और मज्जा थी, वह कान के रास्ते पिघलकर बाहर उभर आई, उससे यह बिल्व बना। कहने का तात्पर्य यह है कि बिल्व मज्जा के समान चिकना और पुष्टिकारक है।

अस्थिभ्य एवास्य खदिरः समभवत् तस्मात्स दारुणो बहुसारः।

शत. १३–४–४–९

अर्थात् वानस्पत्य जगद्रूपी प्रजापति की हड्डियों से खैर बना, इसलिए वह बड़ा कठोर और सारवान् है।

उदुम्बर ऊर्जः।। ३–२–१–३३

अर्थात् गूलर में ऊर्ज होता है।

तात्पर्य यह है कि उदुम्बर शक्ति वर्धक रस–मय है। परिणाम यह निकला कि यदि ब्राह्मण उस पद के योग्य न मिले तो फिर जो स्नेहयुक्त, दोषनाशक, दृढ़व्रत, सारवान्, ऊर्जस्वी मनुष्य मिले उनसे कार्य लेना चाहिए।

इन सभी समिधाओं के विवेचन से यही तात्पर्य निकला कि जैसे अध्वर्यु इन गुणों से युक्त व्यक्ति विशेष को नियुक्त किया जाना चाहिए वह दृढ़व्रती व दृढ़संकल्पी होना चाहिए। इसी तरह से अन्य समिधाओं के अतिरिक्त आम, पीपल, बेर की समिधाओं का भी यज्ञ में समिधा के रूप में प्रयोग किया जाता है। ये समिधायें यज्ञ के लिए ग्राह्य हैं।

* * *

३८-अष्टात्रिंशत्तमपाथेयम्

समिधा–विधान

इस ''समिधा–विधान'' के पाठ के सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य विशेष रूप से प्रकाश डाल रहे हैं, डालना भी चाहिए क्योंकि बिना समिधाओं के यज्ञ का विस्तार होता ही नहीं है। जितनी भी इध्म हम गठरी में बाँध कर लाते हैं, वे सब अग्नि के लिए होती हैं। अतः यहाँ याज्ञवल्क्य इन समिधाओं का विधान करता है कि हमें यज्ञ में किस तरह की समिधाओं का किस तरह उपयोग करना है। इसी का विवरण इस पाठ में याज्ञवल्क्य करते हैं –

ते वा आर्द्राः स्युः। एतत् हि एषां जीवम् एतेन
सतेजसः एतेन वीर्यवन्तः तस्मात् आर्द्राः स्युः।। १–३–४–१

अर्थात् वे समिधाएँ हरी होनी चाहिए। यही हरापन उनका जीवन है, इसी से तेजोयुक्त हैं, इसी से वीर्यवान् हैं। अतः समिधाएँ आर्द्र होनी चाहिएँ।

यह कण्डिका महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रही है – समिधा ही आर्द्र, जीवयुक्त, तेजोयुक्त तथा वीर्यवान् ही नहीं होनी चाहिए अपितु यजमान भी तेजस्वी और वीर्यवान् के साथ सरस भी हो, यही आर्द्रता का तात्पर्य है।

समिधाओं में आर्द्रता इसलिए भी चाहिए क्योंकि आर्द्र समिधाओं में कीटादि जीव नहीं उपजते तथा अतिशुष्क होने पर ऐसी समिधा एकदम जलती है और एकदम ही शान्त हो जाती है। अतः चिरकाल चलती रहे, इसीलिए याज्ञवल्क्य ने ''आर्द्रा'' का विधान किया है।

इसका तात्पर्य यह बिल्कुल नहीं कि समिधाएँ सूखी नहीं परन्तु तेजोयुक्त हों, वीर्यवान् हों अर्थात् स्वच्छ, कीटमुक्त व सीधी होनी चाहिए तभी यज्ञ करना सफल होगा।

अब आगे परिधि स्थापना के मन्त्र दिये जा रहे हैं जो इस तरह से हैं –

स मध्यमम् एव अग्रे परिधिम् परिदधाति
गन्धर्वः त्वा विश्वावसुः परिदधातु विश्वस्य अरिष्ट्यै
यजमानस्य परिधिः असि अग्नि इडः ईडितः इति।। १–३–४–२

अर्थात् सबसे पहले मध्यम परिधि की स्थापना करता है तथा स्थापना करते हुए वह यह मन्त्र पढ़ता है –

गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य
परिधिरस्यग्निरिड ईडितः।।'' यजुः २–३ ।।

अर्थात् हे गन्धर्व ! विश्वावसु! अर्थात् सम्पूर्ण प्रजा के हृदय में परम्परा से बसने वाले गन्धर्व तेरी स्थापना यहाँ विश्व के कल्याण के लिए हो रही है। तू यजमान का परिधि–रक्षक है। तू हमारी भलाई चाहने वाला है अतः एव ईडित् स्तोतव्य भी है।

अब वह आगे दक्षिण दिशा में समिधा को धारण करते हुए इस मन्त्र को पढ़ता है –

इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य
परिधिरस्यग्निरिड ईडितः।। यजुः २–३ ।। १–३–४–३

अर्थात् हे दक्षिण दिशा में रखी परिधि। तू इन्द्र अर्थात् राजा की दाहिनी भुजा है, तू यहाँ विश्व की शान्ति के लिए है, तू यजमान की परिधि है अर्थात् विश्व के अरिष्ट (कल्याण) के लिए यजमान की परिधि है। अतः ''इड'' अर्थात् हमारा हितैषी है और ''ईडित'' स्तोतव्य है अर्थात् स्तुति के योग्य है। इस तरह से मन्त्र पूर्वक दक्षिण–दिशा की समिधा को रखता है। कैसे रखना है वह हम पूर्व ही बता चुके हैं।

आगे अब उत्तर दिशा की समिधा का वर्णन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं –

अथ उत्तरं परिदधाति। मित्रावरुणौ त्वा उत्तरतः परिधत्तां
ध्रुवेण धर्मेण विश्वस्य अरिष्ट्यै यजमानस्य परिधिः असि
अग्निः इड ईडितः इति अग्नयः हि तस्मात् आह–
अग्निः इड ईडितः।। १–३–४–४ ।। यजुः २–३ ।।

अर्थात् अब वह उत्तर वाली परिधि को स्थापित करता है, उस समय वह यह मन्त्र पढ़ता है –

मित्रावरुणौ त्वा उत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्मणा विश्वस्य
अरिष्ट्यै यजमानस्य परिधिः असि अग्निः इड ईडितः।। यजुः २–३ ।।

अर्थात् उत्तर की ओर परिधि को यह मन्त्रांश पढ़ कर रखता है – ''मित्र और वरुण'' देवता तुझ को उत्तर की ओर रखे, ध्रुव नियम से विश्व के अरिष्टि अर्थात् कल्याण के लिए तू यजमान की परिधि है। अत एव इड और ईडित है।

अब आगे तीन समिधाओं के सन्दर्भ में तीन समिधाओं के आधान का विवरण यहाँ याज्ञवल्क्य द्वारा दिया जा रहा है –

अथ समिधम् अभ्यादधाति सः मध्यमम् एव
अग्रे परिधिम् उपस्पृशति तेन एतान् अग्रे समिन्धे
अथ अग्नौ अभ्यादधाति तेन उ अग्निम् प्रत्यक्षं समिन्धे।। १–३–४–५

अर्थात् फिर वह एक समिधा लेकर आहवनीय अग्नि में स्थापित करता है अर्थात् उसका आधान करता है। पहले वह समिधा से बीच की परिधि को छूता है। इस तरह वह तीन परिधियों को अर्थात् पूर्वोक्त भुवपति, भुवनपति तथा भूतानां पति नामक अग्नियों को प्रदीप्त करता है और स्पर्श करने के पश्चात् अग्नि पर रख देता है। इससे वह प्रत्यक्ष विद्यमान अग्नि का समिन्धन अर्थात् अग्नि को जलाता है। तदन्तर ही वह समिदाधान करता है, जिसके सन्दर्भ में स्वयं याज्ञवल्क्य कहते हैं –

सः अभ्यादधाति। वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तः
समिधीमहि अग्ने बृहन्तम् अध्वरे इति एतया गायत्र्या गायत्रीम्
एव एतत् समिन्धे सा गायत्री समिद्धा अन्यानि छन्दांसि समिन्धे
छन्दांसि समिद्धानि देवेभ्यः यज्ञं वहन्ति।। १–३–४–६

अब वह समिदाधान करता है और यजुः २–४ का मन्त्रांश पढ़ता है –

''वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि अग्ने बृहन्तम् अध्वरे।।

अर्थात् ''हे, क्रान्तदर्शिन् अग्ने! तुझ दीप्तिमान् को प्रदीप्त करते हुए हे अग्ने! तुझ महान् को हिंसा रहित यज्ञ में प्रदीप्त करते हैं'' । इस तरह बोलता हुआ वह गायत्री को प्रदीप्त करता है। गायत्री प्रदीप्त होकर अन्य छन्दों को प्रदीप्त करता है, अन्य छन्द प्रदीप्त हुए देवों तक यज्ञ को पहुँचाते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि यज्ञ को देवों तक पहुँचाने का हमारे पास एक साधन है, वह है समिधा। अतः हमें उचित समिधा का चयन करना होगा। तभी उसके माध्यम से यज्ञ देवों तक पहुँचेगा।

अब याज्ञवल्क्य दूसरी समिधा के बारे में निम्नलिखित वाक्य कहते हैं –

अथ यां द्वितीयां समिधम् अभ्यादधाति
वसन्तम् एव तया समिन्धे सः वसन्तः समिद्धः अन्यान्
ऋतून् समिन्धे ऋतवः समिद्धाः प्रजाः च प्रजनयन्ति
ओषधीः च पचन्ति सः अभ्यादधाति
समित् असि इति समित् हि वसन्त।। १–३–४–७

द्वितीय समिधा का आधान करना बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। यह समिधा ही प्रजा और औषधियों का कारण है। इसीलिए याज्ञवल्क्य कहता है कि –

अब वह दूसरी समिधा का आधान करता है उससे वह वसन्त को प्रज्वलित करता है वह प्रज्वलित वसन्त अन्य दूसरी ऋतुओं को प्रज्वलित करता है, प्रज्वलित ऋतुएँ प्रजा को उत्पन्न करती हैं। औषधियों को पकाती है। वह इस (यजुः–२–५) मन्त्र को पढ़ कर रखता है – ''समित् असि'' अर्थात् तू वसन्त ही समिध् है।

इस समिधा का आधान करने के पश्चात् यजमान को जप करना चाहिए और जप करते हुए इस यजुः मन्त्रांश – (२–५) का जप करते हुए बोलना चाहिए –

''सूर्यः त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चित् अभिशस्त्यै'' इति गुप्त्यै।

अर्थात् वह समिधा को अग्नि पर रखकर सूर्य को जपता है क्योंकि ये परिधियाँ तीन ओर से रक्षा के लिए स्थापित है, इसीलिए सामने से पूर्व की ओर से सूर्य–रक्षा करें। जिससे सामने से भी नाशकारी राक्षस यज्ञ में न घुस पड़े, क्योंकि सूर्य ही नाशकारी राक्षसों को मारने वाला है।

यह जप अनिवार्य है करना भी चाहिए। क्योंकि यज्ञ में राक्षस कहाँ से प्रवेश कर जाये इसका किसी को पता नहीं है। सूर्य सबका ज्ञाता है क्योंकि वह सविता देव है। उसी का जप–तप–ध्यान करना अनिवार्य है।

अब याज्ञवल्क्य तीसरी समिधा का प्रयोजन कहते हैं –

अथ याम् एव अमूं तृतीयां समिधम्
अभ्यादधाति अनुयाजेषु ब्राह्मणम् एव तया
समिन्धे सः ब्राह्मणः समिद्धः देवेभ्यः यज्ञं वहति।। १–३–४–९

अर्थात् यह जो तीसरी समिधा को अनुयाज के पीछे रखता है उससे वह ब्राह्मण को प्रज्वलित करता है। वह ब्राह्मण–प्रज्वलित होकर–देवों तक यज्ञ को पहुँचाता है।

हमारे इस यज्ञ का मुख्य–उद्देश्य यज्ञ को देवों तक पहुँचाने का। यह तभी सम्भव होगा जब यज्ञ का प्रारम्भ विधि के अनुसार होगा अन्यथा

''विधिहीनं क्रियाहीनं यज्ञः यजमानं हिनस्ति''

अर्थात् – जो यज्ञ विधिहीन तथा क्रियाहीन हो वह यज्ञ यजमान को मार देता है। हमें भी विधि के अनुकूल तथा कर्मकाण्डानुकूल नियमानुसार यज्ञ करना चाहिए। हमारा यज्ञ सर्वप्रथम समिधाओं से प्रारम्भ होता है, इसीलिए उन समिधाओं का विन्यास इस तरह का होगा।

प्रथम समिधा का परिधि के रूप में जो सबसे मोटी समिधा होगी उसका पतला भाग पूर्व करके यज्ञ कुण्ड में स्थापित होगी।

उसके पश्चात् उससे पतली समिधा का पतला भाग पूर्व की ओर होगा तथा दक्षिण–दिशा में उसकी परिधि स्थापित होगी।

तदनन्तर जो उससे पतली समिधा है, उसका पतला भाग पूर्व की ओर कर के उत्तर–दिशा में परिधि के रूप में स्थापित किया जाता है।

अब समिदाधान समझना है –

प्रथम समिधा से मध्य की समिधा को स्पर्श करना है। उसके स्पर्श से ही तीन परिधियाँ भुवपति, भुवनपति तथा भूतानां पति प्रज्वलित हो उठती हैं – इस समिधा से

गायत्री छन्द प्रदीप्त होता है, गायत्री के प्रदीप्त होते ही अन्य छन्द भी प्रदीप्त हो जाते हैं तथा उनके प्रदीप्त होने पर यज्ञ देवताओं तक पहुँच जाता है। यह प्रथम समिदाधान इतना महत्त्वपूर्ण है।

अब वह फिर द्वितीय समिधा का आधान करता है। इस समिधा के आधान का प्रयोजन वसन्त ऋतु को प्रज्वलित करना है। उसके प्रज्वलित होते ही अन्य ऋतुएँ भी प्रज्वलित हो जाती हैं और फिर प्रजा और ओषधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। मुख्य बात यहाँ यह है कि यहाँ सूर्य को लक्ष्य करके जप करना होता है क्योंकि तीन परिधियों से तीनों ओर से हम सुरक्षित हैं, परन्तु सामने पूर्व की दिशा में सूर्य है। उसी से प्रार्थना करो कि हमारे यज्ञ में नाशकारी राक्षस प्रविष्ट न हो।

तदनन्तर तीसरी समिधा का आधान होता है। उसका उद्देश्य है – ब्राह्मण को जागरित करने का। यदि हमारा ब्राह्मण जो वेदवेत्ता हो, ब्रह्मज्ञान का ज्ञाता हो वह जागरित रहना चाहिए, तभी हमारा राष्ट्र, समाज व परिवार भी जागरित रहेगा।

यही महत्त्व इन समिधाओं का है। इसका आधान विधि के अनुसार करना चाहिए। तभी हमारा यज्ञ देवों तक पहुँचेगा।

* * *

३९-एकोनचत्वारिंशत्तमपाथेयम्

प्रस्तरण–प्रयोजनम्

यज्ञ वेदि पर प्रस्तर अर्थात् आसन बिछाने का बहुत बड़ा महत्त्व है। सर्वप्रथम तो वेदि की नग्नता समाप्त हो जाती है जो देवों को स्वीकार्य नहीं। उस नग्नता के पाप से हम बच जाते हैं।

यह प्रस्तर कैसा हो ? इस सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य ने यजुः के इस मन्त्र द्वारा स्पष्ट उल्लेख कर दिया है –

''ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्यः।। यजुः २–५।।

अर्थात् जिस प्रस्तर को बिछाता है वह ''ऊन के समान नरम और देवों के बैठने योग्य आसन है''। यहाँ ''ऊन के समान नरम'' कहने का तात्पर्य है कि वह आसन बहुत अच्छा है। ''देवों के योग्य आसन'' कहने का तात्पर्य है कि वह देवों को सुख पहुँचाने वाला है। इसी लिए याज्ञवल्क्य ने ''स्वासस्थं'' शब्द का प्रयोग किया है जिसका यही अभिप्राय होता है कि यह प्रस्तर देवों के लिए सुखपूर्वक बैठने का साधन बने।

आगे याज्ञवल्क्य स्पष्ट उल्लेख करते हैं कि जिस प्रस्तर को तुमने बिछा रखा है उस पर कौन–कौन से देवता विराजमान हो रहे हैं, वह कण्डिका इस तरह से है –

अथ तमभिनिदधाति।। १–३–४–१२

अब वह उस प्रस्तर को जो उसने वेदि पर बिछाया है उसको दोनों हाथों से दबाता है और यजुः–२–५ के मन्त्रांश का पाठ करता है–

आ त्वा वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्तु।। १–३–४–१२

तुझ पवित्र आसन पर वसु, रुद्र और आदित्य बैठें। वसु, रुद्र और आदित्य–ये तीन देवता हैं, इन तीनों पर विचार कर लेना चाहिए, महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में इसका विवेचन किया है, जो इस तरह से है –

अब आगे देवता विषय में तैंतीस देवों का व्याख्यान लिखते हैं – जैसे ब्राह्मण ग्रन्थों में वेद मन्त्रों का व्याख्यान लिखा है – (त्रयस्त्रिंशत्) अर्थात् व्यवहार के ये तैंतीस देवता हैं – आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, एक इन्द्र और एक प्रजापति।

उनमें से आठ वसु ये हैं – अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र। इनका वसु नाम इस कारण से है कि सब पदार्थ इन्हीं में बसते हैं और ये ही सबके निवास करने के स्थान हैं।

ग्यारह रुद्र ये कहाते हैं – जो शरीर में दश प्राण हैं अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और ग्यारहवां जीवात्मा है। क्योंकि जब वे इस शरीर से निकल जाते तब मरण होने से उसके सम्बन्धी लोग रोते हैं। वे निकलते हुए उनको रुलाते हैं, इससे इन का नाम रुद्र है।

इसी प्रकार आदित्य बारह महीनों को कहते हैं – (चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ तथा फाल्गुन) क्योंकि वे सब जगत् के पदार्थों को आदान अर्थात् सबकी आयु को ग्रहण करते चले जाते हैं। इसी से इनका नाम आदित्य है।

ऐसे ही इन्द्र नाम बिजुली का है क्योंकि वह उत्तम ऐश्वर्य की विद्या का मुख्य हेतु है। यज्ञ को प्रजापति इसीलिए कहते हैं कि उससे वायु और वृष्टि–जल की शुद्धि द्वारा प्रजा का पालन होता है। तथा पशुओं की यज्ञ संज्ञा होने का यह कारण है कि उनसे भी प्रजा का जीवन होता है। ये सब मिलके अपने–अपने दिव्य गुणों से तैंतीस देव कहाते हैं।

इस तरह से वेदि पर बिछाए गए प्रस्तर पर वसु, रुद्र और आदित्य के रूप में ये तैंतीस देवता विराजमान रहते हैं।

वसु, रुद्र व आदित्य से हमें प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन व तृतीय सवन की प्रासङ्गिता भी देखने को उपलब्ध है, जो इस तरह से वर्णित है –

पुरुषो वै यज्ञः।। १–३–२–१

अर्थात् यज्ञ ही पुरुष है। यज्ञ पुरुष क्यों है ? इस जिज्ञासा पर कहते हैं कि इसीलिए कि पुरुष ही यज्ञ को तानता है और जब तन जाता है तो यज्ञ इतना बड़ा हो जाता है कि जितना पुरुष। इसीलिए अपने विस्तार में यह उतना ही रूप धारण करता है, उतना ही बनाया जाता है जितना इसका विस्तार करने वाला पुरुष। इसीलिए यज्ञ पुरुष है।

शतपथकार ने इस यज्ञ को पुरुष माना है तथा इस यज्ञ को उसी ग्रन्थकार ने तीन भागों में विभक्त किया है, जो इस तरह है –

अथेमं विष्णुं यज्ञं त्रेधा व्यभजन्त। वसवः प्रातः सवनं
रुद्रा माध्यन्दिनं सवनम् आदित्यास्तृतीयसवनम्।। १४–१–१–१५।।

अर्थात् यज्ञ विष्णु भी है। इस यज्ञ विष्णु को तीन तरह से विभक्त किया है – वसु प्रातः सवन, रुद्र माध्यन्दिन सवन तथा आदित्य तृतीय सवन।

यहाँ छान्दोग्योपनिषद् की एक कथा है जो संक्षेप में इस तरह से है – गुरुकुल में महीदास नाम का एक छोटा सा दुबला–पतला ब्रह्मचारी था। वह रुग्ण भी रहता था। उसके जीवन की सम्भावना ही नहीं थी, परन्तु उसने गुरु के सामने प्रतिज्ञा की – 'मैं ११६ वर्ष तक जीवित रहूँगा'। साथियों ने इस व्रत पर उसका उपहास उड़ाया। परन्तु एक दिन वह भी आया जब वह ११६ वर्ष तक जीवित रहा। लोगों ने पूछा – महीदास ! यह कैसे सम्भव हुआ तब महीदास ने इस रहस्य को लोगों के सामने रखना प्रारम्भ किया। महीदास बोला –

सर्वप्रथम मैंने गायत्री छन्दों के जितने भी मन्त्र थे उन्हें एकत्रित किया, फिर उन्हें जीवन में तपा व जपा। उसका परिणाम यह हुआ कि मैंने जीवन के चौबीस वर्ष प्राप्त किए क्योंकि गायत्री चौबीस अक्षरों वाली है – शतपथ ब्राह्मण स्वयं भी कहता है –

चतुर्विंशत्यक्षरा वै गायत्री।। ३–५–१–१०

अर्थात् गायत्री में २४ चौबीस अक्षर होते हैं। मैं उसे तपता–जपता चौबीस वर्ष का हो गया हूँ।

फिर महीदास बोला – फिर मैंने ''त्रिष्टुप्'' छन्द का सहारा लिया। उसको तपा व जपा। इस छन्द के सहारे चवालीस वर्ष फिर व्यतीत किए, क्योंकि इस छन्द में चवालीस अक्षर होते हैं। शतपथ ब्राह्मण स्वयं भी कहता है –

''चतुश्चत्वारिंशदक्षरा वै त्रिष्टुप्''।। ८–५–१–११

अर्थात् त्रिष्टुप् छन्द में चवालीस अक्षर होते हैं इसीलिए चवालीस वर्ष और जी गया हूँ।

साथियों ने फिर कहा – महीदास! अब बस करो, शरीर तुम्हारा बहुत ही कमजोर है। अब बहुत हो गया है। पर महीदास ने कहा मैंने तो पूर्ण पुरुष की तरह ११६ साल तक जीना है। अतः महीदास ने अब जगती छन्द का सहारा लिया, जगती छन्द के सभी मन्त्रों को तपा और जपा। परिणाम यह हुआ कि महीदास जगती छन्द के अड़तालीस वर्ष और जी उठा। इस तरह महीदास ने जगती छन्द का सहारा लिया। शतपथ ब्राह्मण भी यही बात कहता है –

''अष्टाचत्वारिंशदक्षरा वै जगती''।। शत. ६–२–२–३३

अर्थात् जगती छन्द में अड़तालीस अक्षर होते हैं, अतः महीदास भी उसे तपता व जपता अड़तालीस वर्ष और जीवित रहा, इस तरह गायत्री, त्रिष्टुप् व जगती छन्द का सहारा लेते हुए महीदास २४ + ४४ + ४८ = इस तरह से वह ११६ साल तक प्रतिज्ञानुसार अपना जीवन व्यतीत कर गया।

इस को शतपथकार ने सवनों में विभिक्त किया है – वहाँ लिखा है –

गायत्री प्रातःसवनं। त्रिष्टुम्माध्यन्दिनं सवनं
जगती तृतीयं सवनम्।। शत. १४–१–१–१७।।

अर्थात् गायत्री प्रातः सवन है, त्रिष्टुप् माध्यन्दिन सवन है और जगती तृतीय सवन है।

यही बात छान्दोग्योपनिषद् भी कहता है –

पुरुषो वा यज्ञः तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्
प्रातः सवनम् अथ यानि चतुश्चत्वारिंशत् वर्षाणि

तन्माध्यन्दिनं सवनम्। अथ यानि अष्टाचत्वारिंशद् वर्षाणि

तत्तृतीयं सवनम्।। अध्याय – ३ – खण्ड – १६।।

अर्थात् निश्चय से पुरुष ही यज्ञ है उसका ही विभागीकरण करते हुए कहा गया कि उसके जो चौबीस वर्ष हैं वह प्रातः सवन है। और अब उसके चवालीस वर्ष हैं वह उसका माध्यन्दिन सवन है तथा जो अड़तालीस वर्ष का काल है वह तृतीय सवन है। इस तरह यह पुरुष–

पुरुष
- १. वसु – प्रातः सवन = गायत्री = २४ अक्षर
- २. रुद्र – माध्यन्दिनसवन = त्रिष्टुप् = ४४ अक्षर
- ३. आदित्य – तृतीय सवन = जगती = ४८ अक्षर

इस तरह यज्ञरूपी पुरुष को तीन भागों में विभक्त कर २४, ४४ तथा ४८ वर्षों का ब्रह्मचर्य का निश्चित किया है। इसीलिए प्रस्तरण अर्थात् वेदि के चारों तरफ आसनों का बिछाना तभी सार्थक होगा जब हम वेदि के चारों तरफ उत्तम से उत्तम आसन जो ऊन के हों तो बहुत अच्छा, अन्यथा उसके समान नरम आसन का प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि इन आसनों पर वसु, रुद्र व आदित्य के रूप में तैंतीस देवताओं ने गायत्री, त्रिष्टुप् व जगती छन्द के साथ यहाँ अपना आसन जमाना है। इसीलिए इन आसनों को यजमान साधारण आसन न समझे। इसीलिए याज्ञवल्क्य ने कहा –

''आ त्वा वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्तु।। इति।।

* * *

४०-चत्वारिंशत्तमपाथेयम्

जुहू–ग्रहणम्

यज्ञ की सामग्रियों में ''घृत'' प्रधान माना गया है। शतपथ ब्राह्मण स्वयं वखान करता है–

आग्नेयं वै घृतम्।। शत.–७–४–१–४१।।

अर्थात् अग्नि को प्रदीप्त करने का एक मात्र साधन घी है। इसीलिए अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए सर्वप्रथम घी की आवश्यकता होती है। फिर शतपथकार कहता है–

रेतो वै घृतम्।। शत.–२–३–४४।।

अर्थात् मनुष्य में जठराग्नि, कामाग्नि, ज्ञानाग्नि, जितने प्रकार की अग्नियाँ हैं उनका आधार वीर्य है। वह पिघल कर जिस अग्नि में भी जा पड़े वही अग्नि भड़क उठती है और मनुष्य के आयुस् ज्वाला को प्रज्वलित करके रखने वाला भी यही वीर्य है। इसीलिए वीर्य को भी घृत मानते हुए शतपथकार ने उपयुक्त कहा है – ''रेतो वै घृतमिति'' ।।

इसी प्रकार प्रसिद्ध भी है –

''आयुर्वै घृतम्''

मनुष्य की आयु भी इसी घृत पर निर्भर है। जिस घृत का इतना महत्त्व है वही ''घृत'' आज्य के रूप में ग्रहण किया गया है। अतः याज्ञवल्क्य सर्वप्रथम जुहू अर्थात् पात्र को पकड़ता हुआ विधान करता है –

अथ दक्षिणेन जुहूं प्रतिगृह्णाति। नेत् इह पुरा नाष्ट्रा
रक्षांसि आविशन् इति ब्राह्मणः हि रक्षसाम् अपहन्ता
तस्मात् अभिनिहितः एव सव्येन पाणिना भवति।। १–३–४–१३

अर्थात् अब वह दाहिने हाथ से जुहू को ग्रहण करता है। उधर जुहू ग्रहण करते समय बायें हाथ से प्रस्तर को दबाये रखता है। कहीं इसमें राक्षस न घुस जाए। ब्राह्मण ही राक्षसों को रोकने वाला है अर्थात् मारने वाला है। इसीलिए वामहस्त से दबाकर रखा होता है।

तात्पर्य यह है कि यज्ञवेदि पर बैठते ही यजमान को दो कर्त्तव्य कर्म करने हैं वे हैं – सर्वप्रथम दाहिने हाथ से जुहू को पकड़ना तदनन्तर बांयें हाथ से प्रस्तर को अर्थात् अपने आसन को भी दबाना है। वह इसलिए कि कहीं यज्ञ प्रारम्भ करने से पूर्व ही इसमें राक्षस न प्रवेश कर जाएँ। ब्राह्मण ही राक्षसों को मारने वाला होता है। हम ब्रह्मवेता नहीं होते इसीलिए दाहिने हाथ से जुहू को पकड़ना होता है और वामहस्त से प्रस्तर को दबाना होता है।

अब वह दाहिने हाथ से जुहू को पकड़ता हुआ यजुः के इस मन्त्रांश को पढ़ता है –

''घृताची असि जुहूः नाम्ना'' इति।। २–६।।

अर्थात् तू जुहू नाम वाली घृताचि अर्थात् घृत को प्यार करने वाली है। यह घृताची भी है और जुहू भी है। तात्पर्य है कि उस जुहू का काम है – घृत पहुँचाना और नाम है – जुहू। फिर आगे और पढ़ता है –

''सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद''।। यजुः २–६।।

अर्थात् तू प्रियधाम वाली है, इस पर सुख से बैठ।।

अब वह उपभृत को लेता है और फिर पढ़ता हैः–

''घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना'' यजुः २–६।।

अर्थात् ''तू उपभृत् घृताची है और तू प्रियधाम वाली है, तू इस पर सुख से बैठ।'' उपभृत् का कार्य घृत–आचमन करना है नाम है उपभृत्। वह उपभृत् भी है और घृताची भी है।

अब वह ध्रुवा को लेता है और यजुः का ही मन्त्रांश पढ़ता है –

''घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना'' यजुः २–६।।

अर्थात् तू ध्रुवा है घृताची है। प्रियधाम वाली है, तू इस पर सुख से बैठ। यह ध्रुवा भी है और घृताची भी है। ध्रुवा का काम भी घृत–धारण है। जो कुछ शेष पुरोडाशादि शेष रहे उसको भी यह कह कर आहुति दें –

प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद।। यजुः २–६ ।।

यहाँ इन कण्डिकाओं का तात्पर्य इस तरह से समझने का प्रयत्न करें – जैसे पुरुष यज्ञ में शरीर आज्यस्थाली है, वीर्यजनक ग्रन्थियाँ उपभृत है। वीर्यकोष ध्रुवा है और उपस्थेन्द्रिय जुहू है। वीर्य घृत है।

इसी तरह यहाँ भी समझने का प्रयत्न करें उनकी यह पवित्र वेदि आज्यस्थाली है। आज्य को संगृहीत करने के जितने भी साधन हैं वे सभी ''उपभृत'' है। इसीलिए ''उपभृत'' का अर्थ है – भरने वाली। इसीलिए इसे घृताचि भी कहते हैं। यह घृत का भरण करने वाली होती है। घृत को रखने का पात्र ध्रुवा नाम से जाना जाता है। स्रुवा अर्थात् घृत को जोड़ने वाली जो चम्मच है उसे जुहू नाम से पुकारा जाता है तथा आज्य घृत है। जुहू, उपभृत तथा ध्रुवा इन तीनों का काम यज्ञ को घृत से आचमन अर्थात् भरण करना है। यही तात्पर्य इन शब्दों से हैं।

घृत और सामग्र्यादि को हमने यज्ञ वेदि पर कैसे रखना है इस व्यवस्था को भी याज्ञवल्क्य प्रतिपादित करते हैं। हमने कई स्थानों पर देखा है कि वेदि पर ही सामग्री तथा समिधाएँ और आचमनपात्रादि भी उसी पर रख कर यज्ञ को किया जाता है। हमें ऐसा नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से यज्ञ दूषित हो जाता है फिर किए गए यज्ञकर्म का कोई भी लाभ यजमान को नहीं मिलता। अतः हमें याज्ञवल्क्य के आदेशानुसार ही यज्ञ करना चाहिए, महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं–

स वा उपरि जुहूं सादयति। अध इतराः स्रुचः।। १–३–४–१५

अर्थात् अब वह जुहू को ऊपर रखता है और अन्य स्रुचों को नीचे। घृत पात्र व स्रुवा जिसे चम्मच कहा जाता है वे सभी ऊपर वेदि पर ही विराजमान होंगे। अन्य जो सामग्री आदि अन्य संसाधन हैं वे सभी प्रस्तर पर नीचे रखे जायेंगे। क्योंकि जुहू क्षत्रिय है। अन्य स्रुक् प्रजा है। अतः सभा में प्रायः करके क्षत्रिय उच्च सिंहासन

पर बैठता है और उस के समीप अन्य प्रजा वर्ग नीचे बैठते हैं। इसलिए याज्ञवल्क्य कहते हैं –

तस्माद् उपरि जुहूं सादयति अध इतराः स्रुचः।। १–३–४–१५

अर्थात् इसीलिए जुहू को ऊँचा रखता है, अन्य स्रुचों को नीचे। अतः हमें भी इसी नियम का पालन करना चाहिए। तभी हमें यज्ञ करने का लाभ प्राप्त होगा।

अब वह जुहू, उपभृत् व ध्रुवा द्वारा संगृहीत भरपूर घृत का अभिमर्शन करता है अर्थात् उसे स्पर्श करता है अथवा हवियों का स्पर्श करते हुए यजुः का मन्त्रांश पढ़ता है –

''ध्रुवाऽअसदन्नृतस्य योनौ ता विष्णो पाहि

पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिम्।। यजुः २–६।। १–३–४–१६

यहाँ 'ध्रुवा असन्' का तात्पर्य है कि यह पात्र तथा हवि अपने–अपने स्थान पर ध्रुव होकर बैठे।

''ऋतस्य योनौ'' इस मन्त्रांश का अर्थ है – यज्ञ ऋत का स्थान है अतः वह यज्ञ में बैठे।

अतः हे विष्णो! तुम इन यज्ञ पात्रों की रक्षा करो, यज्ञ की रक्षा करो, इस यजमान की रक्षा करो।

फिर कहता है – पाहि मां यज्ञन्यम्।।२–६।।

अर्थात् अपने आपको यज्ञ से अवञ्चित करता है –

यहाँ पर यज्ञपति का अर्थ है – यजमान – यज्ञ के मुझ नेता की रक्षा करो। इस प्रकार यज्ञ में अपने–आपको सम्मिलित करता है। यज्ञ विष्णु है। इस प्रकार यज्ञ से ही यज्ञ की रक्षा चाहता है, इसीलिए कहता है –

''विष्णो पाहि'' यजुः २–६।।

अर्थात् रक्षार्थ सबको यज्ञ के लिए समर्पण करता है।

तात्पर्य है कि जब विधि–विधान अनुसार यज्ञ किया जाता है तभी विष्णु अर्थात् परमपिता परमात्मा हम सबकी रक्षा करता है। अतः हमें विधि का पालन अवश्य करना चाहिए।

* * *

४१-एकचत्वारिंशत्तमपाथेयम्

सामिधेनी–प्रयोजनम्

यह पाठ बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि यहाँ पर हमने इस ''सामिधेनी'' शब्द को समझना है। तभी जा कर हमें इस पाठ का अभिप्रायः समझ में आएगा। यहाँ सर्वप्रथम हमें यह बोध हो जाना चाहिए कि जिसके द्वारा समिधाएँ प्रदीप्त होती हैं उसे ''इध्म'' कहा जाता है। अब हमने अग्नि का समिन्धन करना है। अतः होता जिन मन्त्रों के द्वारा अग्नि को प्रदीप्त करता है वे 'सामिधेनी' इस नाम से जानी जाती है। वे कौन–सी है? कितनी है ? उनका प्रयोजन क्या है? इन सभी बातों का विवरण इस पाठ में दिया जायेगा। सर्वप्रथम महर्षि याज्ञवल्क्य इस सन्दर्भ में क्या परिभाषित करते हैं इसे जानना आवश्यक है अतः महर्षि लिखते हैं –

इन्धे ह वा एतद् अध्वर्युः। इध्मेन अग्निं तस्माद् इध्मः
नाम समिन्धे सामिधेनीभिः होता तस्मात् सामिधेन्यः–नाम।। १–३–५–१

अर्थात् अब अध्वर्यु अग्नि में समिधाएँ लगाकर उसे प्रदीप्त करता है। अतः वे समिधाएँ जिनसे प्रज्वलित करता है उसे ''इध्म'' नाम से जाना जाता है। इसलिए होता अग्नि के समिन्धन अर्थात् प्रदीप्त करने में जिन ऋचाओं का पाठ करता है वे ''सामिधेनी'' कहलाती है। अर्थात् इध्म से समिन्धन करते हुए जिन ऋचाओं का पाठ किया जाता है वे ''सामिधेनी'' कहलाती हैं।

यहाँ वह वाक्य बोलता है –

''अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि'' १–३–५–२

अर्थात् अध्वर्यु होता से कहता है कि – ''प्रज्वलित की जाने वाली अग्नि के लिए मन्त्र बोलो। इस तरह होता जलने वाली अग्नि के लिए मन्त्र बोलता है –

कई लोगों का मन्तव्य है कि –

''अग्नये समिध्यमानाय होतरनुब्रूहि'' १–३–५–३

याज्ञवल्क्य का मत है कि ऐसा नहीं बोलना चाहिए क्योंकि –

तथा न ब्रूयाद् अहोता वा एष पुरा भवति यदा एव एनम् प्रवृणीते।।
१–३–५–३

वस्तुतः ऐसा नहीं बोलना चाहिए क्योंकि जब तक वरण विधि नहीं हो लेती उससे पहले वह पुरुष ''अहोता'' होता है।

अहोता यज्ञविधि नहीं कर सकता। यहाँ इस बात को अच्छी तरह याज्ञिकों को समझ लेना चाहिए कि सर्वप्रथम यजमान का वरण करना होगा जिससे कि वह होता बन सके। इसीलिए याज्ञवल्क्य ने भी होता बनाने के पश्चात् ही कहा –

''अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि'' इति।।

वरणविधि पूर्ण होने के पश्चात् अग्नि को प्रज्वलित करना होता है। उसके लिए हमें अग्नि बोधक ऋचाओं का प्रयोग करना होता है तथा उन्हीं से ही अग्नि को प्रज्वलित करता है। तथा उन ऋचाओं का छन्द गायत्री होना चाहिए। अतः गायत्री छन्द से अग्नि प्रज्वलित करता है। गायत्री वीर्य है। गायत्री ही ब्रह्म है। अतः वीर्य से ही इसको प्रज्वलित करता है ।

जिस गायत्री का इतना बड़ा महत्त्व है उसका उच्चारण अवश्य करना चाहिए। बिना उसके अग्नि का समिन्धन नहीं करना चाहिए। तभी यज्ञ का लाभ हमें प्राप्त होगा।

वह समिन्धन कितने मन्त्रों से करना है इस सन्दर्भ में स्वयं याज्ञवल्क्य ने लिखा है –

एकादश अन्वाह। एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप् ब्रह्म
गायत्री क्षत्रं त्रिष्टुप् एताभ्याम् एव एनम् एतद् उभाभ्यां
वीर्याभ्यां समिन्धे तस्माद् एकादश अन्वाह।। १–३–५–५

अर्थात् वे ऋचाएँ संख्या में ग्यारह होती हैं। क्योंकि त्रिष्टुप् छन्द में ग्यारह अक्षर होते हैं। गायत्री ब्रह्मशक्ति की द्योतिका होती है और त्रिष्टुप् क्षत्रियशक्ति की। इन्हीं दो शक्तियों द्वारा अग्नि को प्रज्वलित करता है। इसीलिए ग्यारह मन्त्र बोलता है।

यहाँ हमें यह बोध हो जाना चाहिए कि हमें कम से कम ग्यारह गायत्री मन्त्र का जाप तो करना ही चाहिए। तभी ब्राह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति साथ–साथ मिलकर अग्नि को प्रज्वलित करेंगी। दोनों ही शक्तियाँ महान् हैं।

आगे इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि किसी भी तरह का शुभारम्भ हमें प्रथम तीन गायत्री मन्त्रों द्वारा करना चाहिए तथा सम्पन्नता पर भी तीन बार इसका उच्चारण करना चाहिए।

इस तरह तीन आदि में और तीन अन्त में करके तीन–तीन का उच्चारण करता हुआ १५ सामिधेनियों का उच्चारण करता है। १५ की संख्या वज्र मानी गई है। वज्र वीर्य है। इस तरह से सामिधेनियों को शक्तिशाली बनाता है। तब सामिधेनी के उच्चारण करने पर जिस शत्रु से द्वेष करता हो उस समय धरती को पैर के अंगूठे से दबाता हुआ उसका नाम लें। इस प्रकार इस वज्र से उसे दबाता है –

अथवा मास के प्रत्येक पक्ष में १५ रात्रियाँ होती हैं। १५ रात्रियों का एक पखवाड़ा होता है। पक्ष दर पक्ष करके संवत्सर को प्राप्त करता है। इस तरह वह संवत्सर की सभी रात्रियों को प्राप्त करता है अर्थात् पक्ष की इन सामिधेनियों से रात्रि के अन्धकार को दूर करता जाता है और अपने जीवन को प्रकाशमय बनाता है।

इसी तरह वह सम्पूर्ण संवत्सर को भी प्राप्त हो सकता है क्योंकि एक गायत्री में २४ अक्षर होते हैं। जब हम उन २४ को १५ से गुणा करते हैं २४ × १५ = तो तीन सौ साठ अक्षर होते हैं और एक संवत्सर में ३६० दिन होते हैं। इस तरह से उन ३६० दिनों को प्राप्त करता है। इसी तरह सारे संवत्सर को भी प्राप्त करता है।

सामिधेनियों के साथ इस तरह सम्पूर्ण संवत्सर का चक्र चलता रहता है। वर्ष भर हमें भी इन सामिधेनियों को अपनाये रखना चाहिए, जिससे कि हमारा जीवन भी प्रकाशमय हो।

फिर यदि किसी विशेष उद्देश्य के लिए दृष्टि को सामने रख कर प्रयोग करना हो तो सत्रह सामिधेनियाँ जपनी चाहिए। उनमें जिस देवता के लिए दृष्टि की जाती है उसका नाम ''उपांशु'' बोला जाता है। उपांशु उस क्रिया को बोलते हैं जिसमें ओठ तो हिले परन्तु शब्द अन्य को न सुनाई दे। अर्थात् जिस देवता की दृष्टि देनी होती है उसके लिए चुप–चाप धीरे से दृष्टि दी जाती है। सत्रह संख्या से अभिप्राय है बारह मास और पाँच ऋतुएँ। दोनों मिलकर सत्रह हो गए। यह प्रजापति का सप्तदश रूप है।

प्रजापति सम्पूर्ण है। अतः उसके सम्पूर्ण रूप से यज्ञ करने से उस कामना को निर्विघ्न रूप से सिद्ध करता है, जिसके लिए दृष्टि की रचना करता है। वह प्रजापति सम्पूर्ण परमात्मा है, वह भी दृष्टिगोचर नहीं है जिसके लिए यज्ञ रचता है। यही दृष्टि का उत्तम प्रकार है।

कुछ लोगों का मानना है कि–दर्श और पौर्णमास यज्ञों में इक्कीस सामिधेनियाँ पढ़नी चाहिए। यह इक्कीस की संख्या इस तरह से बनती है – इसमें संवत्सर के १२ मास, पाँच ऋतुएँ और तीन लोक होते हैं इस तरह कुल ये बीस हुए। इक्कीसवाँ यह सामने तपता सूर्य है। यह इक्कीसवाँ सबकी गति और प्रतिष्ठा है। इक्कीस सामिधेनी वाला ही इस गति और इस प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है। इसीलिए इक्कीस सामिधेनियों का उच्चारण करना चाहिए। तभी जाकर हम भी गति और प्रतिष्ठा को प्राप्त कर सकते हैं।

याज्ञवल्क्य इस २१ सामिधेनियों के पक्ष में नहीं है। जो व्यक्ति जैसा है उसने वैसा ही रहना है तो उसका लाभ क्या हुआ ? जब हानि–लाभ बराबर का हो तो उस कर्म को करना भी नहीं चाहिए। याज्ञवल्क्य के मतानुसार सिद्धान्त पक्ष में २१ सामिधेनियाँ ग्रहण नहीं की जाती। अतः हमें भी इसे ग्रहण नहीं करना चाहिए।

आगे इस सन्दर्भ में जो याज्ञवल्क्य कह रहा है उस पर हमें विचार करना चाहिए याज्ञवल्क्य यहाँ महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं –

''त्रिरेव प्रथमां त्रिः उत्तमाम् अनवानन् अनुब्रूयात्।। १–३–५–१३

अर्थात् प्रथम सामिधेनी जो मन्त्र है उसे तीन बार एक ही साँस में उच्चारण करना है तथा अन्तिम सामिधेनी को भी एक ही साँस में उच्चारण करना है। अनवानन् का अर्थ है – मध्य में किसी भी तरह का साँस नहीं लेना। तीन ही लोक हैं। इस तरह से वे तीनों ही लोकों को तानता है अर्थात् तीन लोकों को प्रीति तथा बलयुक्त करता है। इसी तरह पुरुष में भी तीन प्राण होते हैं। ऐसा करने से उसका जीवन बढ़ जाता है। मृत्यु उसको बीच से काटता नहीं। तात्पर्य यह है कि यदि तीनों सामिधेनियों को एक ही सांस में उच्चारण करता है तो वह दीर्घजीवी होता है। प्राण ही में शक्ति है, बल है।

होता को चाहिए कि बिना बीच में सांस तोड़े जितना उसका सामर्थ्य हो उससे मन्त्रों को पढ़ता रहे। बीच में साँस तोड़ देने का अर्थ यह है कि हमने यज्ञ का अनादर कर दिया। यज्ञ का अनादर पाप है, अतः बिना साँस तोड़े लगातार पढ़ने से पाप नहीं होता।

यदि होता ऐसा करने में अशक्त हो तो एक–एक मन्त्र को ही बिना साँस तोड़े बोले। इसप्रकार वह एक–एक ऋचा से एक–एक लोक को प्राप्त करेगा। वह प्राण की स्थापना अर्थात् साँस इसीलिए लेता है कि गायत्री प्राण है। पूर्ण गायत्री एक साँस में बोलकर मानो वह यजमान के लिए सम्पूर्ण प्राण का सम्पादन करता है। इसीलिए होता को एक–एक मन्त्र बिना साँस तोड़े पढ़ना चाहिए।

अब होता को चाहिए कि सब सामिधेनियों को एक के पीछे दूसरी, बिना तोड़े लगातार पढ़ता जाए।

इसका तात्पर्य यह है कि यह संवत्सर के दिन–रातों का तन्तु जानता है अर्थात् जैसे दिन के पीछे रात है और रात के पीछे दिन है उसी तरह से अविच्छिन्न रूप में मन्त्रों का तन्तु बिना तोड़े उनका उच्चारण करना चाहिए। संवत्सर के दिन–रात लगातार अविच्छिन्न रूप से ही चक्कर लगाते रहते हैं। इसका यह लाभ होगा कि हमसे द्वेष करने वाले शत्रु के घुसने के लिए कोई भी छिद्र नहीं मिलेगा। यदि बीच में तन्तु तोड़ दे तो अर्थात् मन्त्रोच्चारण करते हुए साँस ले ले तो शत्रु को घुसने का स्थान उपलब्ध हो जायेगा। इसीलिए शत्रु से अपने आप को सुरक्षित रखने के लिए बिना साँस तोड़े लगातार मन्त्र का पाठ हमें करना चाहिए। यही याज्ञवल्क्य का अभिप्राय है।

४२-द्वाचत्वारिंशत्तमपाथेयम्

हिङ्कार–प्रयोजनम्

बोलने और गाने में काफी अन्तर है। बोला मुख से जाता है, परन्तु गान हृदय से किया जाता है। वह गान संगीतमय तभी बनता है जब उस गान को हम समुचित वाद्य यन्त्रों के साथ गाते हैं। तभी वह गान संगीत–मय बनता है।

हमने वेद–मन्त्रों का उच्चारण ही नहीं करना, अपितु उसे संगीतमय होकर उच्चारित करना है। तभी उसमें सरसता आती है। उस सरसता का साधन क्या है? इस सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य स्वयं निर्देश करते हुए लिखते हैं –

> हिङ्कृत्यान्वाह ! नाऽसामा यज्ञः अस्ति–इति वा आहुः
> न वा अहिङ्कृत्य साम गीयते स यद् हिङ्करोति तद्
> हिङ्कारस्य रूपं क्रियते प्रणवेन एव साम्नो रूपम्
> उपगच्छति ओ३म् ओ३म् इति एतेन उ ह अस्य एष सर्व
> एव ससामा यज्ञो भवति।। १–४–१–१

अर्थात् होता हिङ्कार करके उच्चारण करता है। यह इसीलिए कि बिना साम अर्थात् संगीत के यज्ञ सम्पन्न नहीं होता ऐसा कहा गया है और संगीत बिना हिङ्कार के नहीं होता। यह हिङ्कार ही स्वयं हिङ्कार का रूप है। यहाँ तो साम का रूप ''ओ३म्'' से ही पूर्ण होता है। इस ''ओ३म्'' के उच्चारण से ही सारा यज्ञ संगीतमय हो जाता है।

हिङ्कार कहने का प्रयोजन क्या है ? इसीलिए कि प्राण ही हिङ्कार है। प्राण हिङ्कार इसीलिए है कि नाक के नथने बन्द करने पर हिङ्कार नहीं बोल सकते। ऋचाओं को वाणी से बोला जाता है। वाणी और प्राण को जोड़कर जोड़ा बनता है। हिङ्कार बोल कर सामिधेनियाँ पढ़ने का अभिप्राय यह है कि सामिधेनियों में सन्तान का प्रजनन करा देता है मिथुन बन कर।

यह हिङ्कार उपांशु अर्थात् मौन होकर करता है। यदि हिङ्कार भी ऊँचे से बोलकर करें तो प्राण और वाणी में से वाणी ही रह जायेगी, जोड़ा नहीं बनेगा। इसीलिए हिङ्कार को उपांशु करके बोलता है।

यह सामिधेनी के मन्त्र ''आ'' व ''प्र'' उपसर्ग वाले होते हैं। ''आ'' उपसर्ग वाले जैसे – ''अग्न! आ याहि वीतये'' तथा ''प्र'' उपसर्ग वाले – ''प्र वो वाजा अभिद्यवे''।

इस तरह से वह गायत्री को समीपगामिनी और दूरगामिनी बनाकर कार्य में नियुक्त करता है। वह दूरगामिनी होकर देवों तक यज्ञ को पहुँचाती है और समीपगामिनी होकर मनुष्य की रक्षा करती है। इसीलिए ''आ'' और ''प्र'' वाली ऋचाओं का उच्चारण करता है।

इसका अन्य दूसरा भी अभिप्राय हो सकता है – ''प्र'' प्राण है और ''आ'' उदान है। इस तरह ''प्राण'' और ''उदान'' को धारण करता है इसीलिए ''आ'' और ''प्र'' का प्रयोग करता है।

इसका एक कारण और भी हो सकता है – ''प्र'' से वीर्य सींचा जाता है और ''आ' से सन्तान उत्पन्न होती है। ''प्र'' से पशु चरने जाते हैं ''आ'' से वापिस लौटते हैं। वस्तुतः संसार की प्रत्येक वस्तु आती और जाती है। इसीलिए ''आ'' और ''प्र'' का प्रयोग करता है।

फिर वह ''प्र'' वाली सामिधेनी का उच्चारण करता है जो इस तरह से है –

''प्र वो वाजा अभिद्यवो हविष्मन्तो घृताच्या
देवाञ्जिगाति सुम्नयुः।। ऋ.–३–२७–१ ।।

अर्थात् ''आपके अन्न द्यौ लोक को जावें'' यह हुआ ''प्र'' या जाना। फिर कहता है – 'अग्न ! आ याहि वीतये' हे अग्निः– बुद्धि के लिए ''आ'' इससे 'आ' या आना हुआ।

कुछ का मत है कि इन दोनों से ''प्र'' अर्थात् जाने का अर्थ निकलता है। परन्तु यह साधारण बुद्धि में भी नहीं आता। अतः ''प्र वो वाजा अभिद्यवः'' से जाना ही अभीष्ट और 'अग्न ! आ याहि वीतये' से आना।

फिर वह पहली सामिधेनी को पढ़ता है – ''प्र वो वाजा अभिद्यवः'' । इससे जाना अभिप्रेत है यहाँ वाज कहते हैं ''अन्न'' को। इसके पाठ से होता को अन्न की प्राप्ति होती है। 'अभिद्यवः' का अर्थ है – देदीप्यमान। यहाँ अर्द्धमास का भी अभिप्राय आता है क्योंकि अर्द्धमास द्यौलोक को जाते हैं फिर बोलता है – ''हविष्मन्तः– हे हवि वाले। हवि वाले पशु होते हैं। इस प्रकार पशुओं की भी प्राप्ति करता है।

यहाँ दोनों की प्राप्ति करता है। अन्न की भी और पशुओं की भी।

इस तरह हमें हिङ्कार अर्थात् ''ओ३म्''पूर्वक मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिए तभी हमारे मन्त्र संगीतमय होंगे। जब मन्त्र संगीतमय होंगे तब हमारा यज्ञ भी संगीतमय होगा। संगीतमय वातावरण में किया जा रहा यज्ञ सभी पूर्वोक्त कामनाओं को पूर्ण करने वाला होता है। उसका प्रथम लाभ तो यही होगा कि होता के प्राण और उदान दोनों वायु सुदृढ़ होंगे। इनके सुदृढ़ होने से मानव जीवन भी सुदृढ़ होगा।

यहाँ पर सामिधेनी का प्रयोग दूरगामिनी और समीपगामिनी के रूप में करना है। हमने अगर यज्ञ को देवों तक पहुँचाना है तो गायत्री को हमें दूरगामिनी बनाना होगा तभी हमारा यज्ञ देवों तक पहुँचने में समर्थ होगा। यदि हम उस गायत्री को समीपगामिनी रखते हैं तो केवल मनुष्य–मात्र की रक्षा होगी।

''प्र'' और ''आ'' ये दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि ''प्र'' वीर्य है और ''आ'' सन्तान है।

''प्र'' का अर्थ जाना और ''आ'' का अर्थ आना है। संसार में सभी का आना–जाना बना रहे। अतः हिङ्कार पूर्वक इन ऋचाओं का प्रयोग हमें करना चाहिए।

* * *

४३-त्रयश्चत्वारिंशत्तमपाथेयम्

आहवनीय अग्नि की उत्पत्ति का इतिहास

यज्ञ की अग्नि का सिर ''आहवनीय'' अग्नि को माना गया है। इस अग्नि को ''गार्हपत्याग्नि'' से आह्वाहित करके जलाया जाता है। इसके आह्वान का मन्त्र है – ''ओ३म् भूर्भुवः स्वः'' । इस व्याहृति मन्त्र द्वारा होता यज्ञ में इसका आह्वान करता है तदनन्तर ही उसका यह महायज्ञ प्रारम्भ होता है।

यहाँ याज्ञवल्क्य ने इस आहवनीय अग्नि का एक बहुत सुन्दर कथानक दिया है जो इस तरह से है –

घृताच्येति।। १–४–१–१०।।

''घृताच्या'' यह शब्द कर्म–काण्ड की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण है। इसका शाब्दिक अर्थ है – ''घृत को पहुँचाने वाली'' । घृत को पहुँचाने वाली या ढोने वाली वैश्वानर अग्नि ही होती है। अतः यहाँ पर एक कथा दी जाती है कि – मथु का पुत्र माथव विदेघ का राजा था।

विदेघो ह माथवोऽग्निं वैश्वानरं मुखे बभार।। १–४–१–१०

उस माथव ने वैश्वानर अग्नि को मुख में धारण किया हुआ था। राहूगण गोतम उसका पुरोहित था। गोतम राहूगण उससे बात करता, परन्तु जब वह पुकारता था तो वह न बोला कि कहीं मेरे मुख से अग्नि बाहर निकल न पड़े।

तम् ऋग्भिर् ह्वयितुं दध्रे।। १–४–१–११

तब राहूगण गोतम ने राजा के मुख से अग्नि को निकालने के लिए ऋग्वेद की ऋचाओं का सहारा लिया। उसने कहा –

वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि।

अग्ने बृहन्तमध्वरे।। ऋ. ५–२६–३

हे बुद्धिमान् ! बड़े प्रकाश वाले और हवन में प्रिय अग्नि ! हम तुझ को यज्ञ में बुलाते हैं ''हे विदेघ !''

वह फिर भी न बोला, राजा ने कुछ उत्तर नहीं दिया। तब उसमें दूसरी ऋचा का सहारा लिया और बोला –

उदग्ने शुचयः तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते।
तव ज्योतींषि अर्चय।। ऋ. ८–४४–१७

अर्थात् हे अग्नि ! अपनी चमकीली, प्रकाशयुक्त ज्योतियों को ऊपर को फेंक। ओ विदेह ! राजा ने फिर भी कुछ उत्तर नहीं दिया, तब उसने तीसरी ऋचा को पढ़ा, वह ऋचा इस तरह से है –

तन्त्वा घृतस्नवीमहे चित्रभानो स्वर्दृशम्।
देवाँ आ वीतये वह।। ऋ. ५–४४–२

इस मन्त्र पर याज्ञवल्क्य जी ने कहा –

''तन्त्वा घृतस्नवीमहे'' इति एव अभिव्याहरद् अथ
अस्य घृतकीर्तौ एव अग्निः वैश्वानरः मुखाद्
उज्जज्वाल। तन्न शशाक धारयितुं सः अस्य मुखाद्
निष्पेदे स इमां पृथिवीं प्रापादः।। १–४–१–१३

अर्थात् अभी पुरोहित ने ''तन्त्वा घृतस्नवीमहे'' इस मन्त्र को इतना पढ़ा था कि ''घृत'' शब्द के कीर्तन मात्र से ही वैश्वानर अग्नि जल उठा। राजा उसे अपने मुख में न रोक सका। अग्नि राजा के मुख से निकलकर पृथिवी पर आ पड़ा।

विदेघ माथव उन दिनों सरस्वती के किनारे पर था। उस समय अग्नि जलते–जलते पूर्व की ओर बढ़ा। गोतम राहूगण और विदेघ माथव उसे दाह करते हुए अग्नि के पीछे–पीछे चले आते थे। उसकी इस दाह–यात्रा ने सब नदियों को सुखा दिया। किन्तु उत्तर–पर्वत से सदानीरा नाम की नदी बहती थी। उसे वह वैश्वानर अग्नि नहीं सुखा सका। इसीलिए ब्राह्मण लोग इस नदी को पार नहीं करते थे, यह सोचकर कि अग्नि

वैश्वानर ने इसको न जलाया। यूंकि वैश्वानर अग्नि ने इसे नहीं जलाया अतः यह पवित्र नहीं है।

परन्तु आजकल बहुत से ब्राह्मण इस सदानीरा नदी के पूर्व की ओर रहते हैं। किन्तु पहले यह सम्मुख–भाग भी ब्राह्मणों के निवास के योग्य नहीं था, क्योंकि उस समय सदानीरा के पूर्व की भूमि ऊसर पड़ी थी, उसमें दलदल बहुत था, क्योंकि– अग्नि वैश्वानर ने उसका आस्वादन नहीं किया था अर्थात् वैश्वानर अग्नि ने उसका दाह नहीं किया था।

अब वही प्रदेश सर्वथा निवास योग्य है क्योंकि ब्राह्मणों ने यज्ञ करके उसको आस्वादित करा दिया है अर्थात् सुस्वादु बना दिया है। गर्मी के अगले दिनों में भी यह नदी खूब बहती है। अग्नि वैश्वानर ने इसे दग्ध नहीं किया था। अतः यहाँ ठण्डक बहुत होती है।

तब वह विदेघ माथव बोला – हे अग्ने ! मैंने तो सारी आयु भ्रमण में बिता दी है, मैं कहाँ रहूँ ? इस पर अग्नि ने कहा कि इस सदानीरा के पूर्व की ओर का प्रदेश तेरा राज्य हो। वह सदानीरा ही इस समय भी कोसल और विदेह देशों के बीच की सीमा है और वे विदेह ही माथव कहलाते हैं क्योंकि वे मथु की सन्तान हैं।

अब अन्त में राहूगण ने कहा – ''मैंने बार–बार तुम को बुलाया। तुम क्यों नहीं बोले? तब विदेघ माथव बोला – मेरे मुख में उस समय वैश्वानर अग्नि था, कहीं वह गिर न पड़े, इसी डर से मैं नहीं बोला।

गोतम ने फिर पूछा – फिर ऐसा क्या हुआ कि अब तुम बोल पड़े ? राजा ने उत्तर दिया – जब तुमने ''घृतस्नवीमहे'' इस ऋचा को पढ़ा उस समय ''घृत'' शब्द के उच्चारण मात्र से ही वैश्वानर अग्नि मेरे मुख में प्रज्वलित हो उठी और मैं उसको मुख में न रख सका। अग्नि–वैश्वानर पृथिवी पर निकल पड़ा।

अब महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

स यत्सामिधेनीषु घृतवत्। सामिधिनमेव तत्–

सम् एव एवं तेन इन्धे वीर्यम् एव अस्मिन् दधाति।। १–४–१–२०

अर्थात् इसीलिए सामिधेनी ऋचाओं में जो घृत वाले मन्त्र हैं वे अग्नि जलाने में बड़े उपयुक्त हैं क्योंकि घृत से ही अग्नि का समिन्धन होता है। इन्हीं सामिधेनियों को पढ़ कर वह अग्नि को जलाता है और यजमान को शक्ति प्रदान करता है।

इसीलिए ''घृताच्या'' शब्द पढ़ा है जिसका अभिप्राय है ''घृत'' से भरे चमचे से ''देवान् जिगाति सुम्नयुः'' शान्ति का इच्छुक वह देवों के समीप जाता है। ''यजमानः सुम्नयुः'' यजमान भी शान्ति का इच्छुक है वह भी देवों के पास जाना चाहता है।

कथानक का सार याज्ञवल्क्य ने संक्षेप में कह दिया है जिसका तात्पर्य यह है कि यदि आप वैश्वानर 'अग्नि' को प्रसन्न करना चाहते हो तो ''घृताच्य'' अर्थात् भर–भर चम्मच को चढ़ाने वाले बनो। क्योंकि ऐसा यजमान जीवन में शान्ति का इच्छुक होकर वह देवों के पास आता है। शान्ति व देवों की प्राप्ति का साधन हमारे पास भर–भर कर घृत का चम्मच वैश्वानर अग्नि में चढ़ाने के लिए है। इसीलिए यहाँ कहा गया है –

''देवान् जिगाति सुम्नयुः''

अर्थात् घृताची के द्वारा यजमान शान्ति के लिए तथा सुख के लिए देवों की स्तुति करता है।

हमें भी जीवन में शान्ति व सुख के लिए घी के चम्मच भर–भर करके वैश्वानर 'अग्नि' के माध्यम से देवों को प्रसन्न करना है। उन्हीं की प्रसन्नता में ही शान्ति और सुख है।

इस वैश्वानर अग्नि की यात्रा के सन्दर्भ में स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज ने अपने इस भाष्य में जो विवेचन किया है वह अत्यन्त प्रशंसनीय व ग्रहण करने योग्य है। वे लिखते हैं –

''वह वैश्वानर यज्ञों का पिता है, विद्वानों का मार्गदर्शक है, दूरदर्शी है, प्रजाओं के हृदय का स्वामी है। इसीलिए ऐसे संन्यासी के हृदय में जलने वाली अज्ञान का खाण्डवदाह करने वाली प्रबल ज्वाला को भी वैश्वानर अग्नि कहें तो कुछ अनुचित नहीं।

अब देखना है कि यह अग्नि विदेघ माथव के मुख में किस प्रकार रह सकती है? इसका रहस्य यह है कि जिस प्रकार शंकर को सुधन्वा मिल गए, तथा रामदास जी को शिवा जी मिल गए (यहाँ हम यह भी कह सकते हैं जिस तरह गुरु विरजानन्द को स्वामी दयानन्द मिल गए) तभी उनके विचारों का प्रचार हुआ। इसी प्रकार राहूगण गोतम राजा विदेघ माथव को वैश्वानर शिक्षा (अर्थात् Mass Education) के लिए प्रेरणा करते थे। अग्नि राजा के मुख में थी, अर्थात् राजा की आज्ञा निकलते ही प्रचार आरम्भ होना अनिवार्य था। किन्तु विवाद यह हो रहा था कि ज्ञान प्रचार का साधन किसे बनाया जाये ?

पहले राहूगण ने कहा कि अग्नि वीतिहोत्र अर्थात् अन्नदाता है। कुछ लोगों को अन्न कमाने की विद्या सीखा दो, बस उनकी देखा–देखी सब लोग उस विद्या को सीखने लगेंगे। राजा बोले कि यह मुझे स्वीकार नहीं। इससे लोगों को अन्न मिलेगा। किन्तु वे शिश्नोदर परायण ही तो रहेंगे।

फिर गोतम ने कहा कि अच्छा, कुछ अत्यन्त उच्च कोटि के विद्वान् उत्पन्न कर दो। उनकी विद्या के प्रकाश से लोग स्वयं विद्याभ्यास में प्रवृत्त हो जायेंगे। राजा ने कहा – मुझे यह भी स्वीकार नहीं। उन विद्वानों की लोग पूजा करेंगे, उन पर आश्चर्य करेंगे, आतंक और विस्मय भरी दृष्टि से उन्हें देखेंगे, परन्तु इससे उनमें ज्ञान का प्रचार न होगा।

इस पर राहूगण ने कहा कि फिर तो ऐसे प्रचारकों के हाथ में ज्ञान–प्रचार दीजिए, जिनकी वाणी में घृत हो और वे इस अग्नि में घृत डालें। घृत अग्नि को प्यारा है। लोगों की ज्ञान प्राप्ति की अभिलाषा रूप अग्नि इस घृत से जाग उठेगी। कथा, नाटक, आख्यानाख्यायिका, प्रचारादि साधनों द्वारा साधारण प्रजा में ज्ञान फैलाओ। यह बात राजा के मन में लग गई और उन्होंने यह अग्नि यात्रा आरम्भ कर दी। जिस नगर व ग्राम से यह अग्नि निकल गई वहाँ का कूड़ा–कर्कट भस्म हो गया और वह क्षेत्रतर बन गया, यही इस अग्नि–यात्रा की कथा है।''

यह था सम्पूर्ण वैश्वानर अग्नि की कथा का सारांश। इतना अवश्य जान लेना कि जिस घर में इस अग्नि का आधान नहीं रहता वह घर हमेशा ही गन्दगी से भरा रहता है। घर की स्वच्छता के लिए इस अग्नि का आधान सभी को करना चाहिए।

दूसरी बात जिस व्यक्ति के मुख में भी अगर यह वैश्वानर अग्नि निवास नहीं करती उस व्यक्ति का सम्मान भी समाज में नहीं होता। जिसकी वाणी में राम है – वही शासन करने में समर्थ है। हमें भी वैश्वानर अग्नि को अपनाना चाहिए।

४४-चतुश्चत्वारिंशत्तमपाथेयम्

आठ सामिधेनी मन्त्र

यज्ञ में वैश्वानर अग्नि की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है क्योंकि इस अग्नि को यज्ञ का सिर माना गया है। जब हमने इस अग्नि को वेदि में स्थापित कर दिया तो होता का कर्त्तव्य बनता है कि इस अग्नि का यह अच्छी तरह से समिन्धन करे। उसका एक मात्र साधन हमारे पास समिधाएँ हैं, समिधाओं में समिन्धन तभी होता है जब हम उसे घृत लगा देते हैं। घृत के ही सान्निध्य से अग्नि एकदम उन समिधाओं को ग्रहण करती है तथा वह उसी समय समिधाओं के साथ प्रज्वलित हो उठती है। समिधाओं से अग्नि का समिन्धन मन्त्र–पूर्वक होना चाहिए इसी लिए याज्ञवल्क्य कहते हैं –

स यत् सामिधेनीषु घृतवत्। सामिधेनमेव
तत् सम् एव एनं तेन इन्धे वीर्यम् एव अस्मिन् दधाति।। १–४–१–२०

अर्थात् सामिधेनी ऋचाओं में जो घृत वाले मन्त्र हैं वे असली सामिधेनी हैं, क्योंकि घृत ही से अग्नि का समिन्धन होता है और वही यजमान को शक्ति प्रदान करता है। तात्पर्य यह है कि मन्त्रपूर्वक हमने समिधा द्वारा जिसमें घृत लगा हो उससे अग्नि का समिन्धन अर्थात् अग्नि को अच्छी तरह प्रज्वलित करना है। ऐसी जो अग्नि होती है वही यजमान को भी प्रकाशित करती है, उसी से यजमान को भी बल मिलता है। अब समिन्धन घृत द्वारा ही मन्त्रपूर्वक किया जाना है इसीलिए याज्ञवल्क्य ने ''घृताच्या'' शब्द का प्रयोग किया जिसका अर्थ होता है – ''घी से भरे चमचे से''। क्योंकि यहाँ वही मन्त्र पढ़े जाने हैं, जो घृत से सम्बन्धित है अतः याज्ञवल्क्य प्रथम सामिधेनी पढ़ते हैं –

। ''देवान् जिगाति सुम्नयुः'' ।। १–४–१–२१

अर्थात् शक्ति का इच्छुक यजमान शान्ति प्राप्त करने के लिए देवों के पास जाता है। यहाँ इस बात को समझ लेना चाहिए कि यदि हम जीवन में शान्ति चाहते हैं तो हमें

देवों का सान्निध्य प्राप्त करना चाहिए। उसका एक मात्र साधन ''अग्नि'' है। उस अग्नि को हमने अपने घरों में स्थान देना है जिससे फिर घर में शान्ति बनी रहेगी और हमारी प्रार्थना अग्नि में घी से भरे चम्मच द्वारा होगी –

''देवान् जिगाति सुम्नयुः'' इति।

अब दूसरी सामिधेनी पढ़ता है –

''अग्न आ याहि वीतये'' ।। १–४–१–२२ ।।

।। इस दूसरी सामिधेनी द्वारा अग्नि का आवाहन किया गया है। हमें भी यज्ञ करते हुए इसी मन्त्र के द्वारा इसी तरह आवाहन करना चाहिए। यहाँ पर भी यही प्रार्थना की जा रही है कि ''हे अग्नि ! यज्ञ की वृद्धि के लिए आपने आना है।'' यहाँ वृद्धि से अभिप्राय विस्तार से, फैलाव से है। फैलाव की इच्छा इसीलिए की गई क्योंकि यज्ञ से पूर्व सभी लोक परस्पर मिले हुए थे। और आकाश को भी हाथ आगे बढ़ाकर छू सकते थे। मानो आकाश के तारे छू सकते थे। आगे कहा गया है –

ते देवा अकामयन्त। कथं नु नः इमे लोका वितरां स्युः।। १–४–१–२३

अर्थात् देवों ने परस्पर विचार किया कि ये परस्पर मिले हुए लोक दूर–दूर कैसे हों ? कैसे हमारे लिए खुला विस्तृत अवकाश हो जावे। यह विचार करके उन्होंने ये तीन अक्षरों वाला ''वीतये'' शब्द का उच्चारण किया। यह उच्चारण करते ही लोक दूर–दूर हो गये और देवों को दूर–दूर तक जगह मिल गई। बस इस ऋचा के मार्ग को इस तरह से समझता है और जिस जानने वाले के लिए इस सामिधेनी का उच्चारण करता है और विशेषतः 'वीतये' कहता है उसके लिए भी दूर–दूर तक अवकाश मिल जाता है अर्थात् वह विस्तृत–स्थान का स्वामी हो जाता है। तीनों लोकों में उसे अवकाश मिल जाता है। यह सब कुछ ऐसे ही नहीं मिल जाता। इसके लिए प्रभु की प्रशंसा करनी पड़ती है, उसी का आशीर्वाद लेना होता है। अतः याज्ञवल्क्य आगे कहते हैं –

गृणानो हव्यदातये।।

नि होता सत्सि बर्हिषि।। १–४–१–२४

यहाँ पर होता गुणगान करता हुआ हविर्दान करने वाले के लिए है। यजमान ही निश्चयपूर्वक हव्य देने वाला है। इसीलिए होता का कर्त्तव्य बनता है कि वह यजमान का भला चाहे। भला तभी हो सकता है जब वह यजमान के कल्याण के लिए प्रभु से प्रार्थना करे। अतः यजमान का भी कर्त्तव्य बनता है कि वह भी विनम्र होकर उससे प्रार्थना करे कि आप मेरा कल्याण करें।

तदनन्तर यजमान होता से प्रार्थना पूर्वक कहता है –

नि होता सत्सि बर्हिषि।। इति

निश्चिन्त होकर होता अपने आसन पर विराजमान हो। यहाँ याज्ञवल्क्य ने होता ''अग्नि'' को माना है। बर्हि से आच्छादित वेदि आसन है और जगत् ही ''बर्हि'' है। अतः इस जगत् में अग्नि को स्थापित करता है और यह ''अग्नि'' जगत् के कल्याण के लिए स्थापित की जाती है। इसीलिए याज्ञवल्क्य कहता है –

सा एषा एतम् एव लोकम् अभ्यनुक्ता दिवम् एव एतम् एव एतया
लोकं जयति यस्य एवं विदुषः एतामन्वाहुः।। १–४–१–२८

अर्थात् जो इस प्रकार इस रहस्य को समझता है तथा इस मर्म के जानने वाले को लक्षित करके जब इस ऋचा को पढ़ता है और जिसके लिए यह सामिधेनी पढ़ी जानी है तो उसकी इस लोक में विजय होती है।

तात्पर्य यह है कि जब हम होता बनकर आसन में निश्चिन्त होकर बैठ जाते हैं तो हमें भी इस लोक में अवकाश अर्थात् विस्तृत स्थान मिल जाता है। यह तभी सम्भव है जब हम इधर–उधर भटकने वाले न बनें। स्थिरता से दृढ़ता से हमें इस सामिधेनी का उच्चारण करना चाहिए। यह सामिधेनी इस प्रकार होगी –

''अग्न आ याहि वीतये'' १–४–१–२२
गृणानो हव्य दातये।।
नि होता सत्सि बर्हिषि।। इति।। १–४–१–२४

III अब आगे याज्ञवल्क्य तीसरी सामिधेनी पढ़ता है जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस सामिधेनी के द्वारा यजमान ने अन्तरिक्ष लोक को जीतना है।

क्योंकि उसी लोक में अधिक अवकाश है। आवास के लिए हम भी विस्तृत स्थान को प्राप्त करना चाहते हैं। अन्तरिक्ष की तरह हम भी अपने विविध कर्मों से चमकना चाहते हैं। यह तभी सम्भव है जब वेदि में स्थापित इस अग्नि को हम प्रदीप्त करेंगे। अग्नि चमकी तो हम भी चमकने वाले बनेंगे। याज्ञवल्क्य की यह सामिधेनी इस प्रकार से है –

तन्त्वा समिद्भिः अङ्गिरः।

घृतेन वर्धयामसि।। १–४–१–२५

बृहत् शोचा यविष्ठ्य।। १–४–१–२६

अर्थात् यज्ञ की सफलता का प्रतीक प्रदीप्त हुई अग्नि है। उसी यज्ञ को सफल भी माना जाता है। क्योंकि ऊँची–ऊँची लपटें ही यज्ञ की सफलता की सूचक हैं। अग्नि को प्रदीप्त करने के दो ही साधन हैं, एक है – समिधायें और दूसरा मुख्य साधन है – ''घृत'' । इन दोनों के उपयुक्त व्यवहार से ही अग्नि प्रदीप्त होती है। अतः याज्ञवल्क्य ने कहा – ''तन्त्वा समिद्भिः अङ्गिरः'' अर्थात् हे अङ्गिरा ! तेरे ही सहारे जो हम समिधाओं द्वारा अग्नि को प्रदीप्त करते हैं'' यहाँ ये अङ्गिरस् अग्नि है। उस अग्नि को ''घृतेन वर्धयामसि'' हम घृत से बढ़ाते हैं। घृत अग्नि को प्रदीप्त करने का साधन है। उसी से अग्नि को प्रज्वलित करते हैं और प्रारम्भ किये गए यज्ञ को शक्ति प्रदान करते हैं।

यहाँ इस बात को समझ लेना चाहिए कि चाहे यजमान हो अथवा विद्वान् हो वह भी अङ्गारे की तरह धूम रहित चमकने वाला हो तथा ''घृतेन वर्धयामसि'' अतः अपने स्नेह युक्त व्यवहार से समाज का हित करने वाला हो। तभी यज्ञ की सफलता है। अतः ''परतः हिताय'' यज्ञ को बड़ी प्रसन्नता से करना व कराना है। तभी यज्ञ की सार्थकता है।

अब आगे कहा गया है – ''बृहत् शोचा यविष्ठ्य''

अर्थात् हे अग्ने ! तू बढ़े रूप में प्रदीप्त हो, तुम हमेशा युवा रहो। तुम्हें युवा रखने के लिए हम सम्यक् प्रदीप्त रखते हैं। तुमने हमेशा ही इस वेदि में युवा की तरह प्रदीप्त रहना है।

यह ऋचा अन्तरिक्ष लोक को लक्ष्य लेकर बढ़ गई है यह आग्नेयी होते हुए भी अनिसक्त है। यह ऋचा यद्यपि अग्नि की ऋचा है परन्तु इसमें किसी का नाम नहीं, जैसे–अन्तरिक्ष नाम–रूप रहित है ऐसे ही इसमें अग्नि का नाम नहीं। इसके द्वारा वह अन्तरिक्ष लोक को जीतता है। जो इस रहस्य को समझता है और जिसके लिए यह सामिधेनी पढ़ी जाती है उसको उस लोक में विजय प्राप्त होती है।

हमने भी इस लोक को प्राप्त करना है इसीलिए जीवन में हमेशा पवित्रता को बनाये रखना है और अपने–आप को सदैव अग्नि की तरह युवा बनाये रखना है। तभी हम उस अन्तरिक्ष लोक को विजयी कर सकते हैं।

IV अब अगली चतुर्थ सामिधेनी की चर्चा यहाँ की जाती है। क्योंकि सामिधेनियों के माध्यम से हमने भूलोक पर विजय प्राप्त कर ली और अन्तरिक्ष में भी विजय उपलब्ध कर ली है। अब हमें ''द्यु'' लोक पर विजय करके त्रिलोक विजयी बनना है, अतः अगली सामिधेनी इस तरह से है –

स नः पृथु श्रवाय्यम् अच्छा देव विवासति।
बृहदग्ने सुवीर्य्यम्।। ऋ. ६–१६–१२।।

अर्थात् इस सामिधेनी को लक्ष्य करके होता प्रार्थना करता है – ''स नः पृथु श्रवाय्यम्'' अर्थात् वह ''द्यु'' लोक सबसे बड़ा है क्योंकि उसी में सूर्य–चन्द्रमादि लोक भी रहते हैं। अतः वही हमारे लिए श्रवण करने योग्य स्थान है। आगे फिर प्रार्थना करता है ''अच्छा देव विवासति'' अर्थात् हे अग्नि देव ! आप हमारी अच्छी प्रकार से सेवा करते हो अर्थात् ईश्वर ! आप बड़े दयालु हो, आप हमारी निरन्तर सेवा करते हो, हमें पालते हो तथा निरन्तर हमारे जीवन में प्रकाश ही प्राप्त कराते हो। बस हमें भी प्रकाशमय अवस्था को प्राप्त कराओ। मैं भी उस लोक को प्राप्त करूँ।

अब आगे प्रार्थना करता है ''बृहद् अग्ने सुवीर्य्यम्'' अर्थात् हे परमपिता परमात्मन् ! हे अग्नि देव ! वह लोक बहुत बड़ा है। वहाँ सभी तरह के देव निवास करते हैं। वह शक्तिशाली व शान्तिमय धाम है जहाँ देव रहते हैं। इसी लोक के अभिप्राय से ही इस ऋचा को कहा गया है। जो इस प्रकार इस ऋचा के महत्त्व को समझता है और जिसके लिए यह सामिधेनी पढ़ी जाती है उसको इस देव लोक में विजय प्राप्त होती है।

यज्ञ के माध्यम से इस सामिधेनी के महत्त्व को समझते हुए विशाल हृदय वाले होकर चमकने वाले बनें तभी जाकर हम भी ''द्यु'' लोक के स्वामी बन सकते हैं।

V यहाँ अब पाँचवी सामिधेनी की चर्चा की जाती है। इस सामिधेनी में दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं – एक है ''नमस्य'' तथा दूसरी है ''स्तुत्य''। सारे संसार का दोहन इन्हीं शब्दों पर ही आधारित है।

सर्वप्रथम हमें चाहे देव हो अथवा मनुष्य हो उनका आदर करना सीखना चाहिए क्योंकि प्रत्येक की भावना आदर की होती है, चाह भी सबकी ऐसी ही होती है। तदनन्तर उनकी स्तुति–प्रशंसा करना सीख लो। प्रशंसित देव–मनुष्य स्वतः ही हमारा मनोवाञ्छित पूर्ण करने के लिए तत्पर होंगे। इसी बात को शतपथकार ने इस पाँचवीं सामिधेनी द्वारा वर्णित किया है, जो इस तरह से है –

''ईडेन्यो नमस्यः'' ।।

''तिरस्तमांसि दर्शतः।।

''समग्निरिध्यते वृषा'' ।। ऋ.–३–२७–१३ ।। शत. १–४–१–२९

यह अग्निदेव ही सर्वप्रथम ईडेन्य अर्थात् स्तोतव्य है तदनन्तर यही ''नमस्या'' अर्थात् नमनीय है। अग्नि को वेदि में स्थापित करने के पश्चात् उसकी स्तुति करना हमारा सर्वप्रथम कर्त्तव्य बनता है। जब हमारे संकल्प की सिद्धि हो जाये अथवा किसी कारण वश उसमें असफलता भी हो तो भी वह अग्नि देव नमस्य अर्थात् नमनीय है। नमन करते हुए उस प्रभु का, तथा इस अग्नि देव का झुक कर हमने आभार व्यक्त करना है, क्योंकि कर्म करना हमारा कर्त्तव्य है उसका फल ईश्वराधीन है।

फिर आगे हम कहते हैं – ''तिरस्तमांसि दर्शतः'' अर्थात् यह भौतिक अग्नि जब प्रदीप्त होता है तो अन्धकार तितर–बितर हो जाता है। इसी तरह विद्वान् भी अपनी विद्वत्ता से समाज के अन्धकार को जब तितर–बितर कर देता है तो वह भी स्तुत्य, नमस्य तथा दर्शनीय हो जाता है अग्नि की तरह।

आगे फिर पढ़ा जाता है – ''समग्निरिध्यते वृषा'' अर्थात् जब इस अग्नि को अच्छी तरह प्रदीप्त किया जाता है उस समय वह ''वृषा'' अर्थात् अत्यधिक सुख की वर्षा का

कारण हुआ करता है। हमें यदि सुख की चाहना हो तो हमें भी अग्नि को अच्छी तरह प्रदीप्त करना चाहिए।

VI अब आगे छठी सामिधेनी के सन्दर्भ में चर्चा की जाती है। इस सामिधेनी का सम्बन्ध पूर्व सामिधेनी के साथ सम्बन्धित है, तभी जाकर इसका अगली सामिधेनी के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।

सर्वप्रथम अग्नि को अच्छी तरह प्रदीप्त करना है। क्योंकि ऐसी ही अग्नि अश्व बनकर हमारी हवि को देवों तक पहुँचाने में सक्षम हो सकती है और हम भी हवि से युक्त होकर ही उसकी स्तुति करने में समर्थ होंगे तथा हम भी उस अग्नि देव के तभी स्तुति के पात्र बनने में समर्थ होंगे। इस तरह से याज्ञवल्क्य ने भी सामिधेनी के माध्यम से इस तरह वर्णित किया है –

वृषो अग्निः समिध्यते।।
अश्वो न देव वाहनः।।
तं हविष्मन्त ईडते।। ऋ.–३–२७–१४।।

इस सामिधेनी को पढ़ते हुए सर्वप्रथम अग्नि को अच्छी तरह प्रदीप्त किया जाता है। वही अग्नि वृषा अर्थात् प्रचुर सुख की वर्षा करती है। ऐसी ही ''अग्नि'' देव वाहन अश्व बन कर हमारी हवियों को देवताओं तक पहुँचाने वाली होती है, इसीलिए यहाँ पर ''न'' इस शब्द का अर्थ ''ओ३म्'' अर्थात् निश्चय पूर्वक ही पहुँचाने वाली बनती है।

अब हम हविष्मान् अर्थात् हवियाँ वाला होकर यजमान उसकी स्तुति करते, प्रभु का, अग्नि का धन्यवाद करते हैं। हमें करना भी चाहिए। कृतज्ञता अभिव्यक्त करना मनुष्य का धर्म बनता है।

VII अब सातवीं सामिधेनी का वर्णन किया जाता है। इस सामिधेनी में ''वृषन्'' इस शब्द का विवरण इकट्ठा पढ़ा जाता है, अभिप्राय इन्द्र से है। वैसे भी यज्ञ का देवता इन्द्र है। वही ''वृषा'' है। वही सुख की वर्षा करने वाला है। यजमान जब कुछ लेकर उपस्थित होता है तभी अग्नि प्रदीप्त होता है। उसके पास समिधा से बढ़कर अन्य कोई पदार्थ नहीं जिससे कि समिन्धन करता हुआ

सामिधेनी को चरितार्थ कर सके तभी जाकर वह वृषा अर्थात् इन्द्र प्रसन्न होता है, अतः अगली सामिधेनी पढ़ी जा रही है –

वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहि।
अग्ने दीद्यतं बृहत्।। ऋ.–३–२७–१५।।

होता यहाँ इस सामिधेनी का उच्चारण करता हुआ प्रार्थना करना है कि हे वृषणशील ! हम वृष्टि करने वाले तुझको हवियों की वृष्टि करने वाले को सन्दीप्त करते हैं। जब उसका खूब समिन्धन किया जाता है तो वह बहुत चमकता है। यह ''वृषन्'' जो तीन बार पढ़ा है उसका अभिप्राय अग्नि को प्रचुर मात्रा में प्रदीप्त करने से है। उसका समिन्धन करने से जहाँ अग्नि जगमगाती है वहाँ यजमान भी जगमगाता है। यही यज्ञ की सफलता का भी प्रतीक है।

यज्ञ का वस्तुतः ''इन्द्र'' देवता है। वही ''वृषा'' अर्थात् सबसे महान् है वही वर्षा करने वाला होता है। हम तो तुच्छ हविष्मान् हैं, थोड़ी सी हवियों को लेकर उसके समक्ष उपस्थित होते हैं। परन्तु वह तो ''वृषा'' है, प्रचुर मात्रा में सुख की वर्षा करने वाला होता है। हम भी अग्नि को प्रदीप्त करें और वृषा सुख की वर्षा प्राप्त करें।

VIII अब अगली आठवीं सामिधेनी के सन्दर्भ में चर्चा की जाती है। इस सामिधेनी को कथानक के रूप में समझाने का प्रयत्न किया गया है। संसार में देव और असुर दो तरह के प्राणी देखने को मिलते हैं। देवत्व गुण से पोषक वही होते हैं जो परहिताय कार्य करने में प्रवृत्त होते हैं परन्तु असुर प्रवृत्ति के लोग तो स्वहिताय ही कार्य में प्रवृत्त रहते हैं। वे अपना ही सुख देखते हैं। अतः देव और असुर जो प्रजापति की सन्तान थीं, इस पृथिवी को लेकर आपस में झगड़ पड़े। दोनों इस ''पृथिवी'' जीतने के लिए युद्ध कर बैठे। परन्तु उन दोनों के मध्य यह ''गायत्री'' खड़ी थी और यह ''गायत्री'' ही ''पृथिवी'' है। इसको किसने जीता और कौन पराजय को प्राप्त हुआ ? उसका विस्तृत वर्णन अगली सामिधेनी में याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।

अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्।। ऋ. १–१२–१।। शत १–४–१–३४, ३५

इस सामिधेनी की व्याख्या करते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

देवाश्च वा असुराश्चोभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे।।

अर्थात् देव व असुर के रूप में प्रजापति की सन्तान थी। दोनों ही प्रभुत्व के लिए आपस में लड़ पड़े।

''तान् स्पर्धमानान् गायत्र्यन्तरा तस्थौ''

उन दोनों की प्रभुत्व की लड़ाई के बीच में गायत्री आ कर खड़ी हो गई।

या वै सा गायत्र्यासीद् इयं वै सा पृथिवी इयं

हैव तद् अन्तरा तस्थौ।।

जो यह गायत्री दोनों के मध्य खड़ी थी वह तो यह पृथिवी है। वही तो दोनों के मध्य खड़ी थी।

''ते उभये एव विदाञ्चक्रुः यतरान् वै न इयम्।

उपावर्त्स्यति ते भविष्यन्ति परा इतरे भविष्यन्ति'' इति।। १–४–१–३४

अर्थात् वे दोनों ही इस बात को जानते थे कि हम दोनों में से जिसके पास यह आ जायेगी वे ही विजयी होंगे। उन्हें ही इस पृथिवी पर रहने का सुअवसर प्राप्त होगा और दूसरे को पराजय प्राप्त होगी। अब दोनों ने उसे अपनी–अपनी ओर खींचना प्रारम्भ किया। दोनों ही अपने–अपने पक्ष में उस पृथिवी को पुकारने लगे। उस निमन्त्रण के समय एक विचित्र बात हो गई कि देवों का दूत ''अग्नि'' बन गया और असुरों का सहायक ''सहरक्षा'' नाम का राक्षस बना। इसका परिणाम हुआ कि वह गायत्री ''अग्नि'' के पीछे चली गई। अतः देवों ने कहना शुरु कर दिया ''अग्निं दूतं वृणीमहे'' हम तो अग्नि को अपना दूत वरण करते हैं क्योंकि वही तो ''होतारं विश्ववेदसम्'' अर्थात् अग्नि ही होता को सब धन–धान्य से युक्त करने वाला है, उसके सब हितों को जानने व जनाने वाला है।

कुछ लोग इस ऋचा को ''अग्निदूतं वृणीमहे होतारं यो विश्ववेदसम्'' इस तरह से पाठ पढ़ते हैं जिसका अर्थ होता है – होता जो सब कुछ जानने वाला है। इसका कारण है कि वह ''होतारम्'' के दो टुकड़े कर देते हैं – होता व अरम्। यहाँ ''अरम्'' का अर्थ ''अलम्'' अर्थात् बस इतना ही होता है। याज्ञवल्क्य को यह स्वीकार नहीं अतः वे कहते हैं –

तदु उ तथा न ब्रूयात् मानुषं ह ते यज्ञे कुर्वन्ति
व्यृद्धं वै तद् यज्ञस्य यत् मानुषं नेद् व्यृद्धं
यज्ञे करवाणीति।। १–४–१–३५

अर्थात् ऐसा नहीं करना चाहिए। वेद प्रभु की वाणी है, उसे वैसा ही रहने देना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से वह मानुष कर्म हो जाएगा। उसे वैसा ही रहने देना चाहिए। जो मन्त्रों को परिवर्तन कर देते हैं वे भगवान् की कृति में मानवीय कृति मिला कर यज्ञ में घटियापन उत्पन्न कर देते हैं। अतः ऋचा में जैसा लिखा है वैसा ही बोलना चाहिए – ''होतारं विश्ववेदसम्''। ऐसा करने से यज्ञ में सुक्रतुत्व आ जायेगा। यहाँ यह जो अग्नि है वही सुक्रतु है। अतः कहा ''अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्'' अग्नि को यज्ञ का सुक्रतु कहते ही वह गायत्री देवों के पास आ गई। देवताओं ने गायत्री के माध्यम से विजय को प्राप्त कर लिया और असुरों को पराजय प्राप्त हुई।

इस गायत्री ने देवों का साथ दिया था। वे जीत गए तथा असुर हार गए क्योंकि गायत्री देवों के पक्ष में खड़ी हो गई। जो इस रहस्य को समझता है और जिसके लिए यह ऋचा पढ़ी जाती है वह जीत जाता है और उसका शत्रु परास्त हो जाता है, पराजय को प्राप्त करता है।

यहाँ इस बात को समझ लेना चाहिए कि इस गायत्री अर्थात् पृथिवी का भोग सभी नहीं कर सकते। यह धरती गायत्री गा गाकर रिझाने वाली सुवर्ण पुष्पिता उसके लिए होती है जो अपना सर्वस्व तथा प्राण तक की बाजी लगाने के लिए तत्पर होता है। नीतिकार ने कहा भी है –

सुवर्णपुष्पितां पृथिवीं विचिन्वन्ति नरास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्।। पञ्चतन्त्रं–मित्रभेदः ४६

अर्थात् यह धरती स्वर्ण के पुष्पों से तथा विविध रत्नों से भरी पड़ी है, परन्तु वही व्यक्ति इसके फूलों को व रत्नों को चुन सकता है जो शूर होगा, विवेकी होगा तथा जिसके अन्दर परस्पर सेवा की भावना होगी। यहाँ पर भी गायत्री ने देखा कि देव खड़े हैं, अग्नि इनके साथ है। अतः वह एकदम देवपक्ष में खड़ी हो गई क्योंकि देवताओं का सबसे बड़ा गुण देने का है। और जो देता है वही पाता भी है, महाभारत में भी हम दो पात्रों को देखते हैं एक है युधिष्ठिर और एक है दुर्योधन। दोनों यज्ञ करते हैं। परन्तु दोनों के यज्ञ में बहुत बड़ा अन्तर था। युधिष्ठिर जब यज्ञ करता था तो बड़ी श्रद्धा के साथ कहता था – ''अग्नये स्वाहा – इदन्न मम।।

अर्थात् मैं यह सब कुछ अग्नि देव के लिए सौंप रहा हूँ। इसमें मेरा कुछ भी नहीं है। यहाँ त्याग भावना थी।

परन्तु जब दुर्योधन यज्ञ करता था तो वह कहता था – ''स्वाहा – इदं मम''

अर्थात् मैं सच कहता हूँ यह सब कुछ मेरा है। यहाँ वह त्याग भावना नहीं।

अतः समझ लेना चाहिए जहाँ त्याग भावना है, वहीं विजय है। अतः यहाँ देवों की विजय हुई। क्योंकि उन्होंने इस गायत्री व पृथिवी को त्याग भाव से जपा है, सेवा है, जो इस तरह से इस गायत्री को सामिधेनी के रूप में जपता है वह गायत्री–पृथिवी को विजयी कर लेता है।

दूसरी ओर ''सहरक्षा'' वे प्राणी होते हैं जो दुर्योधन की तरह अपने ही लिए कर्म करते हैं, स्वार्थ परायण व्यक्ति के साथ यह गायत्री – पृथिवी कभी भी सुवर्णपुष्पिता नहीं हो सकती। ऐसे व्यक्ति कभी भी सुक्रतुत्व को प्राप्त नहीं कर सकते।

गायत्री इस सामिधेनी की आठवीं संख्या है। आठवीं में ही इसे पढ़ना चाहिए क्योंकि गायत्री में भी आठ अक्षर हैं। यह गायत्री धरती के महत्त्व को प्रतिपादित करती है। यह विशेष रूप से गायत्री है। वसु भी आठ हैं और इस में भी एक पाद में आठ ही अक्षर होते हैं।

इन सामिधेनियों का पाठ करते हुए धरती के स्वामी बनते हुए हमें भी प्रदीप्त होना है, ''सुक्रतु'' बनना है। तथा ''होतारं विश्ववेदसम्'' का गुण अपने जीवन में लाना है।

* * *

४५-पंचचत्वारिंशत्तमपाथेयम्

अध्वर महत्त्व

''अध्वर'' यह नाम भी यज्ञ का है। जिस यज्ञ में किसी भी प्रकार की हिंसा न हो वह ''अध्वर'' कहलाता है। हमारा यज्ञ ''अध्वर'' बना रहे इसीलिए यज्ञ में किसी भी तरह की हिंसा नहीं होनी चाहिए। हिंसा के तीन रूप हैं कायिक, वाचिक तथा मानसिक। हमें यज्ञ में शरीर से सावधान रहना है। किसी भी तरह की शारीरिक चेष्टाओं से हमें बचना चाहिए तथा मन्त्रों के अतिरिक्त मानुषी वाक् का हमें प्रयोग नहीं करना चाहिए। एकाग्र मन से हमें यज्ञ करना चाहिए। तभी हम शारीरिक, वाचिक व मानसिक हिंसा से बचते हुए यज्ञ को ''अध्वर'' बनाने में हम समर्थ होंगे। अतः याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

देवान् यक्षि स्वध्वर। त्वं हि हव्यवाडसि।। १–४–१–३९

अर्थात् अध्वर्यु अब पढ़ता है – ''देवान् यक्षि स्वध्वर'' हे अच्छे अध्वर्यु ! देवों की पूजा कर। यहाँ ''अध्वर'' यह शब्द यज्ञ का वाचक है। तात्पर्य यह हुआ कि अच्छे अध्वर तू देवों की पूजा कर। इससे प्रतीत होता है कि हमारे पास देवों की पूजा अथवा उन्हें तृप्त करने को यदि कोई साधन है तो वह ''अध्वर'' है। उसे जब श्रद्धा से अच्छी तरह सम्पादित करते हैं तो वह ''स्वध्वर'' हो जाता है।

फिर आगे पढ़ता है – ''त्वं हि हव्यवाडसि'' अर्थात् तू ही हव्य को ले जाने वाला है। यह ''अध्वर'' किया गया यज्ञ तथा उसकी यह अग्नि ही ''हव्यवाट्'' होती है। अर्थात् हमारी हव्य जो हम अग्नि में चढ़ाते हैं उसे वह देवों को पहुँचाने वाली होती है। यही अग्नि फिर ''अध्वर'' कहलाती है।

फिर वह अगली सामिधेनी पढ़ता है –

आजुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे।
वृणीध्वं हव्यवाहनम्।। १–४–१–३९

यहाँ अब सम्पूर्ण जनता को लक्ष्य करके कहा जा रहा है ''आजुहोता'' अर्थात् इस अग्नि के साथ दान और आदान अर्थात् देने और लेने का व्यवहार करो। अग्नि में ''आहुति'' देने का अर्थ देना और लेना होता है। उसी व्यवहार को हम आहुति देते हुए पूर्ण करते हैं। यहाँ आहुति दो और इसकी पूजा करो। यह यज्ञ चल रहा है, इसके चलते पुण्य कमा लो और इस हव्यवाहन को अपना लो। इसीलिए कहा गया है – ''वृणीध्वं हव्यवाहनम्'' इसका अर्थ यह हुआ कि आहुति दो, पूजा करो अर्थात् जिस कामना के लिए यज्ञ रचा है उसकी पूर्ति करो और यह अग्नि हव्य को ले जाने वाला है। इसीलिए हमें इसका वरण करना चाहिए। वरण किया हुआ अग्नि ही हमारी हव्य को, हमारी पुकार को तथा हमारी कामनाओं को पूर्ण करता है इसीलिए इसे अध्वर, स्वध्वर नाम से पुकारा जाता है।

अब होता ''अध्वर'' शब्द वाले त्र्यच्–तीन ऋचाओं वाले मन्त्र समूह को पढ़ता है। उसके पढ़ने का भी विशेष महत्त्व है। देव लोग जब यज्ञ करने लगे तो उन्हें सपत्न अर्थात् गिराने वाले असुरों ने यज्ञ का विध्वंस करके उन्हें मारना चाहा ''दुधूर्षाञ्चक्रुः'', परन्तु मारना चाहते हुए भी वे मार नहीं सके। यज्ञ का विध्वंस न कर सके। तब वे परास्त हो गए – इसीलिए–

यज्ञ का नाम ''अध्वर'' है। ''न शेकुर्धुर्वितम्'' इति।।

जो इस रहस्य को समझता है और ''अध्वर'' शब्द वाले ''त्र्यृच्'' को पढ़ता है, उसके शत्रु उसका विध्वंस चाहते हुए भी उसका विध्वंस नहीं कर सकते। वे परास्त हो जाते हैं। जिसके यज्ञ में यह ''अध्वर'' वाला त्र्यृच् इस प्रकार जानते हुए पढ़ा जाता है तो जितना सोम याग करके लाभ पाता है उतने ही फल के आनन्द को प्राप्त करता है। इसीलिए कहा गया है – सौम्येन अध्वरेण–सोमयाग–सोम सम्बन्धी अध्वर याग।

तात्पर्य यह है कि आप चाहे कितने ही उत्तम से उत्तम उद्देश्य से यज्ञ करने में तत्पर हों, परन्तु यदि उसमें हिंसा की भावना जागरित होती है तो वह यज्ञ निष्फल

हो जायेगा। इसीलिए अन्त की तीनों सामिधेनियाँ ''अध्वर'' शब्द वाली हैं और इसी का फल ''सोमयाग'' के समान है। इसीलिए अन्त में याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट शब्दों में कहा –

सौम्येन अध्वरेण इष्ट्वा जयति तावज्जयति।। १–४–१–४०

अर्थात् सोम–सम्बन्धी हिंसा रहित अध्वर यज्ञ से यत्न करके ही विजय को प्राप्त करता है वही यज्ञ की विजय है।

यज्ञ का फल प्राप्त हो अतः हमें भी यज्ञ को अध्वर से स्वध्वर बनाना है। यह तभी सम्भव है जब हम यज्ञ में किसी भी तरह की हिंसा को अवकाश नहीं देंगे।

* * *

यज्ञ में अग्नि के विविध रूप

सभी तरह के यज्ञ का मुख्य साधन अग्नि है। यज्ञों में हमें इस अग्नि के विविध रूपों का अवलोकन देखने को मिलता है। वास्तव में यही अग्नि ब्राह्मण है। जिस तरह समाज में ब्राह्मण का उच्च स्थान होता है उसी तरह यज्ञों में इस अग्नि का मुख्य स्थान है। इसीलिए हम इसे यज्ञ का ब्राह्मण कहते हैं। क्योंकि यही ब्रह्म है इसी के माध्यम से हम ''ब्रह्म'' परमपिता के ज्ञान को जानने में समर्थ होते हैं। अतः इसे ब्राह्मण माना गया है। दूसरा हवियों को देवों तक पहुँचाने का साधन भी यह अग्नि है। अतः इसे ''भरत'' नाम से भी पुकारा जाता है तथा यह प्राण बनकर प्रजाओं का पालन करता है इसलिए भी इसे ''भरत'' नाम से भी पुकारा है। इस अग्नि के विविध रूपों की चर्चा याज्ञवल्क्य ने अपने ग्रन्थ में इस तरह की है –

''एतद् ह वै देवाः अग्निं गरिष्ठे युञ्जन'' ।। १–४–२–१

सर्वप्रथम देवों ने अग्नि को मुख्य होता के पद पर नियुक्त किया। फिर उसको इस मुख्य पद पर नियुक्त करके कहा – ''तू हमारी हवि को देवों तक पहुँचा।''

ऐसे उच्च पद पर प्रतिष्ठित अर्थात् नियुक्त करके उत्साहवर्धन के लिए उन्होंने उसकी स्तुति करनी प्रारम्भ की और कहा – ''वीर्यवान् वै त्वम्'' अर्थात् ''तू वीर्यवान् है'' इस कार्य को करने में समर्थ है''। इस प्रकार उसे शक्ति सम्पन्न करते हुए बोले – अब भी तो हम ऐसा ही करते हैं, अपने बन्धु बान्धव में से जिस किसी को भी भारी उत्तरदायित्व के कार्य पर नियुक्त करना होता है उसे शक्तिसम्पन्न करते हुए कहते हैं ''तू वीर्यवान् है''। ''इस कार्य के करने में समर्थ है'' इस प्रकार खूब प्रशंसा करके बढ़ावा देते हैं। इसीलिए जो कुछ पढ़कर वह उसकी बढ़ाई करता है, मानो वह उसकी स्तुति करता है अर्थात् उसको बल से सम्पन्न करता है।

हम भी प्राय संसार में देखते हैं कि जब भी किसी से कार्य सम्पन्न करवाना हो तो हमें सर्वप्रथम उसकी स्तुति अर्थात् प्रशंसा करनी पड़ती है। उसे बड़प्पन देना पड़ता है और कहना पड़ता है कि ''आप बलवान् हो'' ''आप ही इस कार्य को करने में समर्थ हो''। जब हम इस प्रकार उस व्यक्ति की इस तरह प्रशंसा करते हैं तभी वह उस कार्य को करने में तत्पर होता है, तभी कार्य की सिद्धि भी होती है। यहाँ भी हम हव्य को देवों तक पहुँचाने के लिए ''अग्नि'' को वीर्यवान् कह कर उसे बड़प्पन दे रहे हैं, अब आगे याज्ञवल्क्य कहते हैं –

''अग्ने महाँ असि ब्राह्मण भारत इति''।। १–४–२–२

यहाँ अग्नि को ब्राह्मण माना गया है इसीलिए उसे ब्राह्मण कहकर सम्बोधित किया गया है, इसीलिए भारत यह कह कर भी सम्बोधित किया है। यह इसीलिए कि वही देवों तक हव्य पहुँचाता है। इसीलिए ''भरत'' कहा क्योंकि देवों तक यह हव्य को भरता है अर्थात् (भरति) रखता है। इसीलिए कहता है ''अग्नि भारत है''। यूंकि यही प्राण बनकर प्रजाओं का पालन करता है, इसीलिए उसे ''भरत'' कहा है।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि अग्नि ब्रह्म है इसीलिए ब्राह्मण है तथा सब प्राणियों में प्राण बनकर प्रजाओं का पालन करता है अतः वही भरत है। अतः ब्रह्म का पुत्र ब्राह्मण तथा भरत का पुत्र भारत होगा। मनुष्य, मनुष्य तब तक ही है जब तक वह मनन का पुत्र है। यदि वह मनन नहीं करता तो देहधारी होकर भी वह मनुष्य नहीं। ब्राह्मण ब्रह्म का पुत्र है, माता–पिता का नहीं। जब तक उस में ब्रह्म अर्थात् विद्या है तब तक ही वह ब्राह्मण है। इसी तरह जब तक ''अग्नि'' में देवों तक ''हव्य'' को पहुँचाने का सामर्थ्य है तभी तक वह ''ब्राह्मण'' व ''भारत'' है।

हमें भी अग्नि को ब्राह्मण व भारत समझना होगा तभी यज्ञ की सफलता है।

आगे याज्ञवल्क्य फिर अग्नि के स्वरूप को समझाते हुए कहते हैं –

''अथार्षेयं प्रवृणीते।। १–४–२–३

अब होता और यजमान ''आर्ष'' शैली से अग्नि को आर्ष होता चुनते हैं। यजमान को प्रवर सुना कर उसका वरण करता है। इसका तात्पर्य यह है कि होता और यजमान को यज्ञ में अपने पूर्वजों का स्मरण रहना चाहिए। इसीलिए यजमान के आर्षेय अर्थात्

गोत्र प्रवरादि को उच्चारण करता है। इस तरह वह उसे ऋषियों और देवों को अर्पण करता है। वह महाशक्तिशाली है जो यज्ञ तक पहुँचा है। यही कारण है कि अग्नि को आर्ष होता बनाता है।

हमें यह जान लेना चाहिए कि जब भी हम यज्ञ करने के लिए बैठते हैं तो हमें ऋषि परम्परा से अपने पूर्वज को याद कर लेना चाहिए। क्योंकि हमारे द्वारा अग्नि में समर्पित हव्य से यदि वे ऋषि परम्परा के पूर्वज भागधेय को ग्रहण करते हैं तभी यज्ञ की सफलता है। अग्नि ही हमारे पास एक मात्र साधन है इसीलिए वह महाशक्तिशाली है। इसी परम्परा को आगे याज्ञवल्क्य कहते हैं –

परस्तादर्वाक् प्रवृणीते।। १–४–२–४

यहाँ याज्ञवल्क्य ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण व्यवस्था का वर्णन किया है। सर्वप्रथम हमें इस प्रवर नामावली में जो सबसे पुराना है उसका नाम पहले लेना है फिर उससे जो अर्वाचीन है उसका, फिर जो सबसे छोटा है, उसका नाम लेना है। इसी तरह ऋषि परम्परा में भी ऋषियों में सबसे प्रथम से लेकर पीढ़ी–दर–पीढ़ी आज तक के ऋषि का वरण करना है। क्योंकि प्राचीन से ही तो नई पीढ़ी उत्पन्न होती है। सबसे पहले पिता का नाम आता है, फिर उसके पुत्र का, फिर उसके पौत्र का। इसलिए पूर्वजों से लेकर नई पीढ़ी तक वरण किया जाता है। अब आगे याज्ञवल्क्य प्रवरों के उच्चारण की व्यवस्था करके पुनः अग्नि के महत्त्वपूर्ण स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखते हैं –

''देवेद्धो मन्विद्ध'' इति।। १–४–२–५

वह आर्ष होता प्रवरों का उच्चारण करके कहता है – ''देवेद्धो मन्विद्ध''। तुझे देवों ने प्रज्वलित किया, तुझे मनु ने प्रज्वलित किया। देवों ने पहले इसे प्रज्वलित किया अतः कहा ''देवेद्धः'' मनु ने पहले प्रज्वलित किया अर्थात् मन में ही संकल्प अग्नि का इन्धन होता है। अतः कहा ''मन्विद्धः''।

जिस अग्नि को हम देव मानकर इन्धन करते हैं वह अग्नि ''देवेद्ध'' कहलाती है और जिस अग्नि का इन्धन हम मन लगाकर कहते हैं, मन से करते हैं वह अग्नि ''मन्विद्ध'' है। अब आगे कहा –

ऋषिष्टुत इति।। १–४–२–६

अर्थात् वह आर्ष अग्नि जो ''ऋषियों द्वारा स्तुति किया गया हो'' संकल्पाग्नि द्वारा पहले ऋषियों ने ही उसकी स्तुति की। इसलिए इस को कहा ''ऋषिष्टुतः''।

अब आगे कहा –

''विप्रानुमदित'' इति।। १–४–२–७

उस संकल्पाग्नि को ''विप्रों द्वारा प्रसन्न किया गया है'' ऋषि लोग इसे देखकर प्रसन्न हो उठते हैं कि इस कुल में यह संकल्प परम्परा अविच्छिन्न रूप से आ रही है। इसीलिए कहा – विप्रानुमदितः।

अब आगे कहा –

''कविशस्त'' इति।। १–४–२–८

वह सङ्कल्पाग्नि – आर्ष अग्नि जिसे ''कवियों ने प्रशंसित किया है''। ये ''कवि'' भी ऋषि परम्परा से ही थे जिन्होंने इसकी प्रशंसा की। इसीलिए कहा ''कविशस्तः।

अब आगे कहा –

''ब्रह्मसंशित'' इति।। १–४–२–९

वह आर्ष अग्नि जो ''वेद द्वारा प्रशंसित हो''। क्योंकि उस अग्नि को हम वेद मन्त्रों द्वारा ही प्रशंसित करते हैं। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि बिना वेदमन्त्रों के इस आर्ष अग्नि को प्रज्वलित नहीं किया जा सकता। आजकल यह रामायण–यज्ञ व गीता यज्ञ अनार्ष है। अतः यज्ञ वेदमन्त्रों द्वारा ही प्रशंसित होना चाहिए अतः कहा – ब्रह्मसंशितः। अब आगे इसी कण्डिका को कहा –

''घृताहवन'' इति।। १–४–२–९

अब अग्नि जो केवल मात्र ''घृत को ही धारण करता है''। वह अग्नि जो यज्ञ में घृत को धारण करती है। अब यहाँ इस बात को भी जान लेना चाहिए कि जब भी हमने यज्ञ करना है तो वह ''घृत'' द्वारा ही सम्पादित करना है। तैलादि द्वारा किया गया यज्ञ, यज्ञ नहीं होता, यह तो यज्ञ का उपहास मात्र है। यह यज्ञ तो घृत द्वारा ही किया जाता है क्योंकि यह अग्नि घृत को ही वहन करती है अतः कहा गया ''घृताहवनः''।

अब आगे कहा गया है –

''प्रणीर्यज्ञानाम्'' इति।। १–४–२–१०

यह आर्षेय अग्नि ''सभी तरह के यज्ञ का प्रणेता है'' इसके द्वारा सभी तरह के यज्ञों का अनुष्ठान किया जाता है। पाकादि यज्ञ और जो दूसरे यज्ञ हैं वे सभी इसी द्वारा प्रणीत अर्थात् किए जाते हैं अतः कहा ''प्रणीर्यज्ञानाम्।।

अब आगे इसी कण्डिका में कहा गया है –

''रथीरध्वराणाम्''।। १–४–२–११

रथ वाला होकर यह यज्ञ का देवों के लिए वहन करता है। इसीलिए कहा ''रथीरध्वराणाम्''

यज्ञ में प्रदीप्त यह आर्ष अग्नि ही रथ बन कर हमारे हव्य को देवों तक पहुँचाने का काम करता है। यही अग्नि हमारे पास देवों तक हव्य पहुँचाने का एकमात्र साधन है। इसीलिए इसे 'रथीरध्वराणाम्' कहा गया है।

अब आगे कहते हैं –

अतूर्तो होता। १–४–२–१२

इस संकल्पाग्नि को कोई नहीं दबा सकता अर्थात् एक होता के मरने के पश्चात् दूसरा उसके स्थान पर खड़ा हो जाता है। इसीलिए वह ''अतूर्त'' है, अमर है। इसे नष्ट नहीं किया जा सकता – यह ''अग्नि'' अखण्डाग्नि के रूप में विद्यमान रहनी चाहिए तभी ''अतूर्त होता'' हो सकेगी। ऐसी अग्नि का लाभ क्या होता है। इस बात का बखान इसी कण्डिका में इस रूप से किया है –

''तूर्णिर्हव्यवाडि''ति १–४–२–१२

यह आर्ष संकल्पाग्नि सब पापियों को परास्त कर देता है। यह तरणशील होने से इसे कहा गया है ''तूर्णिर्हव्यवाट्'' अर्थात् ऐसा हव्य ले जाने वाला जो राक्षसों को परास्त कर देता है।

हमें पापों से, दुष्ट राक्षसों से बचाने वाला यही एक मात्र ''आर्ष'' अग्नि ही है। यदि हमने पापों से, दुष्ट राक्षसों से बचना है तो हमें इस ''अग्नि'' को घर में स्थान देना

होगा। सदैव अपने मन में संकल्पाग्नि को स्थान देना होगा। तभी हमारा कल्याण सम्भव है, अन्यथा नहीं। पापी जीवन किसी भी काम का नहीं होता उसकी सर्वत्र निन्दा ही होती है। अतः ''तूर्णिहव्यवाट्'' को घर में स्थान दो।

अब आगे कहा है –

''आस्पात्रं जुहूर्देवानामि''ति।। १–४–२–१३

यह देवों के खाने की थाली है अर्थात् देवों का मुखरूप पात्र है। यहाँ अग्नि ही देवों का पात्र है क्योंकि सब देवों के लिए इसी में हवन किया जाता है। इसीलिए वह देव पात्र हैं। जो इस रहस्य को इस प्रकार जानता है वह जिसको पात्र पहुँचाना चाहता है, उसे वह पात्र प्राप्त हो जाता है।

आज देवताओं के लिए थाली में भोग चढ़ाने की परम्परा है, वास्तव में वह थाली का भोग वहीं पड़ा रहता है, उसे या तो पुरोहित, पण्डित, पुजारी खा जाता है अथवा चूहे बड़ी मौज से उस थाली के भोग को चट कर जाते हैं। उस थाली के भोग का कोई औचित्य नहीं है। भ्रान्ति फैला दी जाती है कि नजर का नज़राना है। खाना मुख से होता है आँख से नहीं। यह आर्ष अग्नि ही देवों के खाने की थाली है हमें इसी में हव्य रूपी भोग चढ़ाना चाहिए। तभी हमारी थाली जिस भी देवता के लिए हम चाहेंगे उसे वह प्राप्त हो जाएगी। इसीलिए कहा – अस्पात्रं जुहूर्देवानामिति।

अब आगे कहा है –

''चमसो देवपान'' इति।। १–४–२–१४

''देवों के पीने का चमचा''। इसी चमचे अर्थात् अग्नि से देव लोग भोजन करते हैं।

आज भोजन करने की प्रवृत्ति चमचे से है। लोगों ने श्री गणेश जी को चमचे से ही दूध पीलाने का असफल प्रयास किया। जो सर्वथा निरर्थक रहा। दूध नालियों में बहता रहा, उसका कोई भी सदुपयोग नहीं हुआ। काश उन लोगों ने इस शतपथ ब्राह्मण को पढ़ा होता तो उन्हें ज्ञात होता कि देवता चमचे से तो खाते हैं परन्तु उनको खाने का चम्मच यह 'अग्नि' है। इसी अग्नि रूपी चम्मच से देव हव्य को ग्रहण करते हैं। इसी

चमचे से वे आज्य का पान करते हैं। अन्य किसी चम्मच से नहीं। हम भी अगर श्रद्धा से इस अग्नि को प्रदीप्त करते हैं और श्रद्धा से ही इसमें हव्य–आज्य प्रदान करते हैं तो इस सभी अग्नि रूपी चम्मच में पड़े हव्य–आज्य को देवता पी लेते हैं। इसीलिए कहा – ''चमसो देवपान'' इति।।

अब आगे और वर्णन किया है –

''अराँ। इवाग्ने नेमिर्देवांस्त्वं परिभूरसि'' इति।। १–४–२–१५

हे अग्नि! जिस प्रकार पहिये की परिधि अरों के चारों ओर लगी रहती है, उसी नाभि को सबसे बड़ा माना जाता है। इसी तरह तू भी देवों के चारों तरफ अपनी शक्ति का विस्तार करता है। इसीलिए कहा ''परिभूरसि'' इति।।

यह अग्नि सभी तरह की दैविक शक्तियों का केन्द्रबिन्दु है। यही देवों पर अपनी शक्ति का प्रभाव डालता है। तभी याज्ञवल्क्य ने इसे ''परिभूरसि'' अर्थात् देवों की शक्तियों को सर्वत्र व्याप्त करने वाला कहा है।

हमें भी अग्नि के इसी स्वरूप को ग्रहण कर लेना चाहिए। तभी हम भी शक्तिवान् हो सकते हैं।

अब आगे याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''आवह देवान् यजमानाय'' इति।। १–४–२–१६

यहाँ कहा गया है कि यह ''अग्नि देवों को यजमान के लिए बुलाए''। यह इसीलिए है कि यह अग्नि देवों को यज्ञ के लिए बुलाये। यज्ञ में देव तभी उपस्थित होंगे जब अग्नि प्रदीप्त होगी क्योंकि हमारे पास उनको बुलाने का एक मात्र–साधन अग्नि ही है। अतः अग्नि ही हमारा उपास्य देव है।

अब आगे कहा –

''अग्निम् अग्ने आवह''।। १–४–२–१६

यहाँ प्रार्थना है कि ''हे अग्नि! अग्नि को बुला।'' यह इसीलिए कहा गया है कि अग्नि के लिए जो आज्यभाग था उस तक इस अग्नि को लाया जाए। आज्यभाग अग्नि का ही होता है। इसी से अग्नि प्रदीप्त होती है।

फिर आगे कहा–

सोममावह।। १–४–२–१६

अब वह प्रार्थना करता है – ''सोम को ला''। जिससे वह सोम आज्यभाग को सोम तक लावे। ''आज्य'' अर्थात् घृत ही सोम है उसे सोम अर्थात् ईश्वर तक पहुँचाने का कार्य अग्नि का ही है। अग्नि में वह शक्ति है, वह सामर्थ्य है कि वही सोम को सोम तक पहुँचा सकता है अतः वह कहता है ''सोममावह'' इति।

अब इसी ही कण्डिका में पुनः कहता है –

''अग्निमावह'' इति।। १–४–२–१६

अब प्रार्थना की जाती है कि ''अग्नि को ला''। यह इसलिए कहा जाता है कि ''अग्नि के लिए जो दोनों समय दर्श और पौर्णमास यज्ञों में आवश्यक पुरोडाश है उस तक अग्नि को लाने में वह समर्थ हो।

मास में दो पक्ष होते हैं – एक दर्श अर्थात् अमावस्या और दूसरा पूर्णमास अर्थात् पूर्णिमा। उसमें पुरोडाश के रूप में जो हव्य तैय्यार किया जाता है उसे भी यह अग्नि ग्रहण करे। इसीलिए कहा – ''अग्निमावह'' इति।

अब आगे फिर कहता है–

अथ यथादेवतम्। ''देवाँ। आज्यपाँ आवह'' इति।। १–४–२–१७

इसी तरह अब आगे देवों का प्रत्येक नामपूर्वक वर्णन करते हैं। इसीलिए अब कहा – ''देवाँ आज्यपाँ आवह'' ''जो देवता आज्य को पीने वाले हैं उनको ला अर्थात् उनको बुलाओ''। यह इसीलिए कहा कि प्रयाज और अनुयाज को ला सके। पहली आहुति को प्रयाज और पिछली को अनुयाज कहते हैं। क्योंकि प्रयाज और अनुयाज ही आज्य के पान करने वाले देव हैं।

यज्ञ करते समय जल–सिञ्चन के पश्चात् आज्य अर्थात् घृत से आहुति दी जाती है। वे आज्य आहुतियाँ आघार आहुति प्रकरण के रूप में दी गई हैं। वहाँ प्रथम आहुति ''अग्नये स्वाहा'' के रूप में प्रयाजाहुति है और अन्य तीन आहुतियाँ अनुयाज के रूप

में हैं। ये सभी आहुतियाँ घृत से ही दी जाती हैं। अतः आज्य पान के लिए ''देवाँ आज्यपाँ आवह'' यह कहा गया है –

अब सभी कण्डिका में कहा गया है –

''अग्निं होत्रायावह'' इति।। १–४–२–१७

यहाँ प्रार्थना की गई है कि ''अग्नि को होत्र के लिए ला'' अर्थात् स्थूल अग्नि को स्थूल हवन के लिए ला।

इस अग्नि को आवाहित न करने से यज्ञ सम्पन्न नहीं होता। अतः हम ''भूर्भुवः स्वः'' ओ३म् के साथ उच्चारित करके अग्नि को आवाहित करते हैं। तभी हम इस भौतिक यज्ञ को सम्पन्न कर सकते हैं। अतः कहा–''अग्निं होत्रायावह''।।

अब आगे फिर से इसी कण्डिका में कहा गया है –

''स्वं महिमानमावह'' इति।। १–४–२–१७

यहाँ प्रार्थना की गई है कि ''अपनी महिमा को ला'' अर्थात् अपनी महिमा का आवाहन कर। यह इसीलिए कहा गया है कि वह अपने उत्तरदायित्व और गौरव को समझने में समर्थ हो सके। गौरवमय बनाने वाली वाणी ही है क्योंकि वाणी ही इसकी अपनी महिमा है। इसके कहने का तात्पर्य हुआ ''अपनी वाणी को ला''।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि यदि वाणी में दम है तो सब कुछ है। इसी से व्यक्ति का गौरव भी बढ़ता है, परन्तु यहाँ पर तो महिमा–गरिमा से युक्त अग्नि को आवाहित करना है, जिससे हमारा गौरव भी बढ़ेगा। यह तभी सम्भव है जब हम अग्नि देव से प्रार्थना करेंगे कि –

स्वं महिमानमावह इति।

अब अन्त में इसी कण्डिका में प्रार्थना की है –

''आ वह जातवेदः सुयजा च यज'' इति।। १–४–२–१७

अब यहाँ प्रार्थना की गई है कि ''हे जातवेद अग्नि! देवों को ला और अच्छे प्रकार से यज्ञ कर।'' यह उपसंहार वाक्य है। जिस–जिस देवता को लाने के लिए कहता है उस–उस को लाने के लिए आदेश दिया जाता है। ''सुयजा'' इस शब्द का भी यही

अभिप्राय है कि ''यथाविधि'' यज्ञ को सम्पन्न कर। जिन–जिन देवों का ऊपर बखान किया जा चुका है उन सबको ला और अनुष्ठान पूर्वक यज्ञ को सम्पादित कर।

ये सभी उपरोक्त अग्नि के स्वरूप वर्णित हैं। इन्हें बिना जाने यज्ञ को सम्पादित करना निरर्थक है। इन्हीं के माध्यम से हम देवों को हवि चढ़ाते हैं। वह ''हव्यवाहन'' बनकर ही हमारी हव्य को रथी बनकर देवों तक ले जाने में सक्षम है। इन्हीं को माध्यम बनाकर ''जातवेद'' रूप में अग्नि को मानकर सभी देवों को आवाहन का उत्तरदायित्व भी हम इसी पर सौंपते हैं तथा हमारी प्रार्थना होती है कि हमारे इस यज्ञ को सुयजा अर्थात् विधिपूर्वक सम्पन्न कर।

हमारा यज्ञ भी अनुष्ठान पूर्वक ''सुयजा'' के रूप में सम्पन्न होना चाहिए। इसीलिए कहा –

''आ च वह जातवेदः सुयजा यज इति।।

* * *

४७-सप्तचत्वारिंशत्तमपाथेयम्

ब्राह्मण के अंगों की महिमा का वर्णन

इस संसार में जैसे अग्नि पूज्य है, समादरणीय है तथा सर्वोत्तम देवता के रूप में श्रेष्ठ पद को प्राप्त है उसी तरह समाज में ब्राह्मण की स्थिति भी है। यह पद ऐसे ही प्राप्त नहीं होता। ब्राह्मण में भी अग्नि की तरह चमक होनी चाहिए। जैसे अग्नि को कोई दबा नहीं सकता, बुझा कर उसका कोई अपमान नहीं कर सकता, इसी तरह ब्राह्मण भी दब्बू नहीं होना चाहिए। उसमें विद्वत्ता का ऐसा तेज होना चाहिए कि कोई भी उसका अपमान न कर सके। इसीलिए याज्ञवल्क्य ने सामिधेनियों द्वारा प्रदीप्त अग्नि के माध्यम से उसके अंगों–प्रत्यङ्गों के महत्त्व को प्रतिपादित किया है याज्ञवल्क्य कहते हैं।

> यो ह वा अग्निः सामिधेनीभिः समिद्धः। अतितरां ह वै स
> इतरस्माद् अग्नेः तपति अनवधृष्यः हि भवति
> अनवमृश्यः।। १–४–३–१

अब जो अग्नि सामिधेनियों द्वारा प्रदीप्त किया जाता है, वह अग्नि दूसरे अन्य अग्नि की अपेक्षा अत्यन्त प्रताप वाला होता है। क्योंकि वह ''अनवधृष्य'' है अर्थात् वह अग्नि अधर्षणीय है। तात्पर्य यह है कि उसका कोई धर्षण नहीं कर सकता है और वह ''अवमृश्य'' है, अर्थात् उसका धर्षण तो एक ओर कोई उसका अपमान पूर्वक स्पर्श भी नहीं कर सकता।

जिस प्रकार सामिधेनियों द्वारा प्रदीप्त किया अग्नि दूसरे अग्नि की अपेक्षा अधिक प्रतापी होता है। इसी प्रकार इन सामिधेनियों द्वारा समिद्ध विद्या का अनुवचन करने वाला ब्राह्मण प्रतापी होता है। उसी विद्वान् ब्राह्मण के सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य कहते हैं –

> ''अनवधृष्यो हि भवति – अनवमृश्यः'' ।। १–४–३–२

वह विद्वान् ब्राह्मण जब इन सामिधेनियों द्वारा विद्या रूपी अग्नि द्वारा प्रदीप्त होता है तो वह अधर्षणीय हो जाता है अर्थात् उसे फिर कोई दबा नहीं सकता तथा वह

अस्पर्शनीय हो जाता है। वह समाज में अतिरस्करणीय हो जाता है, उसको कोई भी व्यक्ति तिरस्कार करने में सक्षम नहीं होता।

जैसे सामिधेनियों द्वारा प्रदीप्त अग्नि चमकने वाला होता है तथा अपनी चमक से अन्धकार को दूर करता है, उसी तरह विद्यारूपी अग्नि से प्रदीप्त विद्वान ब्राह्मण चमकना चाहिए और समाज में विद्यमान अज्ञानता के अन्धकार को दूर करने वाला होना चाहिए।

अब आगे प्रथम सामिधेनी द्वारा ब्राह्मण के प्राण–अपान और उदान को प्रदीप्त करते हुए याज्ञवल्क्य प्रथम सामिधेनी का बखान करते हैं –

''प्रव'' यह प्रथम सामिधेनी है, यह ''प्र'' से प्रारम्भ होती है जिसका अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण प्राणवान् होना चाहिए, क्योंकि इस सामिधेनी द्वारा ब्राह्मण के प्राण को प्रदीप्त करता है क्योंकि यदि ब्राह्मण प्रगतिशील होगा तो समाज भी प्रगतिशील बनेगा।

दूसरी सामिधेनी है–

''अग्न आ याहि वीतये।।'' १–४–१–२२

यह सामिधेनी ''अ'' से प्रारम्भ होती है। इसके द्वारा ब्राह्मण के ''अपान'' को प्रदीप्त करता है। यहाँ पर हम अग्नि को आदरपूर्वक बुलाते हैं क्योंकि वह आकर हमें यथेष्ठ ज्ञान दे तथा समाज में व्यापक अव्यवस्था को वह दूर करें। वह अव्यवस्था दूर करना ''अपान'' के समान ही है। ''अपान'' का अर्थ है, न पान अर्थात् जो पीने के योग्य अव्यवस्था है उसको न पीना उसे बाहर फेंक देना ही अपान है इसीलिए कहा है – ''अग्न आ याहि वीतये''।

अब आगे तीसरी सामिधेनी है–

''बृहच्छोचा यविष्ठ्य।। १–४–३–३

यहाँ ''उदान'' ही ''बृहच्छोचा'' है। वह बृहत्तया प्रदीप्त होने वाला है। इसीलिए इससे वह ''उदान'' को प्रदीप्त करता है। इसके द्वारा ब्राह्मण के ''उदान'' का समिन्धन होता है। इसका तात्पर्य है कि ब्राह्मण भी उदान के समान गुण वाला होना चाहिए। इसके बिना उत्+नतिः उन्नति नहीं हो सकती। इसीलिए इसका नाम उद्–आन है। अतः इस सामिधेनी से उदान को प्रदीप्त करता है।

अब आगे चौथी सामिधेनी इस तरह से है–

''स नः पृथु श्रवाय्यमि''ति।। १–४–३–४

यहाँ कान को ही पृथु श्रवाय्य माना है। क्योंकि कान ही निकट और दूर सुनने के साधन हैं। अतः इससे कान को ही प्रज्वलित करते हैं। ब्राह्मण के कान सर्वथा एकदम सुनने में समर्थ होने चाहिए। अतः कान की सकुशलता के लिए ही इस सामिधेनी द्वारा अग्नि को प्रदीप्त करते हैं। क्योंकि सभी में सुनने का सामर्थ्य होना चाहिए।

अब आगे पाँचवीं सामिधेनी को इस तरह प्रतिपादित करते हैं–

''ईडेन्यो नमस्य'' इति।। १–४–३–५

यहाँ वाणी ही ''ईडेन्य'' है। वाणी द्वारा ही सबकी स्तुति की जाती है। इसका अभिप्राय है कि ब्राह्मण की वाणी मधुरभाषी होनी चाहिए कि सब उसे नमस्कार करें तथा वह अपनी वाणी से लोगों में छाये अज्ञानता के अन्धकार को मिटाने में समर्थ हो, इसकी वाणी में दम होना चाहिए। इसीलिए इस सामिधेनी से वाणी को प्रज्वलित करते हैं।

यहाँ अब आगे छठी सामिधेनी का वर्णन करते हैं–

अश्वो न देववाहनः।। १–४–३–६

''मन ही देववाहन'' है। क्योंकि मन ही देवों तक विद्वानों को ले जाता है। ब्राह्मण का मन तीव्रगामी और ज्ञानवर्धक हो। उसके मन में सदैव कोई न कोई देव विद्यमान रहना चाहिए अर्थात् उसका मन दिव्य भावनाओं से भरपूर होना चाहिए। इसीलिए इस सामिधेनी से मन को प्रज्वलित करते हैं।

अगली सातवीं सामिधेनी इस तरह से हैं –

''अग्ने दीद्यतं बृहदि''ति।। १–४–३–७

यहाँ आँख ही चमकने वाली है। इसमें यह बताया गया है कि विद्वान् के नेत्र देदीप्यमान और बहुदर्शी होने चाहिए, वे चक्षु यशोबल से युक्त होने चाहिए। इसीलिए इस सामिधेनी से चक्षुओं का समिन्धन करता है।

अगली आठवीं सामिधेनी है–

''अग्नि दूतं वृणीमहे'' इति।। १–४–३–८

इस सामिधेनी द्वारा ब्राह्मण के मध्य प्राण को प्रज्वलित किया जाता है। यहाँ इस सामिधेनी को इस तरह से पढ़ना चाहिए – 'अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्'। इसके अनुसार ब्राह्मण ''विश्ववेदसम्'' है अर्थात् समय पड़ने पर ज्ञान की वृद्धि के लिए अपने सर्वस्व की बाजी लगाने के लिए तैयार रहना ब्राह्मण का मध्यम प्राण है। इस सामिधेनी द्वारा ब्राह्मण के मध्य प्राण का समिन्धन करता है। वह प्राणों की मध्य रेखा है। इससे ऊपर उर्ध्वगामी प्राण है। इससे नीचे अधोगामी प्राण है। इनके बीच में मध्य रेखा रहती है। जो इस सामिधेनी गत प्राण विद्या के मर्म को जानता है उसे भी लोग–अन्तःस्थ शान्ति से युक्त मानते हैं अर्थात् मुख्यता–प्रधानता प्रदान करते हैं।

हमने यदि समाज में मध्यस्थता करने वाला मुख्य प्राणी प्रधानता से युक्त बनना है तो हमें भी इसी सामिधेनी द्वारा अपने मध्य प्राण का समिन्धन करना होगा। प्राणशक्ति ही सर्वोत्तम मानी गई है।

अब अगली नवीं सामिधेनी इस तरह से है–

''शोचिष्केशस्तमीमहे'' इति।। १–४–३–९

यहाँ पर ''शिश्न'' अर्थात् उपस्थेन्द्रिय को ही ''शोचिष्केश'' माना है। यह उपस्थेन्द्रिय यदि ठीक प्रकार से सुरक्षित रहे तो उपस्थेन्द्रिय वाले को वह बहुत तेजस्वी बना देता है। यहाँ इसी बात का वर्णन किया गया है कि होता ब्राह्मण का ''शिश्न'' अर्थात् उपस्थेन्द्रिय शोचिष्केश होना चाहिए। ''शोचिष्केश'' से अभिप्राय है उसके उपस्थेन्द्रिय के केश सदा ही शुचि रहे हैं। सदैव ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला होना चाहिए तभी शोचिष्केश रहेगा अन्यथा नहीं। इसीलिए उसकी उपस्थेन्द्रिय की पवित्रता के लिए इस सामिधेनी द्वारा ''शिश्न'' का समिन्धन करता है।

हमें भी यदि समाज में तेजस्वी–वीर्यवान् बनना है तो इस उपस्थेन्द्रिय की पवित्रता का ध्यान रखना होगा तभी यह सम्भव है।

आगे दसवीं सामिधेनी का वर्णन इस तरह से है –

''समिद्धो अग्न आहुत'' इति।। १–४–३–१०

इस सामिधेनी के द्वारा यह जो नीचे का प्राण है उसी को इस सामिधेनी से प्रज्वलित करता है। इस सामिधेनी में अधोगामी प्राण का वर्णन है। यहाँ स्वास्थ्य के अनुकूल–अधोगामी प्राण का वर्णन है। पूर्ण स्वस्थ मनुष्य भी तब तक स्वस्थ है जब तक उसका मल विसर्जन ठीक है। यदि ठीक न हो तो वह अनुभव करता है कि सब किया कराया ''गजस्नान'' की तरह धूलि में मिल गया। इसीलिए सन्तोष तभी लेना चाहिए जब समिन्धन से समिद्ध तक पहुँचा जावे अर्थात् सन्तोष तभी होगा जब पवित्रता के साथ हमारा हव्य देवों तक पहुँच सके। इसीलिए इस सामिधेनी से समिन्धन करता है।

यहीं पर इस कण्डिका में उपसंहार करते हुए कहा है–

''आ जुहोता दुवस्यत'' इति।। १–४–३–१०

यह सम्पूर्ण सामिधेनियों में ग्यारहवीं सामिधेनी है। इस सामिधेनी के सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य लिखते हैं–

''सर्वम् आत्मानं समिन्ध आ नखेभ्यः अथ लोमभ्यः'' ।। १–४–३–१०

अर्थात् इससे अपने सम्पूर्ण शरीर को नख से लेकर लोम–लोम तक पवित्रता के लिए प्रज्वलित करता हूँ। यहाँ पर हमारी पवित्रता यज्ञार्थ नख से शिर लोम तक याज्ञवल्क्य को वांछित है। बिना पवित्रता के यज्ञ का लाभ प्राप्त करना कठिन है।

यहाँ पर प्राण, अपान, उदान, श्रोत्र, नाक, मन, नेत्र, मध्यप्राण, उपस्थेन्द्रिय, अधोप्राण तथा नख से लेकर सिर–लोम तक की पवित्रता एक होता ब्राह्मण के लिए वांछित है। तभी हमारा हव्य देवों तक पहुँचाया जा सकता है।

* * *

यज्ञ में यजमान द्वारा टोका–टाकी नहीं

यज्ञ को विष्णु माना गया है। जब यह परमात्मा का रूप है तो इसे संकल्प पूर्वक बड़ी श्रद्धा के साथ सम्पन्न करना चाहिए। यजमान के साथ इस यज्ञ में होता भी सहायक रहता है। उसका चयन बड़ी सावधानी से करना चाहिए। वह विद्वान् हो तथा यज्ञ के प्रति उसकी श्रद्धा हो। जब ऐसा होता हम ने यज्ञ के सम्पादन के लिए चुन लिया तो यजमान को चाहिए कि यज्ञ का सारा उत्तरदायित्व उस पर सौंप दे। यज्ञ के मध्य में टोका–टाकी–चूँ–चीं न करें। जिस तरह की टोका–टाकी होती है, जो अंग इसमें कारण होता है उसका ही अनिष्ट भोगना पड़ता है। इसी बात को अवगत कराते हुए याज्ञवल्क्य उन्हीं सामिधेनियों द्वारा किए जा रहे यज्ञ में टोका–टाकी का निषेध करते हुए लिखते हैं –

''यज्ञ के बीच में नहीं बोलना चाहिए, किसी भी तरह की बाधा नहीं डालनी चाहिए। यजमान यदि होता को चुनने के पीछे अभिमानवश पग–पग पर टोका–टाकी करेगा तो जिस प्रक्रिया में चूँ–चूँ करेगा उसी–उसी अंग को बिगाड़ लेगा। अतः होता का चुनाव हो जाने पर उसे पूर्ण स्वतन्त्रता देनी चाहिए। उसे ब्रह्मा ही रोक सकता है यजमान नहीं। टोका–टाकी का जो दुष्परिणाम होगा उसका बखान करते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं–

> ''प्राणं वा एतदात्मनो अग्नौ आधाः प्राणेन आत्मन
> आर्तिम् आरिष्यसी''ति।। १–४–३–११

अर्थात् यजमान यदि यज्ञ में चुने गए होता को पहली सामिधेनी में टोका–टाकी करे तो उससे कहो कि ''तूने अपने संकल्प का प्राण अग्नि में डाल दिया है। अब तुझे अपने प्राणों द्वारा विपत्ति को झेलना पड़ेगा और ऐसा ही होता है। याज्ञवल्क्य भी इसीलिए यहाँ कहता है–

> ''तथा ह एव स्यात्'' ।। १–४–३–१२

तूने ऐसा किया है अतः इस अपने प्राण से तूझे दुःख भोगना ही होगा। यह निश्चित बात है कि ऐसा ही होगा। इसमें कोई संशय नहीं है।

यदि अपने प्राण सुरक्षित रखने हैं तो हमें भी यज्ञ में किसी भी तरह की टोका–टाकी या चूँ–चूँ नहीं करनी चाहिए। तभी हमारा यज्ञ करना सफल होगा।

अब अगर दूसरी सामिधेनी से समिन्धन करते हुए भी बाधा डाले, फिर टोका–टाकी करे तो कहे –

''अपानं वा एतदात्मनः अग्नौ आधा अपानेन
आत्मन आर्तिम् आरिष्यसी''ति।। १–४–३–१२

अर्थात् यजमान दूसरी सामिधेनी के समय यदि होता को बुरा कहे, वहाँ भी टोका–टाकी करे तो स्पष्ट शब्दों में कहे – ''तुमने ऐसा करके अपने ''अपान'' को अग्नि में डाल दिया है। तुझे अब इस अपने ''अपान'' से आपदा को, पीड़ा को झेलना पड़ेगा तथा ऐसा होना सुनिश्चित है।

हमें टोका–टाकी नहीं करनी चाहिए। ''अपान'' प्राण की रक्षा करनी हमारे लिए प्राण की तरह परमावश्यक है।

अब अगर तीसरी सामिधेनी के समय भी ऐसा हो तो कहे–

''उदानं वा एतदात्मनः अग्नौ आधा उदानेन–
आत्मन आर्तिम् आरिष्यसी''ति।। १–४–३–१३

तूने ऐसा करके अपने ''उदान'' प्राण को अग्नि में डाल दिया है। अब तुझे अपने इस ''उदान'' प्राण से पीड़ा को भोगना पड़ेगा। ऐसा ही होगा अर्थात् ''उदान'' से पीड़ा भोगना सुनिश्चत है।

हमारे इस ''उदान'' प्राण को पीड़ा न भोगनी पड़े, अतः निर्विघ्नता से हमें यज्ञ करना चाहिए। उस में बाधा नहीं डालनी चाहिए। तभी हमारे ''उदान'' प्राण सुरक्षित रहेंगे।

चौथी सामिधेनी के समय भी यजमान द्वारा यज्ञ करते समय टोका–टाकी होती हो तो कहे–

''श्रोत्रं वा एतदात्मनः अग्नौ आधाः श्रोत्रेण
आत्मन आर्तिम् आरिष्यसी''ति।। १–४–३–१४

तूने ऐसा करके अपने श्रोत्र अर्थात् कान को अग्नि में डाल दिया है। तू अपने कान द्वारा विपत्ति को भोगेगा। बहरा हो जायेगा। तुझे ऐसी विपत्ति को भोगना पड़ेगा। बधिरत्व दोष से हमें बचना चाहिए, क्योंकि कान है तो जहान है'' । बिना कान के कुछ भी काम करने में हम समर्थ नहीं। हम धर्महीन हो जायेंगे क्योंकि ''वेद का सुनना परम धर्म माना गया है। इस अभिशाप से बचते हुए हमें अपने कानों की सुरक्षा करनी है क्योंकि सुनने के लिए एकमात्र साधन हमारे पास कान ही है। जीवन में बधिरपन दु:खदायी होता है।

अब अगर पाँचवीं सामिधेनी के समिन्धन के समय में भी यदि यजमान द्वारा टोका–टाकी की जाती हो तो उससे कहे–

वाचं वा एतदात्मनः–अग्नौ आधा वाचा आत्मनः आर्त्तिम्
आरिष्यसि मूको भविष्यति–इति तथा हैव स्यात्।। १–४–३–१५

यजमान द्वारा पाँचवीं सामिधेनी पर भी यदि अड़ंगा डाला जाता है तो उस समय होता को कहना चाहिए कि – ''तूने अपनी वाणी को आग में डाल दिया है। तुझे अपनी वाणी द्वारा विपत्ति को भोगना पड़ेगा, तू वाणी से गूँगा हो जायेगा। यह ऐसा ही होगा अर्थात् वाणी से गूँगा होना उस स्थिति में सुनिश्चित है।

परस्पर व्यवहार का एकमात्र साधन हमारे पास वाणी ही है। पाँचवीं सामिधेनी द्वारा समिन्धन करते हुए वाणी के यश और बल की हम प्रार्थना करते हैं। वाणी में जिसके दम है वही व्यक्ति समाज में समादरणीय होता है, परन्तु इस सामिधेनी के समिन्धन में यदि यजमान चूँ–चूँ करे तो समझो उसने अपनी वाणी को आग में डाल दिया अर्थात् वह गूँगा हो गया। हमने गूँगा नहीं बनना। अतः नियमानुसार इस यज्ञ को प्रतिपादित करना है, जिससे कि हमें यज्ञ का समुचित लाभ प्राप्त हो।

आगे छठी सामिधेनी के समय बुरा कहे तो उसके प्रति कहना चाहिए–

मनो वा एतदात्मनः–अग्नौ–आधा मनसात्मन आर्त्तिम्
आरिष्यसि मनो मुषि गृहीतः मोमुघः चरिष्यसीति तथा
हैव स्यात्।। १–४–३–१६

इस छठी सामिधेनी के समय भी यदि यजमान निरर्थक ही किसी बात पर अड़ जावे तो उसके प्रति होता को कहना चाहिए कि ''तूने अपने मन को अग्नि में डाल दिया है। अतः तुझे अपने मन द्वारा विपत्ति को झेलना पड़ेगा। मानसिक रोग से ग्रस्त तू बिलकुल मूढ़ होकर विचरेगा। तेरा मन विक्षिप्त हो जायेगा। ऐसा ही होगा अर्थात् मूढ़ वा विक्षिप्त होना सुनिश्चित है।

यज्ञ करते समय अपनी मनःस्थिति शिवसंङ्कल्प से युक्त होनी चाहिए। क्योंकि कहा भी गया है ''मन के हारे हार है, मन के जीते जीत'' यह सब कुछ मनःस्थिति पर निर्भर है। अतः हमें इस यज्ञ को एकाग्रता के साथ तन्मय होकर सम्पादित करना चाहिए। निरर्थक टोका–टाकी या चूँ–चूँ नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ऐसा करने पर हमारी मानसिक एकाग्रता समाप्त हो जाती है। तभी याज्ञवल्क्य ने कहा कि तुम्हारा मन अग्नि में डाल दिया है। तुम्हारा मन भस्म हो गया है। जब मन ही मर जाये तो मनुष्य विक्षिप्त हो जाता है अपना विवेक खो बैठता है। हमारा मन विवेक युक्त रहे अतः हमें संकल्प सहित विधि के अनुसार यज्ञ करना होगा।

इसी तरह यदि सातवीं सामिधेनी के समय भी अव्यवस्था स्थापित हो तो कहना चाहिए –

''चक्षुः वा एतदात्मनः–अग्नौ–आधाः– चक्षुषात्मनः–

आर्तिम् आरिष्यसि अन्धो भविष्यसी''ति तथा हैव स्यात्।। १–४–३–१७

इस सामिधेनी पर यदि यजमान होता को फिर टोकता है तो होता को कहना चाहिए कि ''ऐसा करके तूने अपनी चक्षु को आग में डाल दिया है। तुझे तेरी आँखों में पीड़ा होगी और तू अंधेपन को प्राप्त करेगा। ऐसा ही होगा अर्थात् अन्धत्व को प्राप्त होना सुनिश्चित है।

यज्ञ से पूर्व हम प्रार्थना करते हैं–

''अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु''। पारस्करगृह्यसूत्रम्

ईश्वर हमारी ये आँखें देखने में समर्थ हों। इनमें यशः और बल सर्वथा विद्यमान रहना चाहिए। याज्ञवल्क्य की दृष्टि में ''चक्षु'' का बड़ा महत्त्व है। क्योंकि अन्धत्व का

जीवन किसी भी काम का नहीं होता, इसीलिए यज्ञ के पश्चात् प्रार्थना करने का आदेश है और वह प्रार्थना है –

''चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहि''

हे परमपिता परमात्मन् ! हे भौतिक अग्नि ! आप इन आंखों को दृष्टि देने वाले हो, उसके रक्षक हो, कृपया मेरी इन आँखों की रक्षा करो।

इस तरह की प्रार्थना हम सबको यज्ञ के पश्चात् करनी चाहिए तथा यज्ञ निर्विघ्नता पूर्वक करना चाहिए। अन्यथा अव्यवस्था में तो ''चक्षु'' जैसी महत्त्वपूर्ण ज्ञानेन्द्रिय का हनन कर अन्धत्व को प्राप्त करना है।

फिर यदि आठवीं सामिधेनी पर इसी तरह का व्यवहार होता के साथ होता रहे तो कहना चाहिए –

''मध्यं वा एतत् प्राणम् आत्मनः–अग्नौ आधा मध्येन
प्राणेन–आत्मनः– आर्तिम्–आरिष्यसि–उद्ध्माय मरिष्यसी''ति
तथा हैव स्यात्।। १–४–३–१८

इस आठवीं सामिधेनी के समय समिन्धन करते हुए यदि यजमान होता को चूँ–चाँ करके फिर टोकता है तो उससे कहना चाहिए कि ''तूने ऐसा करके अपने मध्यम प्राण को अग्नि में डाल दिया है।'' तुझे इस मध्य प्राण से पीड़ा होगी तथा तू अफारे और वात रोग से मरेगा। अर्थात् मध्य प्राण के हनन से उपरोक्त बीमारी का आना सुनिश्चित है।

हमें निर्विघ्नता पूर्वक मध्य प्राण को सुरक्षित रखना है। इसी मध्य–प्राण से ही हमारे प्राणों की व्यवस्था ऊर्ध्वगामी और अधोगामी होती है। अधोगामी प्राण व्यवस्था न होगी तो मल–मूत्र का उत्सर्ग नहीं होगा। परिणामस्वरूप अफारा पेट में रहेगा तथा वात रोग भी बढ़ेगा। इनसे बचने के लिए मध्य प्राण की सुरक्षा हमें करनी होगी।

अब पुनः यदि नवमी सामिधेनी के समय भी इसी तरह की टोका–टाकी हो तो फिर कहना चाहिए –

''शिश्नं वा एतदात्मनः–अग्नौ–आधाः शिश्नेन
आत्मनः–आर्तिम्–आरिष्यसि क्लीबो भविष्यसी''ति–
तथा हैव स्यात्।। १–४–३–१९

इस नवमी सामिधेनी के समिन्धन पर यजमान फिर से टोका–टाकी करे तो होता को स्पष्ट शब्द में कहना चाहिए कि ''तूने ऐसा करके अपने शिश्नेन्द्रिय को आग में डाल दिया है।'' अब तू उपस्थेन्द्रिय से विपत्ति को प्राप्त करेगा। तू इस स्थिति में नपुंसक हो जायेगा। ऐसा होना सुनिश्चित है।

यज्ञ में यजमान को बहुत टोका–टाकी नहीं करनी चाहिए। इस यज्ञ को निर्विघ्नता पूर्वक सम्पन्न करना चाहिए। विविध प्रकार की टोका–टाकी हानिकारक हुआ करती है। इस बात से हमें बचना चाहिए।

दसवीं सामिधेनी पर भी यदि बाधा उपस्थिति की जाती हो तो उस समय बोलना चाहिए–

अवाञ्चं वा एतत् प्राणम्–आत्मनः–अग्नौ आधाः
अवाचा प्राणेन आत्मनः–आर्त्तिम्–आरिष्यसि अपिनद्धः
मरिष्यसीति तथा हैव स्यात्।। १–४–३–२०

इस दसवीं सामिधेनी के समिन्धन के समय यजमान होता के कार्य में यदि फिर से बाधा डाले तो होता को यजमान के प्रति इस तरह से कहना चाहिए कि ''तूने ऐसा कर अपने निचले प्राण को अग्नि में डाल दिया है। अब तुझे निचले प्राण में पीड़ा होगी, इस तरह तू कब्ज की बीमारी से मर जायेगा। ऐसा करने पर ऐसा ही होगा। अर्थात् टोका–टाकी करने पर कब्ज का होना इसलिए भी सुनिश्चित है क्योंकि अधोप्राण बाधित होगा। उसके बाधित होने से मल–मूत्र का अवरोध हो जायेगा। वही महती पीड़ा का कारण होता है। अतः यज्ञ के मध्य टोका–टाकी से हमें बचना चाहिए।

ग्यारहवीं सामिधेनी पर यदि फिर से बाघा उपस्थित की जाती है तो होता को इस तरह कहना चाहिए–

सर्वं वा एतदात्मानम् अग्नौ–आधाः सर्वेण–आत्मना
आर्त्तिम्–आरिष्यसि क्षिप्रे अमुं लोकम् एष्यसीति,
तथा हैव स्यात्।। १–४–३–२१

इस ग्यारहवीं सामिधेनी के समिन्धन के समय भी यदि यजमान फिर से होता के कार्य में टोका–टाकी करे तो होता को कहना चाहिए कि – ''इस तरह की बाधा डाल कर तुमने अपना यह शरीर आग में डाल दिया। अर्थात् सब कुछ बना–बनाया आग में झोंक दिया है। तुझे सम्पूर्ण शरीर से विपत्ति उठानी पड़ेगी और शीघ्र ही तू लोकान्तर में चला जायेगा और ऐसा ही होगा। अर्थात् ऐसा करने पर मौत को प्राप्त करना सुनिश्चित है। मौत से बचने के लिए यज्ञ में हमें टोका–टाकी से बचते रहना चाहिए।

इन सामिधेनियों के समिन्धन के समय यदि अग्नि ठीक तरह से प्रज्वलित नहीं होती अथवा उस सामिधेनी द्वारा यदि अग्नि बिगड़ती है तो यजमान का यज्ञ भी अड़ जाता है।

सामिधेनियों के रहस्यवित् होता–ब्राह्मण के समक्ष यजमान को भी नहीं अड़ना चाहिए। उसके सामने अड़कर यजमान आपदा को उठाता है। क्योंकि याज्ञवल्क्य भी स्पष्ट शब्दों में आदेश करते हैं–

> सामिधेनीः विद्वांसम् अनुब्रुवन्तम्–अनुव्याहृत्य
> आर्तिन्र्येति।। १–४–३–२२।।

अर्थात् सामिधेनी रहस्यवित् सामिधेनियों के समझने वाले ब्राह्मण के समक्ष अड़ कर यजमान विपत्ति की पीड़ा को उठाता है।

यहाँ हमें इस बात से अवगत हो जाना चाहिए कि हमारा होता प्राण, अपान व उदान से सक्षम होना चाहिए। उसमें ये तीनों शक्तियाँ विद्यमान होनी चाहिए। फिर उसमें सुनने का सामर्थ्य होना चाहिए। वक्तृत्व शक्ति से वह सम्पन्न हो। वह मनस्वी हो, तेजस्वी हो प्राणोत्सर्ग करने वाला हो। सबसे बड़ी बात वह जितेन्द्रिय हो। अन्त में वह प्राणवान् हो।

ऐसे होता के समक्ष यजमान को शान्तिपूर्वक यज्ञ करना चाहिए। अन्यथा कृतघ्नतावश यजमान को सर्वांग हानि उठानी होगी।

हमें यज्ञ के मध्य टोका–टाकी से बचना चाहिए। यही हमारा परम कर्त्तव्य है।

* * *

आघार आहुति प्रयोजन

यह पाठ यज्ञ में महत्त्वपूर्ण है। इसमें यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि यह आघार प्रक्रिया यज्ञ की प्राण है। यज्ञ में अग्नि का निर्धूम जलना महत्त्वपूर्ण है, वैसे भी धूम में आहुति को चढ़ाना शास्त्रकारों ने निषिद्ध माना है। यज्ञ में जब अग्नि निर्धूम होकर प्रचण्ड–रूप से प्रदीप्त हो तभी आहुतियों को चढ़ाना सार्थक माना गया है। इसीलिए आघार–आहुति व्यवस्था कर्मकाण्ड में रखी गई है। ''आघार'' शब्द का अर्थ है – ''आ समन्ताद् घारणम्'' अर्थात् यज्ञ की वह प्रक्रिया जिसमें धार बाँध कर अग्नि में खूब घी चढ़ाया जाता हो। यह ''आघार'' शब्द ''घृ'' धातु से बना है। यज्ञ की अग्नि तभी प्रदीप्त होगी जब धार बाँधकर घी को खूब चढ़ाया जायेगा। वह घी का चढ़ाना भी मन के साथ वाणी से होना चाहिए। मन वाणी के साथ जुड़ा होना चाहिए, तभी जाकर हमारा हव्य देवों तक पहुँचने में सक्षम होगा अन्यथा नहीं। इन्हीं बातों को सामने रखते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

तं वा एवम् अग्निं समैन्धिषत। ''समिद्धे देवेभ्यो जुहुवामे''
ति तस्मिन् एते एव प्रथमे–आहुती जुहोति मनसे चैव
वाचे च मनश्च ह एव वाक् च युजौ देवेभ्यः यज्ञं वहतः। १–४–४–१

यज्ञ कर्त्ताओं ने इस यज्ञाग्नि को सर्वप्रथम प्रदीप्त किया। जब यह अग्नि अच्छी तरह प्रदीप्त हो जाय तभी उसमें आहुतियों को चढ़ाना चाहिए। सर्वप्रथम इसमें दो आहुतियों को चढ़ाना चाहिए। वे दो आहुतियाँ होंगी– एक मन के लिए और दूसरी वाणी के लिए। मन और वाणी ये दोनों देवताओं के लिए वहाँ तक यज्ञ को ढोकर ले जाने वाले वाहनों की जोड़ी हैं। ये देवों तक यज्ञ को ले जाने का काम करते हैं। हमारा यज्ञ देवों तक पहुँचे इसीलिए मन को वाणी के साथ जोड़कर यज्ञ को करना चाहिए। केवल

मात्र वाणी से किया गया यज्ञ देवों तक नहीं पहुँचता, इस बात का ध्यान सभी याज्ञिकों को रखना चाहिए।

यह कर्म चुप–चाप करना चाहिए। ऐसा कर्म ''उपांशु'' कहलाता है। ''उपांशु'' उस कर्म को कहते हैं जिसमें ओष्ठ चलें किन्तु आवाज किसी दूसरे को न सुनाई दे। इस यज्ञ को मन देवों तक ले जाता है और जो वाणी से स्पष्ट करके किया जाता है उस यज्ञ को वाणी देवों तक ले जाती है। इस तरह यहाँ दोनों क्रियाएँ होती हैं, वह कर्म इन दोनों को तृप्त करता है। जिससे ये दोनों मन और वाणी तृप्त और प्रसन्न होकर यज्ञ को देवों तक पहुँचाने का कार्य करते हैं।

यज्ञ में मन व वाणी का तृप्त होना ही यज्ञ की सफलता का सूचक है। यह तभी सम्भव है जब हम शास्त्रविधि अनुसार कर्मों को करने में तत्पर रहेंगे। मानसिक कर्म मन के साथ तथा वाचिक कर्म वाणी द्वारा ही किया जाना है।

यहाँ जो ''आघार'' मन के लिए किया जाता है, वह ''आघार'' स्रुवा से किया जाता है। इसमें भरपूर घी चढ़ाना होता है। उस कर्म को स्रुवा से करना होता है, क्योंकि यहाँ पर मन भी नर है। स्रुवा भी नर है। समानता में ही समान क्रिया का समावेश करना चाहिए।

जो ''आघार'' वाणी के लिए किया जाता है उसे स्रुचा के द्वारा किया जाता है क्योंकि वाणी स्त्री है और स्रुक् भी स्त्री है। यहाँ भी समानता में समान क्रिया का समावेश किया जाता है।

फिर व्यवस्था दी जाती है कि जो आहुति अर्थात् मन के लिए जो आघार किया जाता है उसे चुप–चाप करना चाहिए, वहाँ ''स्वाहा'' शब्द तक उच्चारण नहीं होना चाहिए। क्योंकि मन स्पष्ट नहीं है और जो कृत्य चुपके से किया जाता है वह भी स्पष्ट नहीं होता। मन अस्फुट है, चुपचाप किया जाने वाला कर्म भी अस्फुट है।

और जो ''आघार'' वाणी के लिए किया जाता है, उसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक किया जाता है। क्योंकि वाणी स्पष्ट है और मन्त्र भी स्पष्ट हैं। यहाँ वाणी स्फुट है और मन्त्र भी स्फुट है।

आगे याज्ञवल्क्य फिर व्यवस्था देते हुए कहते हैं कि जो ''आघार'' अर्थात् आहुति मन के लिए दी जाती है, वह बैठ कर दी जाती है और वाणी के लिए जो ''आघार'' किया जाता है वह खड़े–खड़े किया जाता है। मन और वाणी ये दोनों मिलकर ही देवों के लिए यज्ञ ले जाते हैं। संसार में देखा गया है कि – बैलों के जोड़े में से अगर एक बैल छोटा होता है तो उसके कन्धे पर ''उपवह'' अर्थात् गद्दी रख देते हैं। जिससे जुए के दोनों बैल बराबर हो जायें। वाणी मन से छोटी है। मन बड़ा अपरिमित है, वाणी बहुत परिमित है। वाणी के लिए खड़े होकर ''आघार'' क्रिया का सम्पादित करने का तात्पर्य है कि वाणी को एक ''उपवह'' अर्थात् गद्दी दे दी जिससे वे दोनों बराबर होकर यज्ञ को देवों तक ले जाएँ। समान अवस्था व समान गति में ही वाहन का सुचारु रूप से चलना सम्भव होता है। इसीलिए वाणी का ''आघार'' खड़े होकर किया जाता है।

देवों ने इस व्यवस्था को लेकर यज्ञ रचना प्रारम्भ किया। वे लोग असुर–राक्षसों के विघ्न से डरने लगे। इसीलिए वे वेदि के दक्षिण की ओर खड़े हो गये तथा दक्षिण की ओर खड़े होकर ''आघार'' किया जाता है। एक आघार उत्तर की ओर और दूसरा ''आघार'' दक्षिण की ओर किया जाता है। यह जो दोनों ओर ''आघार'' किया जाता है इसका भाव यह है कि मन और वाणी वस्तुतः एक ही होकर पृथक् से है क्योंकि वाणी वही तो बोलती है जो मन सोचता है। इन आघारों में एक यज्ञ का मूल है और दूसरा सिर। जो यज्ञ का मूल है उसे स्रुव से आघारण करता है और जो सिर है उसे स्रुचा से आघारण किया जाता है।

यहाँ याज्ञवल्क्य आदेश देते हैं–

''तूष्णीं तम् आघारयति'' ।। १–४–४–१०

जो यज्ञ का मूल है उसे चुपचाप आघारण करता है। क्योंकि मूल अर्थात् जड़ मौन सी पड़ी होती है क्योंकि इसको वाणी नहीं बोलती और जो यज्ञ का शिर है उसका आघारण मन्त्रपूर्वक करता है। क्योंकि मन्त्र वाणी है और वाणी शिर से प्रकट होती है।

जो यज्ञ का मूल है उसे बैठकर आघारण करता है। मूल बैठा सा ही रहता है। जो शिर है उसे खड़े होकर करता है। शिर खड़ा सा है।

अब स्रुव से पूर्वाघार की आघारण करके आज्ञा देता है–

''अग्निम् अग्नीत् समृड्ढि'' ।। १–४–४–१३ ।।

अध्वर्यु आज्ञा देता है कि – ''हे अग्नीध्र ! अग्नि को साफ कर दो'' यह जो यज्ञ का पूर्वाघार है वह मानो इस प्रकार है जैसे बैल जोतने से पूर्व गाड़ी का जुआ ऊपर उठाये। क्योंकि जुआ उठाकर ही वाहन जोते जाते हैं।

यज्ञ के वाहन पूर्वाघार और उत्तराघार है। पूर्वाघार मन का है और उत्तराघार वाणी का है। पूर्वाघाराहुति उत्तर में है और उत्तराघाराहुति दक्षिण में है। तभी यज्ञ बढ़ता है।

* * *

सम्मार्जन प्रयोजन

''आघार'' अर्थात् भरपूर घृताहुतियों द्वारा यज्ञ की अग्नि को अच्छी तरह प्रज्वलित किया जाता है। इस प्रज्वलन में पूर्वाघार और उत्तराघार दोनों ही आघरण कारण होते हैं क्योंकि आघरण व्यवस्था में जब भरपूर घृत चढ़ाया जाता है तो अग्नि का प्रदीप्त होना स्वाभाविक है। तदनन्तर सम्मार्जन की व्यवस्था की जाती है।

सम्मार्जन कर्म वह कर्म है जो यज्ञ कर्म को सुचारु रूप से चलाने के लिए किया जाता है। यज्ञ के वाहक मन और वाणी को माना गया है। उनकी गति अबाध रूप से चलती रहे। किसी तरह का बाधक कारण कोई न बने अतः सम्मार्जन क्रिया को करना मुख्य प्रयोजन होता है। अतः याज्ञवल्क्य व्यवस्था करते हैं –

''अथ सम्मार्ष्टि''।। १–४–४–१४

अब वह सम्मार्जन करता है। सम्मार्जन करके वह विधिवत् मन और वाणी को यज्ञ में जोतता है। क्योंकि वह भी चाहता है कि यज्ञ की गाड़ी गन्तव्य स्थान को प्राप्त हो। जुते हुए यज्ञ को देवों तक पहुँचाए। हमारा यज्ञ देवों को प्राप्त होना चाहिए। इसीलिए सम्मार्जन करता है। परिधि–प्रदेश के समीप जाकर परिक्रमा कर सम्मार्जन करता है। वाहन को भी इसी प्रकार जिस ओर के जूए में जोतना होता है उसकी ओर आगे बढ़कर ही उसे जोता जाता है। वहाँ वाहन के सुचारु सञ्चालन के लिए जो व्यवस्था की जाती है वह यहाँ भी अपेक्षित होती है। इसीलिए वह तीन–तीन बार सम्मार्जन करता है। यहाँ याज्ञवल्क्य भी कहते हैं–

''त्रिस्त्रिः सम्मार्ष्टि त्रिवृद् हि यज्ञः।। १–४–४–१४

यहाँ पर सम्मार्जन तीन–तीन बार करना चाहिए, क्योंकि यज्ञ को ''त्रिवृत्'' माना गया है और यज्ञ होता ही है ''त्रिवृत्''। उस यज्ञ की सफलता इसी में है जो यज्ञत्रयी विद्या से उपयुक्त हो अर्थात् ज्ञान, कर्म, उपासना रूप त्रयी विद्या का समावेश यज्ञ में होना चाहिए तभी यज्ञ सफलता से सम्पन्न होता है।

यज्ञ मनसा, वाचा, कर्मणा होना चाहिए। तब भी यज्ञ ''त्रिवृत्'' होता है।

यज्ञ भू लोक से अन्तरिक्ष लोक और अन्तरिक्ष से द्यु लोक तक पहुँचने वाला होना चाहिए तब भी यज्ञ ''त्रिवृत्'' होता है। आगे पुनः सम्मार्जन का विधान याज्ञवल्क्य करते हुए लिखते हैं–

''स समार्ष्टि'' ।। १–४–४–१५

वह फिर सम्मार्जन करता है तथा सम्मार्जन करते हुए इस मन्त्र का पाठ करता है–

''अग्ने वाजजिद् वाजं त्वा सरिष्यन्तं वाजजितं
सम्मार्ज्मी''ति।। १–४–४–१५

हे अन्न जीतने वाली अग्नि! तुझ अन्न को जीतने वाली को, जो अन्न तक जा रही है, मैं उसका सम्मार्जन कर रहा हूँ। अर्थात् मैं उस अग्नि का सम्मार्जन कर रहा हूँ, जो यज्ञ को ले जा रहा है और जो यज्ञ के योग्य है।

अब फिर तीन बार चुपचाप मन्त्र जाप करता है, वह ऐसा ही है जैसे बैल को जोतकर हाँकते हुए कहे– चलो, ले चलो। इसी प्रकार यहाँ पर भी उस यज्ञाग्नि को हाँकते हैं। चलो, देवों के लिए यज्ञ को ले चलो। इसीलिए तीन बार चुप–चाप सम्मार्जन करता है। तभी दोनों आहुतियाँ पृथक्–पृथक् हो जाती हैं। इसी से पता चलता है कि मन और वाणी पृथक्–से हैं, पर वस्तुतः एक ही हैं।

यज्ञ के पथ को प्रशस्त करने के लिए सम्मार्जन अपेक्षित है। यज्ञाग्नि निर्बाध रूप से प्रदीप्त होती रहे। उसमें किसी भी तरह की बाधा उपस्थित न हो इसीलिए सम्मार्जन किया जाता है। बाधा को बहा देना ही सम्मार्जन की उपयोगिता है। शुद्ध, पवित्र अग्नि ही अन्नोत्पादिका होती है। वही अग्नि यज्ञ को ढोने वाली होती है। हमारे यज्ञ की अग्नि भी शुद्ध हो अतः सम्मार्जन किया जाता है।

पवित्रता यज्ञ का सूचक है। यज्ञ वैसे भी ''त्रिवृद्'' है। क्योंकि ''यज्ञ'' शब्द का अर्थ है – देवपूजा, संगतिकरण और दान। जिस माध्यम से हम देवताओं की पूजा करते हैं वह यज्ञ है। जिस माध्यम से समाज में हमारा संगतिकरण हो वह यज्ञ है। जिस माध्यम से हम देना सीखते हैं वह यज्ञ है। यह ''त्रिवृत्'' यज्ञ निर्बाध चलता रहे इसीलिए सम्मार्जन किया जाता है। वह करना भी चाहिए जिससे कि हमारा यज्ञ देवों तक पहुँच सके।

* * *

५१-एकपंचाशत्तमपाथेयम्

विष्णोः स्थानमसि

देवों और पितरों को अपना–अपना हविष्य–पदार्थ प्रदान करने का एक मात्र साधन हमारे पास यज्ञ ही है। इस कर्म को करने से दोनों ही प्रसन्न हो जाते हैं और ऐसा करने से हम देव ऋण और पितृ ऋण से उऋण होने का प्रयत्न करते हैं। ये दोनों ऋण मनुष्य पर बने रहते हैं। इन ऋणों से मुक्त होने का एकमात्र साधन यज्ञ ही है। वैसे भी हम देवयज्ञ तो करते ही हैं उसी के साथ हमें पितृयज्ञ भी करना चाहिए। पितृयज्ञ करने के पश्चात् देव सर्वथा तृप्त हो जाते हैं।

यह यज्ञ कर्म कोई साधारण कर्म नहीं है, इसे तो ''श्रेष्ठतमं कर्म'' माना गया है। वैसे भी ''यज्ञो वै विष्णुः'' के आधार पर यज्ञ को शास्त्रकारों ने ''विष्णु'' माना है। विष्णु को विष्णु इसलिए कहा जाता है कि वह सारे संसार में व्यापक है। वह भूलोक, भुवः लोक और स्वर्गलोक–इन तीनों लोकों में व्यापक है। इसी तरह से जब यज्ञ किया जाता है तो वह भी सर्वत्र व्यापक हो जाता है। भूलोक में किया जाने वाला यज्ञ भी भूलोक, भुवः लोक व स्वर्गलोक में व्याप्त हो जाता है इसीलिए इसे ''विष्णु'' माना जाता है।

जिस स्थान पर यज्ञ किया जाता है वह ''यज्ञशाला'' कहलाती है। वहीं बैठ कर यज्ञ कुण्ड के समीप बैठकर हम इस यज्ञ को करते हैं। प्रश्न उठता है कि जहाँ पर हम यज्ञ करते हैं वह यज्ञशाला किस की है? यह यज्ञशाला मेरी है। यह तो सर्वथा अभिमान है। यज्ञ करते हुए इस तरह के अभिमान से बचना चाहिए। यज्ञ किसी एक व्यक्ति का नहीं हुआ करता। वह तो बहुजन हिताय होता है। जो वस्तु बहुजन हिताय होती है वह परमपिता परमात्मा की होती है। अतः यज्ञ भी उसी परमपिता परमात्मा का होता है। वह न किसी प्रधान का होता है, न वह मन्त्री का। याज्ञवल्क्य ने बड़े सुन्दर शब्दों में बखान किया है – यज्ञ तो ''विष्णोः स्थानमसि'' है अर्थात् जहाँ भी हम यज्ञ करते हैं वह स्थान उस विष्णु का है जिसके लिए हम यज्ञ करने जा रहे हैं।

आचमन के प्रथम मन्त्र का उच्चारण करते हुए हम बोला करते हैंः–

''अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा'' तैत्तिरीय आरण्यक

अर्थात् ''हे ईश्वर ! तू मेरा बिछौना है।'' ईश्वर बिछौना कैसे हो सकता है? यह आज इस वाक्य को पढ़ने पर समझ में आया कि जहाँ हम आसन बिछा कर यज्ञ करने बैठे हैं वह स्थान तो ''विष्णोः स्थानमसि'' है अर्थात् वह स्थान तो उस परमपिता का है, जिस स्थान पर बैठ कर हम यज्ञ कर रहे हैं। वह आसन, वह बिछावन भी उस प्रभु का ही है। जब ऐसी भावना हमारे अन्दर उत्पन्न होती है तभी यज्ञमय होकर यज्ञ करने का परमानन्द आता है। अतः याज्ञवल्क्य लिखते हैं–

''पूर्वेण स्रुचौ अञ्जलिं निदधाति।। १–४–५–१

अध्वर्यु को चाहिए कि स्रुचों को पूर्व दिशा की ओर लेकर हस्तांजलि करके इस मन्त्र का पाठ करना चाहिए–

''नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः।। १–४–५–१

देवों को नमस्कार हो और पितरों को स्वधा करनी चाहिए। देवता नमस्कार से प्रसन्न होते हैं। उनके सामने नमन करना ही उनकी प्रसन्नता का प्रतीक है। इसीलिए जब भी समय मिले देवों को नमन करते रहना चाहिए। यही सबसे बड़ी विनम्रता का प्रतीक है।

पितर ''स्वधा'' से प्रसन्न होते हैं। उनके अनुकूल किए जाने वाले व्यवहारों से ही वे प्रसन्न होते हैं। उनके अनुकूल अन्न–धन–जलादि से उन्हें तृप्त करना चाहिए। यही उनके प्रति किया जाने वाला ''स्वधा'' कर्म होता है। शास्त्रों में कहीं भी ''श्राद्ध'' का विधान मृत पितरों के लिए नहीं है। वहाँ तो स्पष्ट शब्दों में लिखा है ''स्वधा पितृभ्यः'' । जो जीवन भर हमें पालते हैं, अपना सर्वस्व अपनी सन्तानों पर न्यौछावर करते हैं वे ''पितर'' कहलाते हैं। जिस तरह से उन्होंने हमारी सेवा की है, जिस तरह से उन्होंने हमें पाला है उसी तरह उनकी सेवा करना, उनकी तृप्ति करना ही ''स्वधा'' है। अतः जो जीवित माता–पिता, दादा–दादी और नाना–नानी आदि हैं वही हमारे ''पितर'' हैं। उन्हें ''स्वधा'' कर्म करते हुए तृप्त करो।

इस तरह ऋत्विज् को कर्म करने से पूर्व पहले देवों और पितरों को प्रसन्न करना चाहिए, तभी कर्म की सार्थकता होती है।

फिर आगे और मन्त्रपूर्वक प्रार्थना करें –

''सुयमे मे भूयास्तमि''ति।। १–४–५–१

आप दोनों मेरे लिए ''सुयम'' अर्थात् नियम में रहने वाले हो। परमपिता परमात्मा की कृपा से मेरे लिए ये दोनों सुयम अर्थात् उठाये जाने योग्य, सँभालने योग्य हो। मैं इन्हें सँभाल सकूँ। ऐसा मुझे सामर्थ्य प्रदान करो। मुझे देवों और पितरों की आज्ञा में रहने का सामर्थ्य प्रदान करो। हम इनकी पूजा और सेवा करके इन्हें प्रसन्न व तृप्त करना चाहते हैं।

अब आगे पुनः प्रार्थना करता है–

''स्कन्नमद्य देवेभ्य आज्यं सम्भ्रियासमि'' ति।। १–४–५–१

''मैं आज देवों के लिए न फैलने वाला घृत अर्पण करूँ''। इसके कहने का तात्पर्य है कि मैं आज देवों के लिए क्षोभ–रहित अर्थात् पूर्ण यज्ञ को करूँ। मेरे यज्ञ में किसी तरह की कोई त्रुटि नहीं रहनी चाहिए। घृत को बड़ी श्रद्धा से यज्ञाग्नि में चढ़ाना चाहिए, तभी वह सीधा देवों को प्राप्त हो सकेगा। जो श्रद्धाविहीन यज्ञ को करता है उसका घी वहीं बिखर जाता है। अग्नि प्रदीप्त होने के स्थान पर वह अग्नि सधूम होकर वहीं बिखर जाती है। ऐसा यज्ञ उपयुक्त अर्थात् लाभकारी नहीं हुआ करता यही अभिप्राय इस कण्डिका का है।

अब आगे यज्ञ की पवित्रता की व्यवस्था देते हुए याज्ञवल्क्य महर्षि पुनः कहते हैं–

''अङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषम्।। यजुः–२–८।। १–४–५–२

अर्थात् ''हे विष्णु! मैं अपने पैर से आपके साथ अत्याचार न करूँ''। अर्थात् यज्ञ के प्रति किसी तरह की आज्ञा का भंग न करूँ। क्योंकि यज्ञ ही विष्णु है। यज्ञ का तिरस्कार करना मानो विष्णु का तिरस्कार करना है।

लेखक ने स्वयं यज्ञ के पश्चात्– आर्यवीर दलों के तथाकथित युवकों को यज्ञकुण्ड को पैर से ठोकर मारते हुए, यज्ञकुण्ड को लाँघते हुए देखा है तथा कई परिवारों में यज्ञकुण्ड को जूते खोलने के स्थान पर रखते हुए देखा है। प्रायः घरों में

उपरि मञ्जिल के लिए जो सीढ़ियाँ बनाई गई हैं उसके नीचे यज्ञ कुण्ड को रखने का स्थान दिया जाता है। यज्ञ के पश्चात् हम भजन भी गाते हैं –

''यज्ञरूप प्रभो हमारे भाव उज्ज्वल कीजिए''

परन्तु ऐसा करके हम अपने ही भावों का कलुषित कर देते हैं। यज्ञ के प्रति ऐसा व्यवहार न करते हुए हमें बड़ी आस्तकिता के साथ यज्ञ को करना चाहिए। यज्ञ का अपमान विष्णु का अपमान होता है। उससे हमें बचना चाहिए। यज्ञ विष्णु रूप है बड़ी शान्ति के साथ प्रार्थना की जाती है और प्रार्थना करनी भी चाहिए।

अब आगे प्रार्थना इस तरह से करनी चाहिए–

वसुमतीमग्ने ते छायामुपस्थेषम्।। यजुः २–८।। १–४–५–२

अर्थात् ''हे अग्नि! मैं तेरी वसुमती छाया में आ जाऊँ'' तेरी छाया मेरे लिए सदैव धनवर्षिणी हो। हम सदैव तेरी मंगलमयी छाया में सुरक्षित रहें। हम प्रार्थना भी करते हैं–

''प्रशिषं यस्य देवाः यस्य छाया अमृतम्'' यजुः २५–१३

अर्थात् हम देवों की आज्ञा में रह कर अमृत को भोगने वाले बनें। तात्पर्य यह है कि हम प्रभु की छत्र–छाया में रह कर उसके आदेशों की पालना करते हुए सुख को भोगने वाले बनें। अतः प्रार्थना करो – ''हे अग्नि! हम तेरी साधु अर्थात् मंगलमयी छाया में रहने वाले बनें।

अब पुनः महत्त्वपूर्ण प्रार्थना करता है –

''विष्णोः स्थानमसि'' यजुः २–८।। १–४–५–३

जिस स्थान पर हम यज्ञ करते हैं वह स्थान किसी और का नहीं, विष्णु का हो जाता है। क्योंकि विष्णु ही यज्ञ है। वह उसी के समीप खड़ा होकर घोषणा भी करता है – ''विष्णो स्थानमसि'' अब यह स्थान विष्णु का है।

अब वह फिर प्रार्थना करता है–

''इत इन्द्रो वीर्यमकृणोत्'' यजुः २–८।। १–४–५–३

''यहाँ इन्द्र ने पराक्रम किया''। इन्द्र ने यहाँ खड़े होकर दक्षिण से विघ्नकारी राक्षसों को दूर किया था। अतः कहता है ''इत इन्द्रो वीर्यमकृणोत्'' इति। दक्षिण दिशा

अन्धकार की है। अन्धकार में ही हिंसक राक्षसों का छिपना हो सकता है। इसीलिए दक्षिण में खड़े होकर विध्वंसकारी राक्षसों का विनाश हमें करना चाहिए।

अब वह फिर कहता है –

''उर्ध्वोऽध्वर आस्थात्।। यजुः २–८।। १–४–५–३

अर्थात् अध्वर ऊँचा उठो''। ''अध्वर'' नाम यज्ञ का है। इसीलिए इसका तात्पर्य है कि यज्ञ ऊँचा उठा अर्थात् यज्ञ भली प्रकार सम्पन्न हुआ।

जो यज्ञ विधि और क्रिया के अनुसार बड़ी श्रद्धा व समर्पण भाव से किया जाता है वही यज्ञ ऊँचा उठता है। वही यज्ञ यजमान के लिए फलदायक भी होता है, उसी की लोग प्रशंसा भी करते हैं।

अब आगे पुनः कहता है–

''अग्ने वेर्होत्रम् वेर्दूत्यम्।। यजुः २–९।। १–४–५–४

हे अग्नि! होता का और दूत का काम समझो अर्थात् जानो। यहाँ ''वेः'' का अर्थ समझना होता है। यह अग्नि देवों का होता भी है और दूत भी है। इसके कहने का तात्पर्य है कि हे अग्नि ! तुम होता का और दूत का दोनों का काम समझ लो।

यहाँ इस बात को समझना है कि अग्नि हमारा होता भी है। क्योंकि वह हमारे हव्य को देवों तक पहुँचाने के लिए ढोता है इसीलिए वह ''होता'' भी है और वह ''दूत'' भी है। हमारी भावनाओं को, कामनाओं को तथा पुकार को ईश्वर तक पहुँचाने का एक मात्र साधन यह अग्नि ही है। अतः इसे ''दूत'' भी माना गया है। इसीलिए अग्नि को होता और दूत माना गया है।

अब आगे प्रार्थना करता है–

''अवतां त्वां द्यावापृथिवी''।।

''अव त्वं द्यावापृथिवी''।। यजुः २–९।। १–४–५–४

''द्यौलोक और पृथिवीलोक तेरी रक्षा करें''।

तू द्यौलोक और पृथिवीलोक की रक्षा कर।।''

यजमान जब यज्ञ करता है तो वह यज्ञ पृथिवीलोक से द्यौलोक तक जाता है। अतः यह समझ लेना चाहिए कि उस यज्ञ से जो पृथिवी पर किया है दोनों सुरक्षित हो जाते हैं। इतना बड़ा महत्त्व इस यज्ञ का है।

द्यावापृथिवी भी हमारी रक्षा करते हैं। क्योंकि यज्ञ के पश्चात् द्यौलोक से वर्षा होती है। वर्षा से पृथिवी उपजाऊ हो जाती है। विविध अन्नौषधियाँ पृथिवी पर उपजती हैं और प्राणी मात्र के कल्याण के लिए वे पर्याप्त होती हैं। अतः वे द्यावापृथिवी हमारी रक्षा करते हैं–

आगे फिर वह प्रार्थना करता है–

''स्विष्टकृद् देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषा भूत् स्वाहा''

यजुः २–९ ।। १–४–५–४

''हे इन्द्र ! घी हवि से देवों के लिए स्विष्टकृत् आहुति हो, स्वाहा'' अर्थात् हम इस बात को शपथ पूर्वक कहते हैं ''स्वाहा'' से यही अभिप्राय है।

यहाँ इन्द्र यज्ञ का देवता है, इसीलिए यहाँ कहा गया है – ''इन्द्र आज्येन''। हमारे यज्ञ में सफलता ही सफलता हो। हमारी इष्ट कामनायें तथा इष्ट संकल्प पूर्ण हों। इसीलिए यज्ञ की पूर्णता में यह स्विष्टकृत आहुति दी जाती है और वह भी घृत से। महर्षि दयानन्द सरस्वती के मतानुसार भात या घृत से ही स्विष्टकृत् आहुति चढ़ाने का विधान है। भात न हो तो घृत से ही यह स्विष्टकृत् आहुति चढ़ानी चाहिए। कई लोगों को हमने लड्डू से, बर्फी से, खीलों से तथा गुड़–शक्करादि से स्विष्टकृत् आहुति चढ़ाते हुए देखा है, जो सर्वथा विधिहीन है, ऐसा नहीं करना चाहिए। मीठा भात जो शक्कर से बना हो, घृत सहित स्विष्टकृद् आहुति देकर ही यज्ञ को सम्पन्न करना चाहिए। यह यज्ञ उस परमपिता परमात्मा का ही है तथा जिस स्थान पर इस यज्ञ को किया जाता है वह स्थान भी ''विष्णोः स्थानमसि'' हो जाता है।

* * *

मन और वाणी का विवाद

''सर्वे महत्त्वमिच्छन्ति'' इस वचनानुसार इस संसार में देखा गया है कि बड़प्पन की भूख सबको ही सताती रहती है। कई बार इस बड़प्पन के लिए आपस में विवाद भी हो जाता है। अपने आपको सभी महान् समझते हैं। छोटापन कोई भी स्वीकार करने को तैयार नहीं है।

यही विवाद मन और वाणी में भी परस्पर हुआ जिसका बखान महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपने अमूल्य ग्रन्थ ''शतपथ ब्राह्मण'' में इस तरह से किया है–

तद् ह मन उवाच।। १–४–५–९

एक बार मन और वाणी में बड़प्पन के लिए विवाद हो गया। मन और वाणी दोनों कहने लगे मैं भद्र हूँ, मैं भद्र हूँ''। इस विवाद में सर्वप्रथम मन बोला–

अहम् एव त्वत् श्रेयः अस्मि न वै मया
त्वं किंचन अनभिगतं वदसि, सा यत् मम
त्वं कृतानुकरा अनुवर्त्मा असि अहम् एव त्वत्
श्रेयः अस्मी''ति।। १–४–५–९

अब मन ने कहना प्रारम्भ किया – देख मैं ही तुझसे बड़ा हूँ। तू कोई ऐसी बात नहीं बोलती जिसका मुझे ज्ञान न हो। तू सदैव मेरे ज्ञान का अनुकरण करती है। इसीलिए तुझ से मैं बड़ा हूँ। यहाँ पर मन ने अपना बड़प्पन स्थापित कर दिया क्योंकि वाणी भी तो वास्तव में मन का ही अनुसरण करती है। कहावत भी है – ''जैसा खाओगे अन्न वैसा होता मन, जैसा पिओगे पानी वैसी होगी वाणी''। अन्न और पानी का प्रभाव मन पर ही पड़ता है और वाणी मन का अनुसरण करती है तदनुरूप ही वह वाक्य का प्रयोग करती है। अतः मन का बड़प्पन यहाँ कायम रहता है।

अब आगे वाणी अपना बड़प्पन मन के सामने रखती है–

> अथ ह वाग् उवाच। ''अहम् एव त्वत् श्रेयसी अस्मि
> यद् वै त्वं वेत्थ अहं तद् विज्ञापयामि अहम्
> संज्ञापयामी''ति।। १–४–५–१०

अब वाणी ने बोलना प्रारम्भ किया–''मैं ही तुझ से बड़ी हूँ। क्योंकि जो कुछ तू जानता है उसे मैं प्रकाशित करती हूँ और मैं ही उसे सम्यक्तया जानती भी हूँ''।

मनोगत भावों को प्रकाशित करने वाली वाणी ही होती है। उसके बिना हम किसी के भी मनोगत भावों को नहीं जान सकते। अतः यहाँ वाणी ने अपने बड़प्पन को साबित कर दिया कि मैं ही बड़ी हूँ।

इन दोनों का विवाद जब किसी निष्कर्ष पर नहीं आया तो दोनों मिल कर अपने–अपने बड़प्पन के निर्णय के लिए प्रजापति के पास जाते हैं और प्रजापति के दरबार में न्यायव्यवस्था कराने पहुँचते हैं। दोनों अपना–अपना पक्ष प्रजापति के समक्ष रखते हैं। तब प्रजापति बोले –

> ''मन एव त्वत् श्रेयः, मनसः वै त्वम् कृतानुकरा
> अनुवर्त्मासि श्रेयसो वै पापीयान् कृतानुकरः
> अनुवर्त्मा भवती''ति।। १–४–५–११

यहाँ प्रजापति ने मन के अनुरूप निश्चय किया और कहा–मन ही तुझसे श्रेष्ठ है, क्योंकि तू मन का ही अनुसरण करती है और उसी के मार्ग पर चलती है। निश्चय करके वह छोटा होता है जो बड़ों का अनुकरण करता है और उसके मार्ग पर चलता हो।

यहाँ मन का अनुसरण करने के कारण प्रजापति ने वाणी को मन से छोटा कह कर अपनी न्यायव्यवस्था सुना दी। वाणी भी प्रजापति की इस न्याय व्यवस्था से बड़ी खिन्न हो गई। वह इतनी खिन्न हो गई कि उसका गर्भपात हो गया। वह खिन्न होकर प्रजापति से बोली –

> ''अहव्यवाट् एव अहं तुभ्यं भूयासं यां मा परावोच'' इति।। १–४–५–१२

अर्थात् ''जा मैं तेरे लिए कभी भी हवि का वहन नहीं करूँगी क्योंकि तूने मुझे दुत्कार दिया है''। इसीलिए यज्ञ में जो कुछ प्रजापति के लिए किया जाता है वह मौन होकर पढ़ा जाता है। क्योंकि वाणी प्रजापति के लिए हवि की वाहक नहीं होती।

गर्भपात से यहाँ अभिप्राय यह है कि अनुचित स्थिति में किया गया गर्भाधान जैसे कुछ समय बाद विकृत अवस्था में पतित हो जाता है, उसी तरह से अनर्गल वार्तालाप से किया गया निर्णय भी विद्वज्जनों की संगोष्ठी में समाप्त हो जाता है।

मनुष्य में मण्डली में बैठकर अपने–आप को बड़ा बनाने की और शेखी मारने की एक उतावलेपन की प्रवृत्ति होती है। वही उससे रहस्योद्घाटन करवाती है। इस प्रकार के मनुष्य को शतपथकार ने यह घृणा दिलाई है कि तुम्हारा कार्य ऐसा ही घृणित और पतित है जैसे रजस्वला से गमन करना। जैसे रजस्वला से गमन अत्यन्त कामातुर मनुष्य करता है। इसी प्रकार यह कार्य बड़प्पन की प्राप्ति के लिए आतुर मनुष्य करते हैं, बड़प्पन की आतुरता इतनी बुरी है जितनी कामातुरता।

अतः व्यवस्था में रह कर ही हमें यज्ञ करना चाहिए। शतपथ वचनानुसार ही स्विष्टकृत् के बाद प्रजापति की आहुति मौन होकर दी जाती है।

* * *

प्रवराश्रावण विधि

(चुने गए होता की शपथें)

यज्ञ के विस्तार के लिए ''अध्वर्यु'' और ''होता''– ये दोनों मुख्य पात्र के रूप में जाने जाते हैं। इनमें होता का चयन बड़ी कुशलता से करना चाहिए। क्योंकि यजमान की भावनाओं को, उसकी कामनाओं को तथा संकल्पों को उसने ढोना है। ये होता दोनों तरह के होते हैं – ''दैविक भी और भौतिक भी''। दोनों के समक्ष ही यज्ञ के प्रयोजन को हमने रखना है। बड़े स्वाभिमान से सामने कहता है ''श्रौषट्'' अर्थात् किस प्रयोजन से इस यज्ञ को किया जा रहा है उसको आप सुनो। जब इस तरह सुनाया जायेगा तभी होता कहेगा ''श्रौषट्'' मैंने सुन लिया, तुम्हारी भावनाओं को मैंने जान लिया। इसी तरह के होता का चुनाव यजमान को करना है।

कई बार देखा गया है कि चुना गया व्यक्ति अपने वायदों से बदल जाता है। उन वायदों को वह भूल जाता है कि मुझे जनता का प्रतिनिधि बनाकर चुन कर भेजा है। वह संविधान की शपथें भी भूल जाता है। तभी जनता से उसका सम्बन्ध टूट जाता है। परन्तु यहाँ ऐसा नहीं है। यहाँ तो नियुक्त किये गये प्रतिनिधि से प्रार्थना की जाती है कि अपने–अपने उत्तरदायित्व को समझना है, तथा जो शपथ आपने ग्रहण की है, उसी का नाम 'प्रवराश्रावण' है अर्थात् होता के प्रवर–वरण किए जाने के समय आश्रावण–सारी सभा को सावधान होकर सुनो इस प्रकार कहना।

अध्वर्यु द्वारा होता के अपने पद पर प्रतिष्ठित होने पर उन्हें याद दिलाया जाता है कि आपने अपने पदानुरूप कर्त्तव्यों का पालन करना है। इसीलिए इस पद को स्वीकार की घोषणा करो कि आप हमारे द्वारा वरण करने पर इस पद पर प्रतिष्ठित होते हैं। अतः इसी को ''प्रवराश्रावण'' कहते हैं।

इस पद पर योग्य व्यक्ति का ही चयन होना चाहिए। बहुधा हमने देखा है कि अज्ञानी पुरोहित द्वारा जन्म–दिवस पर मरण–दिवस के और मरण–दिवस पर

जन्म–दिवस के मन्त्रों का पाठ हो रहा है। ऐसी स्थिति निन्दनीय है, इससे बचना चाहिए। इसीलिए महर्षि याज्ञवल्क्य ''प्रवराश्रावण'' विधि का विधान करते हुए लिखते हैं –

स वै प्रवरायाश्रावयति। तद् यत् प्रवराय आश्रावयति
यज्ञो वा आश्रावणं यज्ञं अभिव्याहृत्य अथ होतारं
प्रवृणा इति तस्मात् प्रवराय आश्रावयति।। १–५–१–१

यज्ञ प्रारम्भ करने से पूर्व प्रवर के लिए बुलाता है। होता का जो यज्ञ में ''वरण'' किया जाता है उसे ही ''वरण'' कहते हैं। यह जो प्रवर के लिए घोषणा करता है ''अस्तु श्रौषट्'' अर्थात् सुनो इस प्रकार की आज्ञा देना, यह सुनाना ही तो यज्ञ है। इस यज्ञ के प्रति घोषणा करके ही ''होता'' का वरण करने की जो भावना हृदय में जागरित होती है, वही प्रवर का आश्रावण होता है।

विवाह संस्कार के समय देखा होगा कि प्रथम विवाह की घोषणा की जाती है, तब वर का वरण किया जाता है। तभी विवाहादि कर्म सबके सामने किए जाते हैं। फिर ही उन्हें धर्म का प्रतीक माना जाता है। उसका महत्त्व बढ़ जाता है। अतः सर्वप्रथम हमने यज्ञ की घोषणा करनी है, जिससे यज्ञ का विस्तार हो सके। तब हमने सुयोग्य होता का वरण करना है, यही प्रवर आश्रावण है।

यहाँ होता का वरण मैंने कहा, तूने कहा के आधार पर नहीं किया जाता, उसके चयन का अधिकार तो अध्वर्यु को है। अध्वर्यु भी ऐसे व्यक्ति का चयन करता है जिसे सम्पूर्ण विधि का ज्ञान हो। अतः यज्ञ को ही आगे करके यज्ञ के समिन्धन का आधार जो समिधाओं का गट्ठर है उसका संस्पर्श उसके हाथ से करवाया जाता है। इसका अभिप्राय होता है कि अब सारे यज्ञ का उत्तरदायित्व आपका है।

यहाँ पर अध्वर्यु द्वारा होता का वरण करना है और होता को विधि के अनुसार यज्ञ का निर्वाह करना है। यदि दोनों ऐसा नहीं करते तो याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

स यद् वा अनारभ्य यज्ञम् अध्वर्युः आश्रावयेद्
वेपनो वा ह स्याद् अन्यां वा आर्तिम् आर्च्छेत्।। १–५–१–२

अर्थात् यदि यज्ञ का स्पर्श किये बिना अध्वर्यु आश्रावण कर दें तो वह कम्पन के रोग से युक्त हो जायेगा अथवा उस पर अन्य कोई विपत्ति आन पड़ेगी। तात्पर्य यह है कि होता का वरण उन बन्धनों द्वारा होना चाहिए जो इसके लिए नियत है। क्योंकि होता के ऊपर ही यज्ञ का भार हुआ करता है। अध्वर्यु और होता दोनों को ही विधि के नियमों की अनुपालना करनी है। यदि ऐसा नहीं होता तो उनका रोग ग्रस्त होना सुनिश्चित है।

प्रजा के समक्ष जिन नियमों के पालन की शपथ ली गई है, जिसकी प्रजा में घोषणा भी की गई यदि उनका पालन यज्ञ विधि में नहीं होता तो उनका हृदय सर्वथा काँपता ही रहेगा अथवा अन्य किसी दण्ड का वह भागी होगा। अतः इस पद पर अधिकारी को ही नियुक्त होना चाहिए अन्यथा विद्वानों के मध्य किये जाने वाले इस तरह के यज्ञ में उनके शरीर में अल्पज्ञता के भय के कारण कँपकँपी लगी रहेगी अथवा विद्वत्समाज में दण्ड का भागी बनना पड़ेगा। यही बात कहने का याज्ञवल्क्य का तात्पर्य था।

आगे वरण करने की व्यवस्था का उल्लेख करते हुए विधि–हीन क्रियाओं का निषेध करते हुए बताया है कि कुछ लोग वेदि पर बिछे हुए कुशाओं से एक कुशा को लेकर अथवा एक समिधा को लेकर के आश्रावण कर देते हैं। वे उनको भी यज्ञ का अंग समझते हैं। उनमें से किसी एक का स्पर्श करके घोषणा कर देते हैं, किन्तु उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए। क्योंकि उनके द्वारा तो अग्नि की राख हटाई जाती है। अतः जिससे यज्ञ की समिधाएँ बँधी होती हैं उसी रस्सी का स्पर्श करके ही आश्रावण करें क्योंकि उसी से अग्नि का समिन्धन किया जाता है। इस लिए वह यज्ञ को लेकर ही बुलाता है। अतः समिधाओं की रस्सी स्पर्श करके ही बुलाना चाहिए। यह प्रतीक है, संगठन का। जहाँ संगठन है वहाँ ही यज्ञ है। अतः एक–एक नियम का पालन होना चाहिए। जिस विधि ने उपस्थित होना है उस विधि का पूरा पालन होना चाहिए। इसीलिए बन्धन की रस्सी को छूकर आश्रावण किया जाता है।

अब आश्रावण के पश्चात् ध्यान से सुनो की घोषणा करनी है। तदनन्तर जो देवों का होता अग्नि है उसका वरण करना है। इस तरह से ''अग्नि'' और ''देवों'' को प्रसन्न किया जाता है क्योंकि हव्य देवों तक पहुँचाने का काम अग्नि द्वारा ही किया

जाता है। इस विधि में जब अग्नि का वरण करता है तो वह अग्नि का आदर करता है और अब देवों का होता कहा तो देवताओं को प्रसन्न किया। यहाँ अग्नि के होता के रूप में ''अग्नि'' और ''देव'' दोनों ही प्रसन्न हो जाते हैं। क्योंकि ''अग्नि'' भी देव है। यही बात याज्ञवल्क्य भी इस तरह से कहते हैं–

''अग्निर्देवो दैव्यहोते''ति।। १–५–१–५

यहाँ अग्नि ही देवों का होता है इसीलिए कहा ''अग्नि देव – देवों का होता''। यहाँ होता ने सर्वप्रथम अग्नि का नाम लेकर अपनी असमर्थता को अभिव्यक्त किया। फिर देवों की दिव्य शक्तियों के सामने अपनी तुच्छता की अभिव्यक्ति की है।

होता को ''अग्नि'' को ही ''होता'' मानना चाहिए क्योंकि वह ही अग्रणी है। वह परमात्मा ही ब्रह्माण्ड की दिव्य शक्तियों का ''होता'' है। अब आगे प्रार्थना होता से इस तरह करनी चाहिए–

''देवान् यक्षद् विद्वान् चिकित्वान्'' इति।। १–५–१–६

हे अग्नि देव! तू सबसे बड़ा बुद्धिमान् है, सब देवों को जानने वाला है तथा सबके कष्टों को दूर करने वाला भी है। देवों को जानते हुए इस हमारे यज्ञ को करें। इसका तात्पर्य है कि जैसे परमपिता परमात्मा अग्नि देवों को जानता है और सबका सम्मान भी करता है, होता भी विधिवत् नियमों को पालन करते हुए हमारे यज्ञ का अनुष्ठान करे।

हमारा होता भी अग्नि की तरह दिव्य गुणों से युक्त होना चाहिए। तभी हमारा यज्ञ चमकेगा। यज्ञ को चमकाने के लिए होता का पूर्ण विद्वान् होना अनिवार्य है। क्योंकि विद्वान् होता ही विधिवत् यज्ञ अनुष्ठान करने में समर्थ होता है।

यह यज्ञ कैसे करना है। याज्ञवल्क्य इसका उल्लेख भी करते हुए लिखते हैं–

''मनुष्वद् भरतवदि''ति।। १–५–१–७

अर्थात् यज्ञ करो तो ''मनु के समान, भरत के समान'' क्योंकि सर्वप्रथम मनु ने ही यज्ञ किया था और आज तक यह प्रजा उसी का अनुकरण करती आ रही है। इसीलिए कहा मनु की तरह। इसका तात्पर्य है कि हमें वेदानुसार ''सप्तहोता'' होकर इस यज्ञ को करना है तभी हमें यज्ञ का लाभ प्राप्त होगा। वे सप्तहोता हमारे शरीर के अन्दर

विद्यमान हैं, वे हैं – पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि और मन। हमने इन सातों को ही सप्त होता के रूप में सामने रख कर यज्ञ करना है। तात्पर्य यही है जो मन से किया जाता है वही यज्ञ ''मनुष्वद्'' कहलाता है। सप्तहोता का अनुकरण करते हुए मननशील विद्वान् होता का हमें अनुसरण कहना होगा तभी हमारा यज्ञ भी ''मनुष्वद्'' कहलायेगा। वास्तव में यज्ञ है ही मन का कर्म।

आगे ''भरतवद्'' कहा। वास्तव में अग्नि ही हव्य को देवों तक पहुँचाता है। इसीलिए अग्नि का नाम ''भरत'' है। यह होता भी प्राण बनकर प्रजा को पालता है, इसीलिए कहा जाता है ''भरतवद्''। जो अपने कर्म से परिवार को भरता हो वही ''भरत'' होता है। अतः होता को भी चाहिए कि जिस कुटुम्ब का वह होता है उसे ''भरत'' की तरह यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए।

अब ''अग्नि'' को ही आर्ष होता के रूप में वरण करता है, जिसका तात्पर्य यह हुआ कि हमारा होता भी ऋषि परम्परा से विद्वान् हो तथा अग्नि की तरह तेजस्वी हो तभी हमारा यह यज्ञ महान् वीर्यवान् शक्तिशाली होता है।

इस यज्ञ की परम्परा होनी चाहिए। इसका कहीं भी तन्तु विच्छेद नहीं होना चाहिए। होता का कर्त्तव्य बनता है कि वह घोषणा करे कि सुनो ''जैसे तुम्हारे परदादा ने, फिर दादा ने, फिर पिता ने यज्ञ किया उसी तरह पुत्र को, पौत्र को भी यज्ञ करना चाहिए, यह परम्परा बनी रहनी चाहिए।

वह आर्षेय होता ''ब्रह्मण्यवत्'' अर्थात् ब्राह्मण की तरह तेजस्वी होना चाहिए। यहाँ ब्राह्मण को ही ''अग्नि'' माना गया है। क्योंकि वही अग्नि–ब्राह्मण ''आचवक्षत्'' जिन–जिन देवताओं को यज्ञ में बुलाना है उन्हें लाने में समर्थ है। विद्वान् ब्राह्मण ही अन्य विद्वानों को यज्ञ में बुलाने में समर्थ होता है, इसीलिए याज्ञवल्क्य ने आगे कहा है–

''ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितार'' इति।। १–५–१–१२

ब्राह्मण ही इस यज्ञ की रक्षा करने वाले हुआ करते हैं। वही ब्राह्मण यज्ञ के संरक्षक होते हैं, जो वेद के विद्वान् होते हैं। वही यज्ञ को उत्पन्न करते हैं इसीलिए कहा जाता है कि – ''ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितार'' इति।

यजमान को इस बात का ज्ञान होना अनिवार्य है कि यज्ञ का ''होता'' ब्राह्मण होना चाहिए। यहाँ महर्षि याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मण की सुन्दर परिभाषा देते हुए लिखा– ''ये

अनुचाना एते'' अर्थात् जो वेद–वेदाङ्गों के ज्ञाता हों वही ब्राह्मण कहलाते हैं। वेद–वेदाङ्ग का ज्ञाता इसीलिए कहा, क्योंकि यज्ञ का विस्तार, यज्ञ की रक्षा तथा यज्ञ की उत्पत्ति बिना वेद मन्त्रों के नहीं होती। अतः उसी को यज्ञ का ''होता'' चुनना जो वेद का ज्ञाता ब्राह्मण हो।

फिर ''होता'' मनुष्य होना चाहिए। इस एक बड़ी प्रतिज्ञा को याज्ञवल्क्य लिखते हुए कहते हैं–

''असौ मनुष्य'' इति।। १–५–१–१३

उसका मनुष्य होना अनिवार्य है, क्योंकि जैसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड यज्ञ का परमाग्नि परमात्मा होता है, उसी प्रकार अपने यज्ञ में मनुष्य होता को वरण करते हुए नाम लेकर कहना चाहिए कि आज उस होता को साक्षी करके हम इस ''मानुष'' होता का वरण करते हैं। जिससे कि ''यथाऽनुष्ठया'' अर्थात् विधिपूर्वक देवों के लिए यज्ञ का कार्य हो सके। विधि–पूर्वक देवों के लिए वषट्कार करें। विधिपूर्वक वह देवों तक हवि को पहुँचाए, कहीं भी उसे चूकना नहीं चाहिए। इसीलिए उसे देवता का स्मरण करना चाहिए। वह होता अपने इष्ट देवता का स्मरण करता है। वह जाप करता है। वह जिस मन्त्र का जाप करता है उसे पूरे का पूरा यहाँ उद्धृत किया जाता है, इस की व्याख्या कण्डिकानुसार पृथक्–२ आगे विस्तृत रूप से की जायेगी। जाप का वह मन्त्र इस तरह से है–

''ओ३म् एतत् त्वा देव सवितर्वृणतेऽग्नि होत्राय सह पित्रा
वैश्वानरेणाके पूषन् बृहस्पते प्र च वद प्र च यज वसूनां रातौ
स्यामानेहसः जुष्टामद्य देवेभ्यो वाचमुद्यास जुष्टां ब्रह्मभ्यो
जुष्टां नराशंसाय यदद्य होतृवर्ये जिह्मं चक्षुः परापतत् अग्नि–
ष्टत् पुनराभ्रियाज्जातवेदा विचर्षणिः।।''

वैसे ये मन्त्र संहिताऐं कहीं भी उपलब्ध नहीं हैं परन्तु महर्षि याज्ञवल्क्य द्वारा अपने ग्रन्थ में कथित हैं। अतः मन्त्रानुगत स्वीकार करते हुए, इस सन्दर्भ में प्रथम कण्डिका जो निम्नलिखित है उसकी व्याख्या की जायेगी–

''एतत् त्वा देव सवितः वृणत'' इति।। १–५–१–१५

वह यह जप करता है – ''हे देव सविता! हम तुझ को वरण करते हैं।'' यहाँ सबसे बड़ा देवता सविता है, सम्पूर्ण देवों के लिए इस तरह का कार्य करो। इस तरह की प्रेरणा देने वाला वही सविता देव है। इसीलिए होता को उसी का स्मरण करना चाहिए। इस संसार में छाये अज्ञान के अन्धकार का निवारण करना 'होता' का कार्य है। अतः वह कहता है ''अग्नि होत्राय'' यहाँ अग्नि का नाम स्मरण करके वह ''अग्नि'' को प्रसन्न करता है और जब आगे ''देवानां होता'' अर्थात् ''देवताओं का होता'' इस तरह कहा तो देवताओं को प्रसन्न करता है। इसलिए होता ब्राह्मण को ज्ञात है कि विश्व में भगवान् ही स्वयं सविता, होता, अध्वर्यु आदि सब कुछ है। अतः वह प्रार्थना करता है – सकलैश्वर्य प्रदातृ प्रभो! आप ही इस यज्ञ के होता हैं, मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ। आप की दया होगी, कृपा होगी तो यज्ञ में हमें सफलता प्राप्त होगी।

आगे फिर वह शपथ लेता है–

''सह पित्रा वैश्वानरेणे''ति।। १–५–१–१६

हे सविता! आपके पिता वैश्वानर के सहित अग्नि को आज सब मिलकर होता बनाते हैं। इसीलिए कहा – ''वैश्वानर पिता के साथ''। यहाँ संवत्सर का नाम ही पिता वैश्वानर प्रजापति है। इसलिए होता संवत्सर प्रजापति के सामने अपना छोटापन अभिव्यक्त करता है। इसीलिए प्रार्थना करता है कि संवत्सर के रूप में अपने यज्ञ के नियम बनाने वाला परमेश्वर मेरा गुरु है। वस्तुतः वही होता है। मैं तो निमत्तमात्र हूँ। अतः प्रार्थना करता है–

''अग्ने पूषन् बृहस्पते प्र च वद प्र च यजे''ति।। १–५–१–१६

हे अग्ने! हे पूषन्! हे बृहस्पते! मेरे द्वारा अर्थात् मेरे स्थान में आप ही बोलिए, आप ही यज्ञ कीजिए। इस प्रकार बोलने से ही यज्ञ सम्पन्न होता है। इस तरह से इन देवताओं को प्रसन्न करता है और बोलता है– ''तुम ही बोलो, तुम ही यज्ञ करो। मैं तो निमत्तमात्र हूँ। यज्ञ ईश्वर का ही होता है अतः इस यज्ञ को उसी को सौंप देना चाहिए।

अब आगे शपथ लेता है–

''वसूनां रातौ स्याम रुद्राणामुर्व्यायां स्वादित्याः अदितये स्यामानेहसः'' ।। १–५–१–१७

वसुओं की कृपा के पात्र हम होवें। रुद्रों का वैभव हमें प्राप्त हो अर्थात् उनकी हिंसा शक्ति में रहने वाले हों। रुद्रों का भय सदैव हम पर बना रहे जिससे कि हम पापाचार से बच सकें। अदिति अर्थात् पूर्णता के लिए और स्वतन्त्रता के लिए हम आदित्यों के प्रिय हों। वसु, रुद्र और आदित्य–ये तीन देवता हैं। हम इन देवताओं के संरक्षण में इस यज्ञ को करने वाले बनें। जब भी हम यज्ञ होता के साथ सम्पन्न करते हैं तो ये तीनों देवता हमारे यज्ञ के संरक्षक होते हैं।

अब वह प्रार्थना करता है –

''जुष्टाम् अद्य देवेभ्यो वाचम् उद्यासम्'' ।। १–५–१–१८

''मैं आज इस यज्ञ के समय देवताओं की प्रिय वाणी का ही प्रयोग करूँ।'' देवताओं की जो प्रिय वाणी है उसी का प्रयोग करूँ, वही बोलूँ। हमें भी यज्ञ करते हुए वेदवाणी का ही प्रयोग करना चाहिए क्योंकि देवों को वही प्रिय है, लौकिक वाणी का प्रयोग करना पाप है। देवों के लिए वेदवाणी का प्रयोग करना समृद्धि का कारण होता है। आगे इसी बात की प्रार्थना भी है–

''जुष्टां ब्रह्मभ्यः'' । १–५–१–१९

''यज्ञ में ऐसी वाणी बोलूँ जो ब्राह्मणों को प्रिय हो'' । देवताओं के लिए जो ब्रह्मवाणी है उसी को मैं बोलूँ। क्योंकि ब्राह्मणों के प्रति बोली गई वही वाणी समृद्धि का कारण होती है। यज्ञ में समागत ब्राह्मणों के प्रति प्रीतिकर बात कहना बड़ी समृद्धि का प्रतीक है। अपने आपको विनम्र रखना एक बड़ी बात है। स्वाभिमान होना चाहिए अभिमान नहीं।

अन्त की शपथ महत्त्वपूर्ण है–

''जुष्टां नराशंसाये'' ति।। १–५–१–२०

''मैं ऐसी वाणी का प्रयोग करूँ जो नराशंस के लिए प्रिय हो'' । प्रजा ही यहाँ नर है। अतः वह समस्त प्रजा के लिए कहता है– ''जुष्टां नराशंसाय'' इति। ऐसा कहने से ही समृद्धि होती है।

होता का कर्त्तव्य है कि इस यज्ञ को सर्व हिताय सम्पन्न करे। ऐसी विधि से करे कि जो इसके महत्त्व को जाने अथवा न जाने उन सबके मुख से ''बहुत अच्छा, बहुत अच्छा'' इस तरह की प्रशंसा निकलनी चाहिए। तभी यह यज्ञ नराशंसाय होगा।

होता का पद यज्ञ में महत्त्वपूर्ण होता है। मनुष्य के नाते अज्ञानतावश, प्रमादवश कुछ न कुछ त्रुटियाँ हो ही जाती हैं। अतः वह प्रार्थना करता है–

''यद् अद्य होतृवर्ये जिह्मं चक्षु' परापतत्।
अग्निष्टत् पुनराभ्रियाज्जातवेदा विचर्षणि''रिति।। १–५–१–२०

अर्थात् जो कुछ होता की टेढ़ी निगाह से छूट जाये उस को यह अग्नि वापस लावे। यहाँ तात्पर्य है कि हममें सर्वप्रथम ''अग्नि'' को ही होता माना है। जो कुछ होता द्वारा छूट जाता है उस अपराध को क्षमा करना व उस त्रुटि को पूर्ण करना अग्नि ही का कार्य है। क्योंकि अग्नि ही को ''जातवेद'' अर्थात् प्राणियों की हर गतिविधि को जानने वाला माना है, वही ''विचर्षणिः'' अर्थात् बुद्धिमान् है।

ये तो तीन अग्नियाँ जिन्हें याज्ञवल्क्य ने त्रित, द्वित और एकत नाम से माना है उन्हें ही होतृत्व के लिए वरण किया था परन्तु वे चली गईं। यह जो चौथी अग्नि चुनी गई है वही अग्नि 'आज के इस होता वरण में मेरे से कोई त्रुटि हो गई हो उसकी पूर्ति करे, वह पूर्ण हो जाये', ऐसा कहना चाहिए। इससे त्रुटि की पूर्ति हो जाती है, हमारा यज्ञ त्रुटि रहित पूर्ण होना चाहिए।

इन सबका तात्पर्य यह है कि ''होता'' एक ऐसे उत्तरदायित्त्वपूर्ण आसन पर बैठा हुआ कहता है कि कहीं अज्ञानतावश, प्रमादवश, कहीं लोकभय से त्रुटियाँ हो ही जाती हैं। हे अन्तर्यामिन् ! आप ही इसमें मेरे रक्षक हैं। इस सच्चे अन्तःकरण से आत्म निरीक्षण द्वारा ज्ञान प्राप्त करके अपनी त्रुटियों को दूर करने के लिए जो प्रभु की शरण में जाते हैं, भगवान् उनके अवश्य सहायक होते हैं।

होता को चाहिए कि विद्वत्तापूर्ण विधि के अनुसार समर्पण भावना से इस यज्ञ को परमपिता परमात्मा की छत्रछाया में ही सम्पादित करने का प्रयत्न करे। अपनी विद्वत्ता पर कभी भी अभिमान न करे। यज्ञ में त्रुटियों से बचने का प्रयास करे।

* * *

सम्मर्शन विधि

यह ''सम्मर्शन विधि'' यज्ञ की सञ्चालिका है। ''सम्मर्शन'' का शाब्दिक अर्थ है – एक–दूसरे को अच्छी तरह स्पर्श करना, अर्थात् जब यज्ञ प्रारम्भ होता है तो न कोई बड़ा होता है और न कोई छोटा, न कोई नीच होता है, न कोई ऊँचा होता है। अतः सभी को समान मानते हुए होता को इस यज्ञ को जनता के साथ बढ़ाना है। तभी उनका यह यज्ञ रूपी रथ सीधा जाता है कहीं रुकता नहीं है। हमारे यज्ञ में भी किसी भी तरह का गतिरोध न हो इसीलिए यह सम्मर्शन विधि यहाँ दी जाती है। महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

अथ अध्वर्युं च अग्नीध्रं च सम्मृशति।
मनो व अध्वर्युः वाग् होता, तत् मनः च एव एतद्
वाचं च सन्दधाति।। १–५–१–२१

सर्वप्रथम अध्वर्यु और अग्नीध्र का सम्मर्शन अर्थात् स्पर्श करता है। स्पर्श से अभिप्राय है कि परस्पर मिलकर यज्ञ के कार्य का सम्पादन करना चाहिए। इसीलिए यहाँ याज्ञवल्क्य ने अध्वर्यु को मन माना है और होता को वाग् अर्थात् वाणी माना है।

यहाँ यज्ञ में इस बात को समझना है कि यज्ञ मन और वाणी को मिला कर करना चाहिए। यज्ञ में वाणी से ''स्वाहा, इदन्न मम''तो कहते रहें परन्तु मन में यह भाव जागरित हो कि यह ''घी'' खाने को मिल जाता तो खाने में बड़ा ही आनन्द आता। ऐसी स्थिति में यज्ञ में यजमान का मनोरथ पूर्ण नहीं होता।

यहाँ ''अध्वर्यु'' यजमान के मन की बात अर्थात् यजमान की क्या कामना, क्या अभिलाषा है ? उसको होता तक पहुँचाता है, तब होता यजमान के संकल्पानुसार उसी तरह के यज्ञ को करने का निर्देश देता है। तदनन्तर ही सभी कामनाओं की यज्ञ में सफलता निश्चित ही है। हमें भी इसी विधि के अनुसार यज्ञ करना चाहिए।

सम्मर्शन विधि करते हुए मन्त्र जाप करना है, वह जाप का वाक्य है–

''षड् मा उर्वीः अंहसः पान्तु अग्निश्च पृथिवी चापश्च
वाजश्च अहश्च रात्रिश्च इति एता मा देवता''–
आर्तेर्गोपायन्तु।। १–५–१–२२

इसका एक ही वाक्य में यह अभिप्राय है कि ''अग्नि, पृथिवी, जल, अन्न, दिन और रात'' ये छः महान् शक्तियाँ देवता के रूप में सदैव रक्षा करने वाली हैं। उसका यह यज्ञ का रथ कहीं भी नहीं भटकता वह सीधा लक्ष्य को प्राप्त हो जाता है।

यहाँ ये तीन जोड़े हैं। सृष्टि के यज्ञ को यही चलाते हैं– अग्नि का पृथिवी के साथ मिलन, जल का अन्न के रूप में मिलन तथा दिन का रात के रूप में मिलन। यह सम्मर्शन इस सृष्टि के यज्ञ को जैसे चलाता रहता है उसी तरह से परस्पर मिलकर हमें भी यज्ञ को पूर्ण करना चाहिए।

यहाँ छः देवताओं को याद करने का या उनसे प्रार्थना करने का प्रयोजन है कि वे देवता हमें किसी भी तरह की रोगादि मुसीबतों से हमारी रक्षा करें। उस पुरुष की या यजमान की कभी भी अहवेलना नहीं होती जिसकी देवता रोग से रक्षा करते हैं। जिस के देव रक्षक हों उस पर आपदा आ ही नहीं सकती।

अब ''होता'' अपने आसन पर बैठता है। आसन का सम्मर्शन अर्थात् स्पर्श करता हुआ कहे–

''निरस्तः परावसुरि''ति।। १–५–१–२३

वह होता होतृसदन की ओर जाता है। ''होतृसदन'' उस स्थान को कहते हैं, जहाँ प्रतिदिन यज्ञ होता हो। वह उस होतृसदन की ओर बढ़ता है। वहाँ जाकर बैठने से पूर्व अपने आसन का सम्मर्शन करते हुए उस आसन के एक तिनके को लेता है और उसे बाहर फेंकते हुए कहता है– ''निरस्तः परावसुः'' मैंने परावसु अर्थात् पराया माल खाने वाले को ही बाहर फेंक दिया है। मैंने तिनके की तरह परावसु को जो लोगों की बस्तियों को उजाड़ने का ही काम करता है, बसाने का जो कार्य नहीं करता उसको बाहर फेंक दिया है। स्वार्थभावना को छोड़कर हमें यज्ञ करना चाहिए यही भाव इस कण्डिका का है।

वह होता होतृसदन में जाकर अपने आसन पर बैठने से पूर्व फिर प्रार्थना करता है–

''इदम् अहम् अर्वावसोः सदने सीदामि'' ।। १–५–१–२४

अर्थात् ''यह मैं अर्वावसु के आसन पर बैठता हूँ।'' देवताओं का होता वसु लोगों को बसाने वाला तथा सदैव लोकहित चाहने वाला होता है। इसीलिए उसका नाम ''अर्वावसु'' है। तथा वह कहता भी है कि अर्वावसु के स्थान पर बैठता हूँ और लोक हितकर अभ्युदय के भावों को सामने रख कर ही यज्ञ का अनुष्ठान करूँगा। इसी तरह के भावों से ओतप्रोत हो के जब यज्ञ को किया जाता है तो ही यज्ञ हमारे लिए कल्याणकारक होता है फिर वह इस तरह से जाप करता है –

''विश्वकर्मः तनूपा असि मा मा उ दोषिष्टम् मा मा
हिंसिष्टम् एषः वां लोकः'' इति।। १–५–१–२५

यह जाप महत्त्वपूर्ण है। इसे जपता हुआ वह प्रार्थना करता है– ''हे विश्वकर्मन् ! तू शरीर की रक्षा करने वाला है।'' दो अग्नियों के मध्य बैठकर प्रार्थना करता है – हे गार्हपत्य अग्नि ! मुझे न जलाओ तथा हे आहवनीय अग्नि ! मुझे न सताओ। इस तरह की प्रार्थना करते हुए उत्तराभिमुख बढ़ना चाहिए। दोनों के मध्य में बैठकर वह दोनों अग्नियों को प्रसन्न करता है। परन्तु गार्हपत्य व आहवनीय इन दोनों अग्नियों के प्रकोप से बचना अति कठिन कार्य है। इसीलिए प्रार्थना की जाती है कि ''भगवन् आप ही विश्वकर्मा हैं, आप ही हमारे रक्षक हैं'' । इसीलिए हमने आपको ''तनूपा'' अर्थात् शरीर रक्षक माना है।

उसी ईश्वर को विश्वकर्मा मानो, उसी की कृपा से उसके बनाये इस संसार में हम यज्ञ करने में समर्थ हैं।

अब वह पुनः इस सम्मर्शन विधि में पुनः जपता है–

विश्वे देवाः शास्तन मा यथेह होता वृतो मनवै
यत् निषद्य। प्र मे बूत भागधेयं यथा वः येन पथा
हव्यमा वः वहानि।। १–५–१–२६

होता आहवनीय अग्नि को ही देखता हुआ, उसे सम्मर्शन विधि सम्पन्न करता हुआ जपता है और कहता है– हे विश्व देवो अर्थात् हे समस्त देवो ! आप सब मुझे बताओ कि होता की हैसियत से वरण किया हुआ इस आसन पर बैठ कर मैं किस प्रकार मनन करूँ ? मेरे भागधेय अर्थात् मेरे कर्त्तव्य को मुझे बताओ कि मैं किस रास्ते से आपकी हवि आप तक पहुँचाऊँ ?''

यह प्रार्थना इसी प्रकार करनी चाहिए जैसे किसी के लिए कोई भोजन तैयार करें और उससे पूछें – आप कहिये आसन कहाँ लगाया जाये ? किस तरह के बर्तनों में खाना परोसा जाये ? जो आपके लिए रुचिकर हो। बस इसी प्रकार वह देवताओं के प्रशासन अर्थात् मार्ग दर्शन की आज्ञा को माँगता है। मुझे मार्ग दर्शन कीजिए, जिससे कि मैं ठीक मार्ग से यथाविधि वषट्कार के रूप में अपनी हवि को आप तक पहुँचाऊँ। इसीलिए ऐसा जपता है।

याज्ञवल्क्य की यह सम्मर्शन–विधि इसलिए भी है कि सभी संगठित होकर इस यज्ञ के रथ को इस विधि चलायें कि वह रथ अपने गन्तव्य स्थान को अप्रतिहत अर्थात् बिना किसी रुकावट के निरन्तर चलता रहे। अतः यजमान का कर्त्तव्य बनता है कि विद्वान् ''होता'' यज्ञ के इस पद को प्रतिष्ठित करे। विद्वत्ता के साथ वह अग्नि की तरह अग्रणी हो, तेजस्वी हो, निःस्वार्थी हो, तथा यजमान के मन को, उसके सङ्कल्प को अपने साथ मिलाकर यज्ञ को ढोने वाला हो।

वर्तमान में ऐसे ''होता'' दुर्लभ ही हैं, इसीलिए ''यज्ञ'' की दुर्दशा बहुधा देखने को मिल रही है। यज्ञ का अपमान करना ईश्वर का अपमान है और जो उस प्रभु का अपमान करते हैं उनका फिर कोई ठौर–ठिकाना नहीं रहता है। हमने ''परावसु'' अर्थात् पराया धन भोगने वाला नहीं बनना हमने तो ''अर्व्वावसु'' अर्थात् सब को बसाने वाला तथा सर्वहिताय यज्ञ का अनुष्ठान करने वाला बनना है।

* * *

यज्ञ–मोक्ष का साधन है

संसार में यदि कोई सर्वोत्तम कर्म है तो वह यज्ञ ही है। कहा भी है ''यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'' अर्थात् यज्ञ से बढ़ कर कोई अन्य कर्म उत्तम नहीं है, यज्ञ को ही महानतम कर्म माना गया है। तथा इसे कामधेनु भी माना गया है– योगेश्वर श्री कृष्ण गीता में कहते भी हैं–

''सहयज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।''
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोस्तु इष्टकामधुक्।। गीता. ३/१०

प्रजापति परमेश्वर ने भी इस संसार को यज्ञ से ही उत्पन्न किया है। अतः उनका हम सभी के लिए इसी यज्ञ के द्वारा ही स्पष्ट आदेश है कि तुम बढ़ो फलो–फूलो और यही यज्ञ तुम्हारी मनोकामनाओं की सिद्धि के लिए कामधेनु है। वाञ्छित फलों की पूर्ति का साधन यज्ञ को ही माना गया है। अतः यही यज्ञ हमारे लिए मुक्ति का भी एकमात्र साधन है। शास्त्रकारों ने कहा भी है –

''स्वर्गकामो यजेत''

अर्थात् इस जीवन में यदि हमें स्वर्ग अर्थात् सुख विशेष की वाञ्छा है तो हमें यज्ञ को अपनाना होगा। अतः स्वर्ग प्राप्ति का साधन एक मात्र यह यज्ञ है। यह तभी सम्भव है जब हम यज्ञ को मानें भी और जानें भी। तभी यज्ञ की फलोपलब्धि जीवन में अनुभव होगी। याज्ञवल्क्य ऋषि भी इसी सन्दर्भ में लिखते हैं–

''अग्निर्होता वेतु अग्नेर्होत्रमि''ति।। १–५–२–१

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार हमें जान लेना चाहिए कि जिस यज्ञ को हम करने जा रहे हैं उसका ''होता'' वह परमपिता परमात्मा ही है। हम तो दास बनकर इस यज्ञ को करते हैं। उसकी सफलता उसी के अधीन है। अतः कहा– ''वेतु अग्नेर्होत्रम्'' अर्थात् जिसका यज्ञ है वही इस यज्ञ को जाने। हम तो उसके दास हैं। उसी की प्रेरणा से ही हम इस यज्ञ को करने में समर्थ हैं। उसका शुभाशीर्वाद न होता तो हम तो यज्ञ करने

में भी समर्थ नहीं थे। हम पर उस प्रभु की यह महती कृपा है। इसीलिए अब कहा गया है कि–

''वेत्तु प्रावित्रमिति यज्ञो वै प्रावित्रमि''ति।। १–५–२–१

अर्थात् सर्वप्रथम हमने माना है कि – ''अग्नि का होत्र'' अर्थात् यह यज्ञ उस प्रभु का है। अतः ''वेतु प्रावित्रम्'' अर्थात् यह यज्ञ ''प्रावित्रम्'' अर्थात् वह यज्ञ मोक्ष का साधन है, वही रक्षा करने वाला है। अतः वह प्रभु इस यज्ञ को जानें। यही समर्पण की भावना है। यज्ञ करते हुए समर्पित कर दो कि प्रभु तू ही जान, इस यज्ञ को कैसे करना है? हम तो तेरे दास हैं, सेवक हैं। इसीलिए आगे याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''साधु ते यजमान देवता''। १–५–२–१

हे यजमान ! इससे बड़ा तेरा और क्या सौभाग्य होगा कि अग्नि देवता स्वयं तेरा होता बन कर तेरे इस यज्ञ को ढो रहा है। वह अग्नि प्रसन्न है, तेरे अनुकूल है। वह अनुकूलता तभी बनी रहेगी जब–

''घृतवतीमध्वर्यो स्रुचमास्यस्व।। १–५–२–१

यहाँ अध्वर्यु को आदेश दिया गया है कि हे अध्वर्यु ! यज्ञ करते समय यजमान घृत में चम्मच भर–भर करके इस यज्ञ को सम्पन्न करे। जब भी यज्ञ को करना हो तो उस में जो घी चढ़ाने के लिए चमचा लिया जाता है उसे घी से पूरा भर कर ही यज्ञ करना होता है। अधूरे से यज्ञ करते हुए यजमान अधूरा ही रह जाता है। इस बात का ध्यान रखना चाहिए हमारा यह ''चमचा'' जिससे हम घृत की आहुतियाँ यज्ञ में चढ़ाते हैं वह कैसा है? हमारे लिए किस प्रकार का लाभकारी होगा ? इस सन्दर्भ में भी याज्ञवल्क्य कहता है–

''देवयुवं विश्ववारामिति।। १–५–२–३

अर्थात् जैसे ही हमने यज्ञ में घी चढ़ाने के लिए चमचा भरा है तो हमारी प्रार्थना हो कि यह देवयुवम् अर्थात् यह घृत की आहुति देवों को अर्पित है। यह हमारी आहुति देवों तक पहुँचने वाली हो। फिर प्रार्थना करनी है कि ''विश्ववाराम्'' अर्थात् यह घृत से भरी स्रुवा की आहुति समृद्धियों से भरपूर होकर विश्व का कल्याण करने वाली हो। यह केवल स्वार्थ पूर्ति का ही साधन बनकर न रह जाये। इसीलिए यज्ञ के सन्दर्भ में कहा

भी जाता है कि ''यज्ञ स्वार्थहिताय नहीं, अपितु परतः हिताय हुआ करता है''। ऐसा यज्ञ ही यजमान की मुक्ति का साधन बनता है।

यज्ञ करते हुए इस बात का ध्यान रखना है कि हमें अभिमान नहीं करना, अपितु विनम्रता के साथ यज्ञ करते हुए सर्वप्रथम–

''ईडामहै देवान्। ईडेन्यान्'' ।। १–५–२–३

अर्थात् जो स्तुति योग्य देवता हैं उनकी हमें स्तुति करनी चाहिए। देवता यज्ञ में की गई स्तुति से प्रसन्न होते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी इसीलिए यज्ञ करने से पहले ''ईश्वरस्तुति'' का ही विधान किया है। तदनन्तर ही हमें–

''नमस्याम तान् ये नमस्याः'' ।। १–५–२–३

यज्ञ में उपस्थित जो नमस्कार के योग्य हैं उन्हें नमस्कार करना चाहिए। यही हमारी भारतीय संस्कृति है। इसी का अनुकरण करना चाहिए। ऐसा करने से ही यज्ञ का विस्तार होगा। यह भी एक तरह का यज्ञ ही है।

उसके पश्चात् हमारा कर्त्तव्य बनता है–

''यजाम यज्ञियान्'' इति।। १–५–२–३

जो यज्ञिय अर्थात् पूजा के योग्य हैं उनकी हमें पूजा करनी चाहिए। किसी को आदर देना बहुत बड़ी बात है। क्योंकि प्रायः देखा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति सम्मान को चाहता है। जहाँ आदर नहीं होता वहाँ तो कुत्ता भी नहीं आता मनुष्य की तो बात ही नहीं। अतः पूजा के योग्य व्यक्ति की पूजा करनी भी एक तरह का महान् यज्ञ है। अतः याज्ञवल्क्य का स्पष्ट आदेश है कि हम स्तुति के योग्य देवताओं की स्तुति करें। नमस्कार के योग्य को हम नमस्कार करें। पूजा के योग्य की पूजा करें।

इससे आगे याज्ञवल्क्य व्यवस्था का विधान करते हुए लिखते हैं कि किसकी स्तुति करनी है, किसको नमस्कार करना है और किसकी पूजा करनी है ? शतपथकार लिखते हैं–

''मनुष्या वा ईडेन्याः'' ।। १–५–२–३

संसार में प्रायः करके देखा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्तुति–प्रशंसा चाहता है। अतः जब भी मनुष्य रूप में कोई छोटा–बड़ा, अमीर–गरीब, काला–गोरा कोई भी

व्यक्ति उपस्थित होता है तो उसकी हमें सदैव स्तुति करनी चाहिए। जब हम उसकी स्तुति–प्रशंसा करेंगे तो वह हमसे जुड़ा रहेगा और हम से जुड़ना ही यज्ञ से जुड़ना है। तभी प्रत्येक मनुष्य में यज्ञ का विस्तार होगा। किसी को दुत्कारना हमारे अधिकार क्षेत्र में नहीं है क्योंकि अपमानित व्यक्ति कभी यज्ञ के समीप आने का प्रयत्न नहीं करेगा। अतः शतपथानुसार यज्ञ में उपस्थित व्यक्ति की तुम्हें स्तुति करनी चाहिए। इसीलिए कहा गया है ''मनुष्या वा ईडेन्याः'' इति।

आगे फिर कहा गया है–

''पितरो नमस्याः।। १–५–२–३

यज्ञ में मनुष्य के पश्चात् पितृजन उपस्थित होते हैं। जहाँ मनुष्य प्रशंसा के पात्र होते हैं वहाँ पितृजन नमस्कार के पात्र होते हैं। उन्हें नमस्कार करना यजमान का महान् उत्तरदायित्व बनता है। हमारे जितने भी बुजुर्ग है चाहे वे माता–पिता, दादा–दादी, नाना–नानी तथा परदादादि हैं, वे सभी इस बात के लिए तत्पर रहते हैं कि कोई हमें नमस्कार तो करे। जब उनका अभिवादन होता है तभी वे सभी हमारे यज्ञ में बैठकर यजमान ''सौभाग्यमस्तु'' ''शुभं भवतु'' का प्यारा–२ आशीर्वाद देते हैं। वह आशीर्वाद ही यजमान के लिए पर्याप्त होता है। अतः पितरों को नमस्कार करना हमारा परम कर्त्तव्य बनता है।

अब हमारे यज्ञ में देवता लोग भी उपस्थित होते हैं। उन्हें हमें–

''देवा यज्ञियाः।। १–५–२–३

यज्ञ में उपस्थित देव लोग पूजा के योग्य होते हैं। उनकी जब पूजा अर्थात् सेवा की जाती है तो वे यज्ञ में सम्मलित रहते हैं। अतः उपस्थित देवों की पूजा करनी चाहिए। इन सभी आदेशों का तात्पर्य है कि यज्ञ में तीन तरह के ही महानुभाव उपस्थित होते है। जो इस तरह से हैं–

१. मनुष्य – ईडेन्याः – स्तुति के योग्य हैं।

२. पितर – नमस्याः– नमस्कार के योग्य हैं।

३. देव – यज्ञियाः– पूजा के योग्य हैं।

जब हमारे यज्ञ में ये लोग उपस्थित रहेंगे तभी हमारा यज्ञ मोक्ष का साधन बनेगा। सभी तरह की मुक्ति का साधन यही यज्ञ है।

याज्ञवल्क्य ने दो तरह की प्रजा की व्यवस्था की है–१. पराभूत और २. अपराभूत। जो पराभूत प्रजा है उसे यज्ञ का अधिकार नहीं क्योंकि वह निकम्मी है, अभागी है, अपुरुषार्थी है परन्तु जो प्रजा कर्मशील है, उद्यमी है, पुरुषार्थी है उन्हें ही यज्ञ का अधिकार है। मनुष्य के पीछे पशु हैं और देवों के पीछे पशु–पक्षी और औषधि तथा वनस्पतियाँ हैं। इसीलिए याज्ञवल्क्य लिखते हैं–

''यद् इदं किञ्च एवम् उ तत् सर्वं यज्ञे आभक्तम्'' ।। १–५–२–४

अर्थात् संसार के सभी पदार्थों को लेकर यज्ञ करना चाहिए क्योंकि ये सभी पदार्थ प्रभु के हैं, उन्हें यज्ञ के माध्यम से प्रभु को ही समर्पित करना चाहिए। पशु का प्रयोग घृतादि के माध्यम से मनुष्य करते हैं, पक्षी–वनस्पति–ओषधि आदि का प्रयोग यज्ञ के लिए कैसे किया जाता है ? उसे देव या विद्वान् ही जानते हैं। अतः जगत् के सभी पदार्थों को यज्ञमय मानते हैं, उनसे यज्ञ का प्रतिपादन करना चाहिए। देखा गया है कि आज विश्व में सम्पूर्ण मानव–जाति किसी न किसी रूप में यज्ञ का प्रतिपादन करती है। इसीलिए शतपथकार इसे ''यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'' मानता है। अतः यज्ञ वह पूजा है, जिसका लाभ संसार के सभी जड़ व चेतन संसार को उपलब्ध होता है। इसीलिए याज्ञवल्क्य लिखते हैं–

तत् सर्वं यज्ञे आभक्तम्।। इति

जिस यज्ञ को याज्ञवल्क्य ने ''प्रावित्रम्'' अर्थात् मोक्ष का साधन माना है वह यज्ञ भौतिक पदार्थों से नहीं होता। उसे नौ व्याहृतियों द्वारा सम्पन्न करना होता है उसके संदर्भ में याज्ञवल्क्य लिखते हैं–

नव व्याहृतयो भवन्ति। नवेमे पुरुषे प्राणा एतान्
एव अस्मिन् एतद् दधाति तस्माद् नव व्याहृतयो भवन्ति।। १–५–२–५

शतपथकार द्वारा पूर्वोक्त नव आदेश ही नौ व्याहृतियाँ हैं, जो इस तरह से हैं–

१. अग्निर्होता वेत्त्वग्निहोत्रम्।।

२. वेतु प्रावित्रम्।

३. साधु ते यजमान देवता।।

४. घृतवतीम् अध्वर्यो स्रुचम् आस्यस्व।।

५. देवयुवम्।।

६. विश्ववाराम्।।

७. इडामहै देवान् ईडेन्यान्।।

८. नमस्याम नमस्यान्।।

९. यजाम यज्ञियान्।।

ये नौ व्याहृतियाँ हैं। इनकी यज्ञ में अनुपालना होनी चाहिए। तभी यज्ञ मुक्ति का साधन होगा।

मनुष्य में रहने वाले नौ प्राण भी यज्ञ की नौ व्याहृतियाँ हैं। जो इस तरह से हैं –

एक मुख, दो नासिका, दो नेत्र, दो कान, एक मूत्रद्वार तथा एक मलद्वार। इस तरह से ये नौ प्राण द्वार हैं। इन नौ प्राण रूपी व्याहृतियों से पुरुष को नव–प्राणों से सम्पन्न पुरुष बनाया है। इन्हीं को सुव्यवस्थित करते हुए जब पुरुष इस यज्ञ को सम्पन्न करता है, तभी वह यज्ञ जनता के कल्याण के लिए होता हुआ मुक्ति का साधन भी बनता है।

एक दिन यज्ञ देवों से दूर भाग गया, परन्तु उसे देवों ने दूर भागने नहीं दिया। देवताओं ने उसे पास बुलाया और कहा हमारी बात सुनो, हमारी ओर लौट आओ। ''तथास्तु'' कह कर वह देवताओं की ओर लौट आया। आगे याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

''तेन उपावृत्तेन देवा अयजन्त तेन इष्ट्वा एतद् अभवन्''
यद् इदं देवाः।। १–५–२–६

देवताओं के बुलाने से जो वह लौट आया उसी से देवों ने यज्ञ को किया। जिससे वह यज्ञ किया उसी के कारण वे देव हुए। अतः देवों के लिए जिस यज्ञ को हम करते हैं वही यज्ञ ''देव यज्ञ'' कहलाता है।

एक बीज से जैसे अन्य बीज उपजते हैं उसी तरह यजमान को चाहिए कि यज्ञ को एक सम्प्रदाय की तरह चलावे, वंश परम्परा में यह यज्ञ चलता रहना चाहिए। जैसे एक जल से भरे हुए घड़े से अनेकों पात्र भरते हैं उसी तरह यज्ञ की प्रथा को परम्परया करते रहने का प्रयास होना चाहिए। एक अग्नि से दूसरी अग्नि प्रज्वलित होनी चाहिए। एक यज्ञ के सम्पन्न होने के पश्चात् दूसरा यज्ञ प्रारम्भ होना चाहिए, यही प्राचीन परम्परा थी। यह परम्परा अथवा यह यज्ञ सम्प्रदाय वाणी पर आधारित है। क्योंकि याज्ञवल्क्य ने–

''वाग् हि यज्ञः'' ।। १–५–२–७

वाणी को ही यज्ञ माना है। यह तो सारा वाणी का ही खेल है, वाणी ही यज्ञ का बल है, इसीलिए–

''वाग् उ हि रेतः'' ।। १–५–२–७

वाणी को ही यज्ञ का वीर्य माना गया है। इसी के द्वारा यज्ञ की परम्परा को चलाये रखा जाता है। अतः यज्ञ में बैठकर इधर–उधर की बात नहीं करनी चाहिए। तथा कभी भी अपशब्द का प्रयोग न करें। वषट्कार के रूप में ही यज्ञ की परम्परा चलनी चाहिए। वषट्कार के समय किसी भी तरह का अपशब्द नहीं बोलना चाहिए। वषट्कार से अग्नि में घृत का सिंचन उसी प्रकार किया जाता है जैसे योनि में वीर्य का सिञ्चन होता है। अग्नि यज्ञ की योनि है। क्योंकि वह वहीं से उत्पन्न होता है।

अब जब यज्ञ प्रारम्भ किया जाता है तो अपशब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यदि यज्ञ में अपशब्द का प्रयोग किया जाता है तो यज्ञ बरबाद अर्थात् नष्ट हो जाता है जैसे जल से भरे पात्र को नीचे फैंक देने से जल नष्ट हो जाता है। अतः यज्ञ में बैठे ऋत्विजों को परस्पर एक दूसरे को समझते हुए संगठित होकर यज्ञ करना चाहिए। ऐसे किए गए यज्ञ में किसी भी तरह से गलती की सम्भावना नहीं रहती। तभी तो यज्ञ सम्पूर्णता को प्राप्त होता है। अत एव याज्ञवल्क्य लिखते हैं–

''तस्माद् एवम् एव यज्ञो भर्त्तव्यः'' ।। १–५–२–१५

यज्ञ में किसी भी तरह की भूल नहीं करनी चाहिए। इसीलिए बिना भूल के ही यज्ञ को करना चाहिए। परिपूर्ण यज्ञ ही सफलता का प्रतीक होता है।

ऐसे यज्ञ में पाँच व्याहृतियों का बखान महर्षि याज्ञवल्क्य ने किया है जो इस तरह से है–

''ता वा एताः। पञ्च व्याहृतयो भवन्ति ओ श्रावय,

अस्तु श्रौषट्, यज, ये यजामहे, वौषट् इति।। १–५–२–१६

यज्ञ में इन पाँच व्याहृतियों का जब विधिवत् प्रयोग किया जाता है तभी हमारा यज्ञ काम–धुक् बनता है। ऐसे ही यज्ञ को ''कामधेनु'' के नाम से पुकारा जाता है। ये पाँच व्याहृतियाँ इस तरह से हैं–

१. ओ श्रावय।।   २. अस्तु श्रौषट्।।

३. यज।।   ४. ये यजामहे।।

५. वौषट्।।

१. ओ श्रावय – यहाँ 'ओम्'' परमपिता का निजी सर्वोत्तम नाम है इसीलिए उस प्रभु का नाम सर्वप्रथम यज्ञ की सफलता के लिए लिया जाता है। तदनन्तर ही कहना चाहिए ''श्रावय'' हम तुम्हें सुनाते हैं कि हम यज्ञ कर रहे हैं। इससे ही यज्ञ का प्रचार होता है। याज्ञवल्क्य यज्ञ का विस्तार चाहता है। विस्तार का साधन यह प्रथम व्याहृति है।

२. अस्तु श्रौषट् – अच्छा, अच्छी तरह सुनो। ठोक कर सुनाना चाहिए कि हम यज्ञ कर रहे हैं। ठोक कर इसीलिए सुनाना चाहिए कि ''यज्ञ'' सर्वोत्तम कर्म है।

३. यज – हम भी यज्ञ कर रहे हैं अतः तुम भी ''यज्ञ'' करो। यज्ञ के लिए किसी को प्रेरित करना भी यज्ञ का प्रचार व विस्तार है।

४. ये यजामहे – फिर वे जो प्रेरणा से छाती ठोक कर कहें कि हम यज्ञ करते हैं। वर्तमान में कितने परिवार हैं जहाँ प्रतिदिन यज्ञ किया जाता है। ''यजामहे'' कहने वाले लोग विरले ही देखने को मिलते हैं। जो मिलते हैं वही 'यजामहे' कहने के अधिकारी होते हैं।

५. **वौषट् –** वौषट् वषट्कार को कहते हैं। वषट्कार का अर्थ है–यज्ञ की परिपूर्णता की अवस्था इस कर्त्तव्य की समाप्ति नहीं होती। एक के बाद दूसरा कर्त्तव्य प्रारम्भ हो जाता है। यही वषट्कार है।

इन पाँच व्याहृतियों को कहकर आगे यज्ञ के सन्दर्भ में फिर याज्ञवल्क्य कहते हैं–

''पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पञ्च ऋतवः संवत्सरस्य
एषा एका यज्ञस्य मात्रा एषा सम्पत्।। ।। १–५–२–१६

''ओ श्रावय'' इत्यादि रूप में पाँच प्रकार का ''यज्ञ'' होता है इसीलिए इसे ''पाङ्क्त'' अर्थात् पाँच अवयव वाला माना गया है।

इसी तरह पशु भी पाङ्क्त है क्योंकि उसके भी ''लोम, त्वक्, मांस, अस्थि, मज्जा'' के रूप में पाँच अवयव होते हैं।

इसी तरह संवत्सर में भी ''वसन्त–ग्रीष्म–वर्षा–शरद्–हेमन्त'' रूप में पाँच ऋतुएँ पाँच अवयव के रूप में होती हैं। यह पाँच संख्या यज्ञ की एक विशेष मात्रा है। इसी को एक सम्पत् अर्थात् यज्ञ की पूर्णता माना गया है। वे लोग धन्य थे जो वषट्कार के रूप में इस यज्ञ को सम्पूर्ण संवत्सर अर्थात् इन पाँच ऋतुओं में चलाये रखते थे। हमें भी प्रयत्न करना चाहिए। यज्ञ भी दीर्घसत्र का होना चाहिए। १८–२० आहुतियों से मोक्ष नहीं मिलता उसके लिए सांवत्सरिक यज्ञ करने होते हैं।

इन व्याहृतियों में सत्रह १७ अक्षर होते हैं। जो इस तरह से है–

ओ श्रावय	=	४
अस्तु श्रौषट्	=	४
यज	=	२
ये यजामह	=	५
वौषट्	=	२
कुलयोग	=	१७

ये पाँच व्याहृतियाँ ही नहीं एक तरह का सांवत्सरिक महान् यज्ञ है। एक संवत्सर में १२ मास और ५ ऋतुएँ मिलकर १७ संख्या से युक्त है। इस तरह का यह यज्ञ

विशेष मात्रा अर्थात् विशेष शोभा वाला होता है। वह विशेष शोभा तभी बढ़ती है जब यज्ञ हमारी कामनाओं को पूर्ण करता हो। वे कामनाएँ कैसे पूर्ण होती हैं इसका वर्णन भी याज्ञवल्क्य ने इस तरह से किया है –

''ओ श्रावय'' इति वै देवाः। पुरोवातं ससृजिरे।। १–५–२–१८

सूर्य–चन्द्रादि देवता भी पौर्णमास यज्ञ कर रहे हैं अतः ''ओ श्रावय'' कहकर ''पूर्व'' की वायु को चला रहे हैं।

''अस्तु श्रौषट्'' इति अभ्राणि समप्लावयन्

यह कह कर वे बादलों को लाते हैं। उनके कहने से बादल उपस्थित हो जाते हैं।

''यज'' इति विद्युतम्

यह कहने मात्र से बिजली उपस्थित हो जाती है।

''ये यजामहे'' इति स्तनयत्नुम्

यह कहने पर बादल गर्जने लग जाते हैं। क्योंकि होता यज्ञ कर रहा है।

वषट्कारेणैव प्रावर्षयन्

इस वषट्कार कहने से वर्षा प्रारम्भ हो गई। यह वर्षा ऐसे ही नहीं हो जाती। इसके लिए मनसा इन पदार्थों का ध्यान करना पड़ता है, मनसा संकल्प लेना पड़ता है। उसकी भी व्यवस्था याज्ञवल्क्य इस तरह से कहते हैं –

स यदि वृष्टिकामः स्यात्। यदि इष्ट्या वा
यजेत दर्शपूर्णमासयोः वा एव ब्रूयाद्
वृष्टिकामो वा अस्मीति।। १–५–२–१९

यदि यजमान को वर्षा की इच्छा हो तो उस विशेष इष्टि यज्ञ में तथा दर्शपूर्णमास यज्ञ में ही कहे – ''वृष्टिकामो वा अस्मि'' मैं वर्षा का इच्छुक हूँ। मुझे इस समय वर्षा चाहिए।

पास बैठे ''अध्वर्यु'' से कहे कि ''तुम उन पदार्थों का मन से ध्यान करो जिनसे पूर्वा वायु चले और बिजली चमके। यहाँ पर वृष्टिकाम यज्ञ करते हुए अपने मन में वायु और बिजली का ध्यान करना परमावश्यक है, तभी वर्षा की सम्भावना होती है।

अब ''अग्नीध्र'' से कहे कि तुम उन पदार्थों का ध्यान करो जिनसे ''बादल'' का आगमन हो, क्योंकि 'बादल'' का आना वर्षा का प्रतीक होता है।

फिर ''होता'' से कहे कि तुम उन पदार्थों का मन से ध्यान करो जिनसे बादल आपस में टकराकर गर्जे और वर्षा हो। बादल का आना और उसका गर्जना ही वर्षा का प्रतीक होता है।

अब ''ब्रह्मा'' से प्रार्थना करे कि आप इन सब बातों का ध्यान रखें कि इनमें कोई त्रुटि न रहे। थोड़ी सी त्रुटि भी मनोरथ में बाधा का कारण बनती है। अतः यहाँ याज्ञवल्क्य आदेश देते हैं–

वर्षति ह एव तत्र यत्र एवम् ऋत्विजः संविदाना
यज्ञेन चरन्ति।। १–५–२–१९

अर्थात् जहाँ ऋत्विज लोग यज्ञ में परस्पर एक दूसरे को समझकर एक–दूसरे का सहयोग करते हैं वहाँ अवश्य ही वर्षा होती है। वर्षा के लिए यह सम्पूर्ण व्यवस्था याज्ञवल्क्य ने हमारे सामने रख दी है। जो इसका पालन करेगा उसकी वह ईश्वर अवश्य मनोकामना पूर्ण करता है।

अब ''कामधेनु'' जो यज्ञरूपी है उसका दोहन किस प्रकार किया जाय इसका सुन्दर विवेचन याज्ञवल्क्य करते हैं–

''ओ श्रावयेति वै देवाः'' ।। १–५–२–२०

यज्ञरूपी कामधेनु का दोहन देवों अर्थात् विद्वानों का ही है अन्य गैरों का नहीं है। यहाँ अध्वर्यु ने कहा ''ओ श्रावय'' इतना मात्र कहने से गाय को बुलाया गया और गाय वहाँ उपस्थित हो गई।

जब गाय आ गई तो विद्वानों ने–

''अस्तु श्रौषट्'' १–५–२–२०

यह कहकर बछड़े को गाय के लिए खोल दिया। बछड़े को खोलने मात्र से ही हमारा मनोरथ पूर्ण नहीं होता उसके लिए–

''यज''

इस व्याहृति का सहारा लेना पड़ता है अर्थात् बछड़े के मुख को माँ के थनों से लगाना होता है। जब बछड़े का मुख माँ के थन से लग जाता है तो माँ दूध उतारना प्रारम्भ कर देती है। हम भी बछड़े हैं परन्तु उस यज्ञरूपी ''कामधेनु'' के थनों को मुख से पकड़ना हमने सीखा ही नहीं। अतः हमारे मनोरथ अधूरे के अधूरे रह जाते हैं।

''ये यजामहे''

जब गाय का दूध थनों में उतर जावे तो गाय के नीचे बैठना होगा। जैसे ही हम गाय के समीप जाकर नीचे बैठते हैं, वैसे ही हम–

''वौषट्''

इस व्याहृति के ''वषट्कार'' से निरन्तर उस गाय का दोहन प्रारम्भ करते हैं। मानो हमारा पात्र दूध से भरपूर हो गया।

यहाँ याज्ञवल्क्य कहता है–

इयं वै विराड् अस्य एव एष दोह एवं ह
वा अस्मै इयं विराट् सर्वान् कामान् दुहे य
एवम् एतं विराजः दोहं वेद ।। १–५–२–२०

अर्थात् यह प्रजा अथवा पृथिवी ही विराट् है। उसी के दोहन का यह प्रकार है। याज्ञवल्क्य ने हमें समझा दिया है कि उस विराट् का हमने कैसे दोहन करना है। अब जो इस विराट् के दोहन का मर्म जानता है उसके सभी मनोरथ यह विराट् दुह कर पूर्ण कर देती है।

तात्पर्य यह है कि जब हम विद्वानों के साथ मिलकर एकमत होकर इस तरह के यज्ञ का अनुष्ठान करेंगे तो हमारे लिए यह यज्ञ मनोरथों का पूर्ण करने वाला होगा। वही यज्ञ हमारी मुक्ति का साधन होगा।

* * *

यज्ञ – यथाविधि और यथासमय करें

परमपिता परमात्मा के जिस यज्ञ को हमने करना है वह यथाविधि अर्थात् शास्त्रों में यज्ञ का जैसा विधान किया गया है तदनुसार ही उस यज्ञ को करना चाहिए। तभी वह यज्ञ यजमान की कामनाओं को पूर्ण करता है। ''पूर्णाः सन्तु यजमानस्य कामाः'' मात्र कहने से यजमान की कामनाएँ पूर्ण नहीं होतीं। वे तभी पूर्ण होती हैं जब हम इस यज्ञ को यथाविधि पूर्ण करने का प्रयास करेंगे।

यहाँ एक उदाहरण देकर यज्ञ की दुर्दशा का वर्णन कर रहा हूँ। यज्ञ में स्विष्टकृत् आहुति का विधान किया गया है। इस आहुति को कोई मध्य में चढ़ाते हैं तथा कोई अन्त में। कोई भी विधि का पालन नहीं करता जबकि यह विधि अन्त में ही करनी चाहिए। आहुति की विधि घी अथवा भात से है, परन्तु देखा गया है कि लोग मीठी खीलों से या लड्डू आदि मीठे पदार्थों से इस आहुति की इतिश्री कर बैठते हैं। जो एक अपराध ही नहीं पाप है। इसीलिए इस पाप से बचने के लिए याज्ञवल्क्य यथाविधि यथासमय का विधान करते हैं। अतः याज्ञवल्क्य लिखते हैं–

ऋतवो ह वै प्रयाजाः। तस्मात् पञ्च भवन्ति
पञ्च ह्यृतवः।। १–५–३–१

जिस प्रकार सम्पूर्ण संवत्सर ऋतुओं से भरा हुआ देखा गया है, उसी तरह मनुष्य को भी अपना सम्पूर्ण समय ऋतुओं में बाँट लेना चाहिए। यह ऋतु विभाग ही प्रयाज है। इसीलिए आदर्श यज्ञ ही संवत्सर के पाँच ऋतुओं में पाँच प्रयाज के रूप में विभक्त है। जैसे एक ऋतु के साथ दूसरी ऋतु सम्बन्धित है उसी तरह एक यज्ञ दूसरे यज्ञ के साथ सम्बन्धित है। इसी को प्रयाज कहा जाता है।

याज्ञवल्क्य ने यहाँ इस सन्दर्भ में एक आख्यायिका का वर्णन किया है– ''देव और असुर'' दोनों प्रजापति की सन्तान हुई। दोनों में एक दिन झगड़ा हो गया कि यहाँ जो प्रजा का पालक संवत्सर प्रजापति है वह हमारे वश में हो जाये। उन्होंने कहना प्रारम्भ

कर दिया कि यह प्रजापति हमारा होकर रहेगा। दूसरे भी कहने लगे कि यह प्रजापति हमारा होकर रहेगा।

ततो देवाः। अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः ते एतान् प्रयाजान्
ददृशुः तैः यजन्त तैः ऋतून् संवत्सरं प्राजयन् ऋतुभ्यः
संवत्सरात् सपत्नान् अन्तरायन् तस्मात् प्रयाजाः
प्रजया ह वै नाम एतद् यत् प्रयाजा इति तथा उ एव एष
एतैः ऋतून् संवत्सरं प्रजयति ऋतुभ्यः संवत्सरात् सपत्नान्
अन्तरेति तस्मात् प्रयाजैः यजते।। १–५–३–३

अर्थात् तब देवों ने भक्ति भावना से युक्त परिश्रम करना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने प्रयाजों को देखा और उनके द्वारा पूजा की। इस प्रकार उन्होंने प्रथम ऋतुओं को और फिर उनके द्वारा संवत्सर को जीत लिया। फिर ऋतु और ''संवत्सर'' के विजय द्वारा शत्रुओं को भी तिरस्कृत कर दिया। इसीलिए ''प्रजा'' का ''प्रजय'' नाम हुआ। इसीलिए इसका ''प्रयाज'' नाम हुआ। इसी प्रकार यह यजमान ऋतुओं अर्थात् संवत्सर को जीत लेता है और अपने शत्रुओं को ऋतुओं अर्थात् संवत्सर से वंचित कर देता है। इसीलिए विजय कामना वाला प्रयाजों द्वारा इस यज्ञ को सम्पादित करे।

''ते वा आज्यहविषो भवन्ति। वज्रो वा आज्यम्'' ।। १–५–३–४

इन प्रयाजों की हवि घी से दी जाती है, इसीलिए इन देवताओं को बुलाने का मुख्य साधन घी ही है। इस घी को ही वज्र माना गया है। इसी वज्र से देवों ने ऋतुओं और संवत्सर को जीता और ऋतु और ''संवत्सर'' के विजय द्वारा शत्रुओं को पराजित किया। इसीलिए जिस प्रकार देव घृत द्वारा ही संवत्सर को अपने वश में करते हैं इसी प्रकार यहाँ भी यजमान संवत्सर करते हैं। संवत्सर को उसी के पय से अपनाता है। इसीलिए कहा गया है कि ये ''प्रयाज'' आहुतियाँ घी से दी जाती हैं। यहाँ तात्पर्य है कि जिस तरह वर्ष संवत्सर के जीतने से खूब खेती होती है तो गोधन हृष्ट–पुष्ट होता है। उनके हृष्ट–पुष्ट होने से खूब पय मिलता है, खूब पय से खूब घृत होता है। प्रचुरमात्रा के घी से खूब यज्ञ होता है। इसीलिए उत्तम घृत से संवत्सर और संवत्सर से घृत होता है। यह परस्पर समन्वय ही यज्ञ का प्रतीक है। परस्पर ही स्नेह भावना रखना ही यज्ञ है।

यहाँ विभिन्न मत भी हैं –

स यत्रैव तिष्ठन् प्रयाजेभ्य आश्रावयेत्।
तत एव नापक्रामेत्।। १–५–३–६

अर्थात् वह जहाँ खड़ा होकर प्रयाजों के लिए आश्रावण विधि अर्थात् उन्हें बुलावे, वह वहाँ से पीछे न हो क्योंकि यह जो प्रयाजों से यज्ञ किया जाता है वह वस्तुतः संग्राम का अभिनय किया जाता है। लड़ने वालों में जो परास्त हो जाता है वह पीछे हट जाता है। जो विजयी होता है वह आगे ही आगे बढ़ता जाता है। इसीलिए आगे ही आगे बढ़ें। आगे ही आगे बढ़ कर आहुति को चढ़ावें। परन्तु याज्ञवल्क्य लिखते हैं–

''तदु तथा न कुर्यात्'' ।। १–५–३–७

तब निश्चय से वैसा न करें। जहाँ से खड़े होकर प्रयाजों के लिए आश्रावण विधि की हो उस स्थान से पीछे न हटें। जहाँ यह देखें कि अग्नि प्रदीप्ततम है वहाँ आहुति को चढ़ावें, क्योंकि आहुतियों की समृद्धि इसी में है कि जहाँ प्रदीप्त अग्नि हो वहाँ हवन किया जावे।

अब आगे यथासमय करने का विधान करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि अध्वर्यु यजमान को बुलाकर होता से कहेः–

''समिधो यजे''ति। तद् वसन्त समिन्द्धे स
वसन्तः समिद्धः अन्यान् ऋतून् समिन्धे ऋतवः
समिद्धाः प्रजाश्च प्रजनयन्ति ओषधीः च पचन्ति
तद् उ एव खलु सर्वान् ऋतून् निराह अथ यज यज
इति एव उत्तरान् आह अजामितायै जामि ह
कुर्याद् यत् तनूनपातं यज ईड उ यज इति
ब्रूयात् तस्मात् यज यज इति एव उत्तरान् आह।। १–५–३–८

इस आश्रावण विधि को करके अध्वर्यु यजमान को बुला कर होता से कहता है ''ओं समिधो यज'' । इतना पाठ कहकर वह वसन्त ऋतु का समिन्धन करता है। वसन्त के समिन्धन से सब ऋतुओं का समिन्धन हो जाता है। प्रज्वलित ऋतुएँ प्रजा को उत्पन्न करती हैं तथा ओषधियों को पकाती हैं। इसी कथन से अन्य ऋतुओं को भी शामिल

करता है। वसन्त के योग में ''समिधो यज'' ऐसा कहा जायेगा और अन्य प्रयाजों में केवल ''ओं यज'' ''ओं यज'' इस तरह कहा जायेगा। यह असमानता के लिए व वसन्त को विशिष्टता देने के लिए है। अब यदि वह कहे ''तनूनपातं यज'' वा ''ईडो यज'' तो यह व्यर्थ का दुहराना होगा। इसीलिए अन्य आहुतियाँ के लिए ''यज'' इतना कह दिया है।

इसीलिए अब वह समिधाओं से यजन करता है। ''समित्'' नाम ऋतुओं में वसन्त का है। वसन्त को ही देवों ने अपना लिया और वसन्त से ही शत्रुओं को वञ्चित कर दिया। बस इस मर्म को जानने वाला वसन्त को वश में कर लेता है और शत्रुओं को वसन्त से वञ्चित कर देता है। अतः समिधा से यजन करता है।

तात्पर्य है कि होता को विधि–विभाग तथा समय–विभाग को जानते हुए सर्व प्रथम समिध् का समिन्धन करना है। इसी का नाम वसन्त है। जैसे वसन्त ऋतु के आगमन पर जड़–चेतन संसार उल्लास से भर जाता है, सभी पदार्थों में चेतनता प्रतीत होती है, सारा वातावरण खिलखिला उठता है, सुगन्धित व रसभरा हो जाता है, वसन्त यथासमय आता है व यथाविधि प्रकृति में बदलाव आता है, वैसे ही यजमान का जीवन भी वसन्त की तरह सुगन्धि से, स्नेह से तथा प्रसन्नता से युक्त होकर यथा–विधि, यथा–समय यज्ञ करने वाला होना चाहिए। तभी वह वसन्त को जीतने वाला बनेगा तभी जाकर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करेगा।

वसन्त के पश्चात् ग्रीष्म ऋतु आती है, इस सन्दर्भ में भी याज्ञवल्क्य लिखते हैं–

> अथ तनूनपातं यजति। ग्रीष्मो वै तनूनपाद् ग्रीष्मो
> हि आसां प्रजानां तनूः तपति ग्रीष्ममेव तद्देवा
> अवृञ्जत ग्रीष्मात् सपत्नान् अन्तरायन् ग्रीष्मम् उ
> एव एष एतद् वृङ्क्ते ग्रीष्मात् सपत्नान् अन्तरेति।
> तस्मात् तनूनपातं यजति।। १–५–३–१०

अर्थात् अब वह यजमान का होता यजमान से ''तनूनपात्'' नामक यज्ञ को करता है। तनूनपात् उस यज्ञ को कहते हैं जिसमें शरीर का पतन न हो। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ''यस्तनूनि शरीराणि न पातयति सः'' (ऋ. १.१८८.२) ऐसी ही व्युत्पत्ति दी है। तात्पर्य हुआ कि जो हमारे इस शरीर को सुरक्षित रखे वही ''तनूनपात्'' यज्ञ है।

ग्रीष्म ऋतु ही ''तनूनपात्'' है। ग्रीष्म ऋतु ही सम्पूर्ण प्रजाओं के शरीरों को तपाता है। देवों ने भी यह देखकर उस समय असुरों पर विजय प्राप्त करने के लिए ग्रीष्म को अपनाया और ग्रीष्म से शत्रुओं को वञ्चित कर दिया। अब यह यजमान भी जब ग्रीष्म ऋतु में इस यज्ञ को प्रारम्भ करता है तो मानो वह अपने शत्रुओं को ग्रीष्म से वञ्चित कर देता है, परास्त कर देता है। इसीलिए वह ''तनूनपात्'' से यज्ञ करता है।

यहाँ यह जान लेना चाहिए कि ग्रीष्म ऋतु को जिसने नहीं तपा वह ''तनूनपात्'' यज्ञ कर ही नहीं सकता तथा जिसने तप लिया उसका सम्पूर्ण शरीर सुरक्षित रहता है। ग्रीष्म ऋतु में प्रकृति के अन्दर दृढ़ता आती है उसी तरह से ग्रीष्म ऋतु में यथाविधि, यथासमय यजन करने से मनुष्य के जीवन में दृढ़ता आती है। यह दृढ़ता ही मानव जीवन के उत्थान का कारण बनती है। उसका यह शरीर फिर कहीं भी पतित नहीं होता क्योंकि उसने ग्रीष्म को तपा है यही ''तनूनपात्'' यज्ञ है।

ग्रीष्म के पश्चात् वर्षा ऋतु आती है जिसके सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य लिखते हैं–

अथेडो यजति। वर्षा वा इड इति हि वर्षा इडः
यद् इदं क्षुद्रं सरीसृपं ग्रीष्महेमन्ताभ्यां
नित्यक्तं भवति तद् वर्षा ईडितम् इव अन्नम्
इच्छमानं चरति तस्माद् वर्षा इडः।। १–५–३–११

अब वह 'इड' का यज्ञ करता है। यह वर्षा ऋतु ही ''इड'' है। ये जितने छोटे–छोटे जीव–जन्तु सरीसृपादि हैं वे सभी ग्रीष्म और हेमन्त के प्रभाव से निस्सत्त्व से अर्थात् मृतप्राय से हो जाते हैं परन्तु वर्षा की बूँद पड़ते ही उनमें जान–सी आ जाती है और वे मानो अन्न को चाहते हुए अकड़े–अकड़े हुए से विचरने लगते हैं। इसीलिए वर्षा ''इडः'' है। इसीलिए अब देवों ने वर्षा को वश में कर लिया तथा वर्षा से शत्रुओं को वञ्चित कर दिया। अतः जो यजमान ''इड'' का हवन करता है वह वर्षा ऋतु पर अधिकार कर लेता है। शत्रुओं को वर्षा से वञ्चित कर देता है। इसीलिए वह ''इडो यजति'' अर्थात् वर्षा ऋतु में यज्ञ करता है।

प्रायः करके देखा गया है कि ग्रीष्म के कारण जो वृक्षादि जीव–जन्तु अथवा हेमन्त की बर्फ से जो जीव अकड़ से जाते हैं वे सभी वर्षा के आते सजीव हो जाते हैं। देवों

ने जब इस दृश्य को देखा तो उन्होंने वर्षा ऋतु को अपना लिया। उसी ऋतु में यज्ञ प्रारम्भ किया उसे न छोड़ा। तथा उससे शत्रुओं को परास्त कर दिया, जो यजमान इस ऋतु के आने पर यज्ञ को यथा–विधि, यथा–समय करता है वह भी अपने शत्रुओं को परास्त कर देता है। अतः ''इडो यजति'' इति।

अब आगे ''शरद्'' ऋतु आती है, उसके सन्दर्भ में भी याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

अथ बर्हिः यजति। शरद् वै बर्हिः इति हि शरद् बर्हिर्
याः इमा ओषधयः ग्रीष्महेमन्ताभ्यां नित्यक्ता
भवन्ति ताः वर्षाः वर्द्धन्ते ताः शरदि बर्हिषः रूपम्
प्रस्तीर्णाः शेरे तस्मात् शरद् बर्हिः।। १–५–३–१२

शरद् ऋतु के आगमन पर यजमान ''बर्हि'' नामक यज्ञ का विधान करता है। ''बर्हि'' नाम शरद् का है। शरद् को ''बर्हि'' इस तात्पर्य से कहते हैं कि इस ऋतु में ये ओषधियाँ, वृक्ष, वनस्पतियाँ आदि ग्रीष्म और हेमन्त में क्षीण–प्रायः हो जाती हैं तथा वे वर्षा ऋतु में बढ़ती हैं। वे शरद् में इस तरह से बिछ जाती हैं मानो आसन बिछा दिया गया हो। इसीलिए शरद् को बर्हि कहा गया है। ''शरद्'' ऋतु का इतना महत्त्व देखकर देवों ने उसे अपना लिया और शत्रुओं को उससे वञ्चित कर दिया। देवों की तरह यह यजमान भी शरद् को अपनाता है। शत्रुओं को ''शरद्'' से वञ्चित कर देता है अर्थात् उन्हें सम्पूर्ण धन–धान्य से वञ्चित कर देता है। शरद् ऋतु तक सभी फसलें तथा औषधियाँ–वनस्पतियाँ पूर्णतया पक जाती हैं। कृषक उन्हें समेट लेता है। अतः शरद् का यज्ञ करना प्रारम्भ कर देता है। इसीलिए ''बर्हि'' का यजन सम्पादित करता है।

अब इससे आगे ''हेमन्त'' ऋतु आती है। उसके सन्दर्भ में भी याज्ञवल्क्य लिखते हैं –

अथ स्वाहा स्वाहा इति यजति। अन्तो वै
यज्ञस्य स्वाहाकारः अन्तः ऋतूनां हेमन्तः
वसन्ताद् हि पराद्धर्यः .... ।। १–५–३–१३

अब अन्त में ''हेमन्त'' ऋतु के आने पर यजमान ''स्वाहा–स्वाहा'' कहकर अपने यज्ञ को करता है। यह ''स्वाहाकार'' यज्ञ की समाप्ति या अन्त है। यह स्वाहाकार हेमन्त ऋतु का प्रतिनिधि है। हेमन्त भी ऋतुओं का अन्त है। वसन्त ऋतुओं का आदि है और हेमन्त अन्त है। अन्तिम ऋतु के लिए अन्तिम सूचक ''स्वाहा'' शब्द का यहाँ प्रयोग किया गया है। वसन्त आदि में है और हेमन्त अन्य ऋतुओं की अपेक्षा बहुत ही दूर में है। देवों ने अन्त ''स्वाहा'' से ही अन्त हेमन्त को अपनाया और अन्त की सहायता से ही शत्रुओं को वञ्चित किया। इसी प्रकार यह यजमान भी अन्त से ही अन्त को अपनाता है और इसी अन्त–स्वाहा–यज्ञ की सहायता से अन्त अर्थात् हेमन्त से अपने शत्रुओं को वञ्चित कर देता है। इसीलिए वह ''स्वाहा'' यज्ञ करता है।

प्रकृति का यह नियम है कि हेमन्त में वृक्षादि ओषधि, वनस्पतियों में पोषक–तत्त्व का सञ्चय होता रहता है। वसन्त के आते ही वे एकदम से विकसित हो उठते हैं। इस प्राकृतिक नियमानुसार यह हेमन्त की ही महिमा है कि वसन्त भी हेमन्त के सहारे पुनर्जीवित हो उठता है। इसीलिए जो इसके तत्त्व को जानता है वह भी फिर नया हो जाता है। उसमें वार्धक्य अर्थात् वृद्धा अवस्था आती ही नहीं है। क्योंकि यथाविधि के अनुसार यथासमय किये गये यज्ञ से एक के पश्चाद् दूसरा यज्ञ पैदा हो जाता है। इसीलिए जो पुरुष इस रहस्य को समझता है वह इस लोक में पुनर्जीवित हो जाता है।

हम भी सदैव युवा बने रहें उसके लिए हमें यज्ञ की यथाविधि यथासमय की परम्परा को अपनाना है। यह तभी सम्भव है जब हम भी ऋतुओं की तरह एक के बाद एक यज्ञ को करते हैं क्योंकि वसन्त की सफलता का रहस्य हेमन्त के ही गर्भ में छिपा है।

* * *

५७-सप्तपञ्चाशत्तमपाथेयम्

समानयन विधि

कर्मकाण्ड के क्षेत्र में विशेषतः यज्ञ के प्रकरण में इस विधि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ''समानयन–विधि'' उस विधि को कहते हैं जिस में यज्ञ से पूर्व यजमान घृत को वेदि पर लाता है इसी को समानयन विधि माना गया है। इस विधि का महत्त्व इसलिए भी है क्योंकि याज्ञवल्क्य ने घृत को वीर्य माना है। जैसे माँ के गर्भ में मिला हुआ वीर्य प्रजा की उत्पत्ति का कारण होता है उसी तरह यह घृत भी बारम्बार प्रजाओं की उत्पत्ति का कारण बनता है। वैसे भी यजमान के लिए सबसे पहले यज्ञ का लाभ ''प्रजया वर्धय'' इस प्रार्थना के द्वारा प्रार्थित किया जाता है। हम सभी यज्ञ द्वारा प्रजा के इच्छुक हैं अतः इस यजन में यजमान द्वारा ''समानयन विधि'' की जाती है। इस विधि पर महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है–

> अथ चतुर्थे प्रयाजे समानयति बर्हिषि। प्रजा वै बर्ही रेत आज्यम्
> तत् प्रजासु एव एतद् रेतः सिच्यते। तेन रेतसा सिक्तेन इमाः
> प्रजाः पुनः अभ्यावर्त्तम् प्रजायन्ते तस्माद् चतुर्थे प्रयाजे
> समानयति बर्हिषि।। १–५–३–१६

अब चौथे इस प्रयाज अर्थात् बर्हि यज्ञ में यजमान द्वारा लाये गए घृत को यज्ञ के घृत–पात्र में मिलाता है। यही ''समानयन–विधि'' है। इस प्रयजन अर्थात् प्रयाज का नाम बर्हि है। इस बात को समझ लेना होगा कि ''बर्हि'' नाम प्रजा का है। अतः इस प्रकार वीर्य प्रजाओं से सिंचित होता है और उसी से प्रजाएँ बार–बार उत्पन्न होती हैं। इसीलिए चौथे प्रयजन प्रयाज में समानयन करता है अर्थात् लाए हुए घृत को जुहू में डालता है। घृत को जुहू में डालना ही मानो वीर्य का सिञ्चन होता है। इसीलिए हम प्रार्थना भी करते हैं –

> ''वर्धय चास्मान् प्रजया''

अर्थात् हमें प्रजा के साथ बढ़ाओ। हम प्रजा द्वारा बढ़ने वाले बनें, यही यजमान की प्रार्थना भी होती है।

यज्ञ में यह प्रक्रिया एक संग्राम के समान प्रतीत होती है। जैसे संग्राम में जब कोई अन्य मित्र बनकर सहायक होता है तो जो मित्र जिस दल में मिल जाता है उसी की जय होती है। इसीलिए उपभृत् मित्र चलकर जुहू में मिल जाता है और उसी से जय को प्राप्त होता है। इसी कारण से इस चौथे प्रजनन में घृत से बर्हि यज्ञ को सम्पन्न करता है।

इस चतुर्थ प्रयाज में यजमान जुहू है और जो उसका विरोधी है वह उपभृत् की तरह है। इस तरह यजमान के लिए इस क्रिया द्वारा उससे द्वेष करने वाले के लिए बलि अर्थात् कर रूप में बलि का विधान किया जाता है। संसार में भी देखा गया है कि शत्रु बलवान् को पूजा–भेंट देकर प्रसन्न करता है। यही चौथे प्रयाज में समानयन–विधि की जाती है।

इस समानयन विधि के पश्चात् घृतपात्र को उपभृत् से स्पर्श न होने दें। यदि वह उसको छू लेता है तो मानो यजमान अहितकारी शत्रुओं से छू गया अथवा खाने वाले को खाद्य के ऊपर उठाता है। ऐसा न हो, अतः उपभृत् से जुहू को स्पर्श न करता हुआ 'समानयन' करता है।

अब अन्त में समानयन के समय ''जुहू'' को ऊपर उठाता है। इस क्रिया द्वारा यजमान को अहितकारी शत्रुओं से ऊपर उठाता है। अथवा खाने वाले को खाद्य से ऊपर उठाता है। इसीलिए ''जुहू'' को ''उपभृत्'' से ऊँचा रखता है।

याज्ञवल्क्य के अनुसार यहाँ इस बात को समझना चाहिए कि –

यजमान एव जुहूमनु।। १–५–३–१८

अर्थात् यज्ञ यजमान की ''जुहू'' के समान है क्योंकि उसमें यज्ञ के लिए घृत रखा गया है। घृत से जैसे उसकी चमक बढ़ती है उसी तरह से यजमान भी घृतवद् ओजस्वी–तेजस्वी होना चाहिए।

यज्ञ का वह घृत पात्र बर्हि अर्थात् सभा स्थल से ऊँचा होना चाहिए। यह इसीलिए की यजमान भी वृद्धि और उच्चता को प्राप्त करें। उसका कोई भी अहितकारी शत्रु न हो। वह प्रजा से वृद्धि को प्राप्त हो यही ''समानयन–विधि'' है।

* * *

यज्ञ को दृढ़ता के साथ संस्थापित करो

यज्ञ कोई साधारण कर्म नहीं है, इसे संसार का श्रेष्ठतम कर्म माना गया है। ऐसे इस कर्म को यजमान उस प्रभु के शुभाशीर्वाद से सर्वतो हिताय बड़े उत्साह के साथ प्रारम्भ करता है। उस समय उसके लिए यज्ञ से बढ़ कर कोई कर्म नहीं होता और वह नहीं चाहता कि उसके इस महान् कर्म में कोई भी असुर व राक्षस आकर यज्ञ में विघ्न पैदा करे। धीर–वीर–गम्भीर पुरुष सभी तरह के विघ्न बाधाओं को तरने में समर्थ होता है। क्योंकि यज्ञ करते हुए वह दैवी नौका पर सवार होता है। अतः संसार–भँवर में उसके डूबने की कोई सम्भावना नहीं रहती है। अतः हमें यह यज्ञ बड़ी दृढ़ता के साथ प्रारम्भ करना चाहिए, इसीलिए कहा भी है ''देवाधीनमतः परम्''। इस यज्ञ की सफलता–असफलता उस प्रभु के आधीन है। हम तो इस संसार में कर्म करने के लिए ही आये हैं। अतः हमने संसार का श्रेष्ठतम कर्म यह यज्ञ बड़ी दृढ़ता के साथ करना है। जिस संदर्भ में पाँचवें उत्तम प्रयाज में याज्ञवल्क्य भी लिखते हैं–

देवा ह वा ऊचुः। हन्त विजितम् एव अनु
सर्वं यज्ञं सँस्थापयाम यदि नः असुररक्षसानि
आसजेयुः। संस्थित एव नो यज्ञः स्यादिति।। १–५–३–२१

यह अन्तिम पाँचवाँ प्रयाज हेमन्त का प्रतीक है। हेमन्त ऋतु के पतझड़–अवसाद दूर करने के लिए इस पंचम प्रयाज को वसन्त के अभ्युदय के लिए किया जाता है। अतः याज्ञवल्क्य जी कहते हैं –

''देवों ने कहना प्रारम्भ कर दिया कि अब हमें इस विजय के साथ ही इस यज्ञ को सम्पन्न कर लेना चाहिए। इस यज्ञ की संस्थापना हमें दृढ़ता से ही करनी होगी। क्योंकि यदि असुर–राक्षस विघ्न भी पैदा करें तो भी हमारा यज्ञ दृढ़ रीति से अर्थात् दृढ़ता से संस्थापित हो''।

उस यज्ञ को दृढ़ता के साथ कैसे स्थापित किया जा सकता है? उसकी क्या विधि होगी? कैसे–कैसे मन्त्रों के साथ स्वाहाकार करना है? उस सभी विधि का विशद वर्णन याज्ञवल्क्य ने इस तरह किया है –

त उत्तमे प्रयाजे। स्वाहाकारेण एव सर्वं यज्ञं

समस्थापयन् स्वाहा अग्निम् इति तद्

आग्नेयम् आज्यभागं समस्थापयन्।। १–५–३–२२

अतः इस अन्तिम उत्तम प्रयाज में देवता ''स्वाहाकार'' शब्द से ही यज्ञ को संस्थापित करते हैं। तथा इस यज्ञ में ''स्वाहा अग्निम्'' कहकर जो आज्य भाग चढ़ाया जाता है वह सब आग्नेय आज्य भाग के रूप में सम्पन्न होगा। वह आहुति अग्नि के लिए ही दी गई थी। तदनन्तर कहा जाता है–

स्वाहा सोमम् इति तत् सौम्यम् आज्यभागं

समस्थापयन्।। १–५–३–२२

यहाँ पर ''स्वाहा सोमम्'' यह कह कर जो आज्य भाग चढ़ाया जाता है, वह सभी भाग सोम के लिए होता है। अब फिर दूसरी बार–

स्वाहा अग्निमिति तद् यः एषः उभयत्र अच्युत

आग्नेयः पुरोडाशो भवति तं समस्थापयन् ।। १–५–३–२२

''स्वाहा अग्निम्'' यह उच्चारण करके मानो दर्श और पौर्णमास इन दोनों में विद्यमान आग्नेय पुरोडाश को यज्ञ में संस्थापित किया जाता है।

यह यज्ञ ''अग्नि'' या ''सोम'' के लिए ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण देवों के लिए भी है, इसलिए महर्षि याज्ञवल्क्य ने यहाँ लिखा–

अथ यथा देवतम्। ''स्वाहा देवाः आज्यपाः'' इति तत्

प्रयाजानुयाजान् समस्थापयन्।। १–५–३–२३

अब इसके पश्चात् देवताओं के क्रमानुसार इस प्रयाज में इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं का नाम उच्चारण कर यज्ञानुकूल जिस–जिस देवता का प्रकरण हो उसके

लिए ''स्वाहा देवाः आज्यपाः'' कह कर ''प्रयाज'' और ''अनुयाज'' को संस्थापित किया जाता है। क्योंकि ''प्रयाज और ''अनुयाज'' ही ये दोनों ''आज्यपा'' माने गए हैं। अब आगे–

''जुषाणः अग्निः आज्यस्य वेतु।। १–५–३–२३

इस कथन का उच्चारण करके स्विष्टकृत् अग्नि को संस्थापित किया जाता है, क्योंकि अग्नि को ही स्विष्टकृत् माना गया है।

यह यज्ञ–अग्नि आजकल भी उसी तरह संस्थापित चली आ रही है जिस तरह ब्रह्माण्ड–महायज्ञ में देव इसे संस्थापित करते थे। इसीलिए अन्तिम प्रयाज में जितनी हवियाँ होती है। उन सबकी ओर निर्देश करके स्वाहा–स्वाहा करते हुए यज्ञ को संस्थापित किया जाता है। इस अभूतपूर्व विजय के साथ ही यज्ञ की दृढ़ता के साथ संस्थापना की जाती है।

यहाँ याज्ञवल्क्य ने यज्ञ के संदर्भ में एक सुन्दर व्यवस्था देते हुए भी कहा है–

तस्माद् यद् अतः ऊर्ध्वं विलोम यज्ञे क्रियेत
न तद् आद्रियेत।। १–५–३–२३

इसीलिए इसके बाद भी यदि यज्ञ में कोई भूल हो जाय, न्यूनाधिक अथवा विपरीत हो जाय तो उसकी बहुत चिन्ता न करें क्योंकि वह यजमान जानता है कि मेरा यज्ञ दृढ़ता के साथ संस्थापित हुआ है। दृढ़ता से संथापित यज्ञ में फिर वषट्कार और स्वाहाकार जो यज्ञ रह गया था वह भी स्वतः ही संस्थापित हो जाता है।

अब यज्ञ तो समाप्त हुआ सा प्रतीत हो गया। मानव समाज इसे पूर्ण ही समझेंगे परन्तु देव लोग तो विचारने लगे कि हम इस यज्ञ को किस तरह से आप्यायित अर्थात् सार युक्त करें। हमें सारयुक्त संस्थापित यज्ञ से आगे बढ़ना है। अब जुहू में जो थोड़ा सा घृत बचा था जिस घृत से यज्ञ सम्पन्न किया जाता है, उसी घृत से क्रमशः फिर हवियों का अभिधारण अर्थात् उसमें और घी मिलाता है। इस प्रकार इन हवियों को सारयुक्त किया जाता है। घृत ही सारहीनता को दूर करने वाला सबसे बड़ा पदार्थ है। अतः पिछले प्रयाज को करके पहले के समान हवियों को सींचता है। फिर उनको पूर्ण

करता है। वह वास्तव में उन हवियों को स्विष्टकृद् आहुति के लिए सारयुक्त करते हैं। जब स्विष्टकृत् के लिए हवि में से टुकड़ा काटा जाता है तो फिर उसको नहीं सींचा जाता। क्योंकि स्विष्टकृत् आहुति के बाद उस हवि में से फिर कोई आहुति अग्नि में नहीं दी जाती।

यहाँ इस बात का हमें ध्यान रखना है कि जिस यज्ञ को हमने दृढ़ता के द्वारा संस्थापित किया है उसका निर्विघ्नता से सम्पूर्ण होना हमारा मुख्य लक्ष्य होना चाहिए। ''स्विष्टकृत्'' आहुति ही यज्ञ की पूर्णता की सूचक होती है। अतः यहाँ पर उन याज्ञिक को सावधान होना चाहिए कि उन्हें ''स्विष्टकृत्'' आहुति मनमाने ढंग से नहीं चढ़ानी चाहिए अपितु यज्ञ की पूर्णता की प्रतीक यह आहुति ''स्विष्टकृत्'' के रूप में अन्तिम ही चढ़ानी चाहिए। ''स्विष्टकृत्'' हवि के लिए बनाये गए हविष्य पदार्थ से काट कर – दाहिने हाथ में रख कर–मन्त्रपूर्वक इस हविष्य पदार्थ को चढ़ाना चाहिए।

इसे ''स्विष्टकृत्'' इसीलिए भी कहा जाता है कि यजमान की जो अभिलषित कामनायें हैं उनको अच्छी तरह पूर्ण करना उस प्रभु का ही कार्य है, जिसकी कृपा से हमने इस यज्ञ को दृढ़तापूर्वक संस्थापित किया है।

* * *

५९-एकोनषष्टितमपाथेयम्

अथ पञ्च प्रयाजाः

महर्षि याज्ञवल्क्य इस सन्दर्भ में प्रयाजों के माध्यम से मनुष्य की उत्पत्ति में पाँच–प्रयाजों का ही महत्त्वपूर्ण योग मानते हैं। सबसे बड़ा साधन मानव–शरीर में विद्यमान प्राण को माना गया है। जब तक प्राण है, तभी तक जहान है। बिना प्राण के यह शरीर सुरक्षित नहीं है। इसी की सुरक्षा के लिए इस प्राण को हम यज्ञ की समिधा बना कर यज्ञ को सम्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं। जैसे समिधाओं से अग्नि चमकती है उसी तरह शुद्ध प्राण से यह शरीर चमकता है। इसी तरह ''तनूनपात्'' प्रयाज यज्ञ भी इसीलिए किया जाता है कि इसके करने से हमने इस ''तनू'' को जो परमपिता परमात्मा के शुभाशीर्वाद से हमें प्राप्त है, उसका हम पतन न होने दें। उसका विस्तार करने का उत्तरदायित्व हम पर है। जिस तरह घृत के सिञ्चन से अग्नि का विस्तार होता है, उसी तरह वीर्य के सिञ्चन से प्रजा विकसित होती है, उसका विस्तार होता है। तदनन्तर उनके पालन–पोषण के लिए ''भूमा'' अर्थात् बहुतायत में अन्नादि की आवश्यकता होती है तभी सन्तान पलती है और वह ऐश्वर्य को प्राप्त करती है। उसका भी एक मात्र साधन यह यज्ञ ही है। अन्त में स्वाहाकार यज्ञ का विधान होता है। इसमें स्वाहा–स्वाहा के साथ राष्ट्र के हित में समाज के उत्थान में तथा परिवार के कल्याणार्थ सभी कुछ अर्थात् अपना सर्वस्व समर्पित करना होता है, जैसे हेमन्त के आने पर सभी वनस्पतियाँ वृक्षादि फूल–पत्तों के साथ अपना सर्वस्व प्रकृति को सौंप देती हैं। ये सभी विषय पंच प्रयाज के माध्यम से याज्ञवल्क्य यहाँ प्रस्तुत करते हुए इस तरह से वर्णित कर रहे हैं–

> स वै समिधो यजति। प्राणाः वै समिधः। प्राणान्
> एव एतत् समिन्द्धे प्राणैः हि अयम् पुरुषः समिद्धः
> तस्माद् अभिमृशेति ब्रूयाद् यदि उपतापी स्यात् स

यदि उष्णः स्यात् एव तावत् शंसेत समिद्धः
हि स तावद् भवति, यदि उ शीतः स्याद् न शंसेत
तत् प्राणान् एव अस्मिन् एतद् दधाति तस्मात्
समिधो यजति।। १–५–४–१

अब अध्वर्यु ''समित्'' नामक प्रयाज का यजन करता है। मनुष्य शरीर में विद्यमान ''प्राण'' ही ''समित्'' है। अतः मनुष्य शरीर में ही प्रथम प्रयाज का यज्ञ किया जाता है क्योंकि वह पुरुष प्राणों द्वारा ही प्रज्वलित रहता है।

अब देखने में भी आता है कि जिस पुरुष में ''प्राण'' रूपी यह अग्नि प्रदीप्त रहती है वह सदैव प्राणवान् रह कर यशस्वितापूर्वक जीवन का यापन करता है। देखा भी जाता है कि प्राणहीन व्यक्ति जब प्राण का परित्याग हो जाता है तो इस अग्नि से रहित होने पर उसका शरीर ठण्डा हो जाता है। उसे ठण्डा देखकर उसे मृत घोषित किया जाता है। यदि उस पुरुष में ताप अर्थात् उष्णता शेष है तो आशा करनी चाहिए कि वह अभी जीवित है इसीलिए उसे समिद्ध माना गया है। यदि वह ठण्डा पड़ गया है तो उसके जीने की कोई आशा नहीं करनी चाहिए। अतः इस प्रथम प्रयाज द्वारा प्राणों का मनुष्य शरीर में आधान करता है। जब आधान होता है तो मनुष्य प्रफुल्लित–विकसित होता है यही मनुष्य जीवनरूपी प्रथम प्रयाज है।

अब वह ''तनूनपात्'' नामक प्रयाज का यजन करता है। याज्ञवल्क्य ने–

''रेतो वै तनूनपात्'' १–५–४–२

अर्थात् मनुष्य शरीर में विद्यमान ''वीर्य'' का नाम ''तनूनपात्'' कहा है। वह वीर्य जब तक तनु अर्थात् शरीर में रहता है उसका पतन नहीं होता। अतः हमारे शरीर का पतन न हो इसीलिए ''तनूनपात्'' ग्रीष्म ऋतु से सम्बन्धित प्रयाज का यजन किया जाता है। शरीर में उष्णता बनी रहनी चाहिए तभी हम सभी सामर्थ्यवान् बने रहेंगे। सभी को ''तनूनपात्'' प्रयाज का यजन करना चाहिए।

अब यजमान ''इड'' नामक प्रयाज का यजन करता है। याज्ञवल्क्य ने उत्पन्न हुई सन्तान को ही ''इड'' माना है। जब सींचा हुआ वीर्य सन्तान के रूप में उत्पन्न होता

है तो उस घर में प्रसन्नता ही प्रसन्नता उत्पन्न हो जाती है। वह सन्तान के लिए अन्न अर्थात् माँ के दूध की तलाश में निकल पड़ता है और माता उस पर दूध की वर्षा करती है। दूध पाकर वह सन्तान जी उठती है। जैसे वर्षा ऋतु में भी सभी जीव जी उठते हैं उसी तरह इस प्रयाज द्वारा वह सन्तति उत्पन्न करता है, इसीलिए ''इड'' नामक प्रयाज का यजन करता है।

अतः सिद्ध हो गया कि यज्ञ का प्रथम लाभ प्रजा का होना है। इसीलिए घोषणा की जाती है कि याज्ञिक का घर कभी भी सन्तानहीन नहीं रहता। ''प्रजा'' उत्पत्ति के साधन इस प्रयाज को सभी को करना चाहिए।

अब यजमान ''बर्हि'' नामक प्रयाज का यजन करता है। यहाँ याज्ञवल्क्य कहते हैं–

अथ बर्हिः यजति। भूमा वै बर्हिः।। १–५–४–३

अब बर्हि नामक प्रयाज से यजन करता है। ''बर्हि'' यहाँ ''भूमा'' को कहते हैं। वहीं ''भूमा'' बहुतायत की प्रतीक है। ऐश्वर्य की सूचक है। कुल में सन्तान की उत्पत्ति बहुतायत की प्रतीक है, क्योंकि सन्तान उत्पत्ति के कारण ही कुल बढ़ता है। अतः यज्ञ में यह ''बर्हि'' प्रयाज शरद् ऋतु का प्रतीक है। सन्तान की उत्पत्ति ''यजमान'' के लिए हृदय की ठण्डक सी होती है, क्योंकि उससे उसके परिवार में ''भूमा'' अर्थात् ऐश्वर्य बहुतायत के रूप में बढ़ता है। अतः यजमान ''भूमा'' के लिए ''बर्हि'' प्रयाज का यजन करता है और अन्त में पाँचवाँ प्रयाज यजन करता है। जिस के सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य इस तरह से कहते हैं –

अथ स्वाहा स्वाहा इति यजति।

हेमन्तः वै ऋतूनां स्वाहाकारः।। १–५–४–५।।

अब वह यजमान ''स्वाहा–स्वाहा'' प्रयाज का यजन करता है। हेमन्त ऋतुओं का ही स्वाहाकार है। हेमन्त ही संसार की सभी प्रजाओं को अपने वश में कर लेता है। इसीलिए हेमन्त में अन्नादि सूख कर मुरझा जाते हैं। वृक्षों के पत्ते झड़ जाते हैं। पक्षी भी सिकुड़ कर छिप से जाते हैं। अपना सिर नीचा करके पड़े रहते हैं। पुरुष के बाल गिरने प्रारम्भ हो जाते हैं। वह विलोम–सा हो जाता है, वह भी सिकुड़ना प्रारम्भ हो जाता है। जैसे हेमन्त अन्तिम ऋतु है उसी तरह जीवन के अन्तिम पड़ाव में वह भी पापी सा

होकर भद्दा ही प्रतीत होता है। अतः जो यजमान इस प्रयाज के महत्त्व को जानता है वह जिस भी भूखण्ड में अर्थात् जहाँ भी पैदा होता है वह उसे अपने आधीन कर लेता है और उससे ही लक्ष्मी और अन्नादि को प्राप्त कर लेता है।

हमने इस अन्तिम प्रयाज के महत्त्व को समझना है। यजमान को अन्तिम ऋतु हेमन्त की तरह बनना है। हेमन्त में सभी वन–औषधियाँ पतझड़ के कारण अपना सर्वस्व प्रकृति को सौंप देती हैं, उसी तरह पुरुष भी झड़ जाता है। पक्षी सिर नीचा किए छुप सा जाता है। यही महत्त्व है इसे समझना है।

यजमान का यज्ञ तभी सफल होता है जब वह भी इस ऋतु की तरह अपना सर्वस्व यज्ञ को सौंप दे। उसके मन में 'ओं यज्ञाय स्वाहा– इदं यज्ञाय इदन्न मम'। जब तक यह भावना हमारे अन्दर नहीं आती हमें यज्ञ का लाभ नहीं प्राप्त होता। यहाँ लेखक समझने के लिए अपनी आँखों से देखे दृष्टांत को दे रहा है।

हिमाचल में कालका–शिमला राजमार्ग पर सोलन नगरी में एक प्राचीन आर्य समाज स्थित है। उस आर्य समाज का वार्षिक उत्सव था। जिस दिन यज्ञ का समापन करना होता है उस दिन लोगों की बहुतायत होती ही है। सभी की इच्छा भी होती है कि हमारी भी आहुति यज्ञ में चढ़नी चाहिए।

एक वृद्धा माता अपने पोते के साथ अपनी आहुति चढ़ाने के लिए यज्ञकुण्ड के पास आती है। आहुति चढ़ाने के लिए प्लेट उसके सामने रखी होती है। वह उससे सामग्री चढ़ा रही है। मैं ब्रह्मा था उस यज्ञ का। पूर्णाहुति होने जा रही है। परन्तु वह वृद्धा माता सामग्री में पड़े अखरोट और छुवारे को नहीं चढ़ा रही। उसे बच्चे की नजरों से बचाती हुई, उसे सामग्री से पृथक् करती रहती है। अन्त में ब्रह्मा के रूप में मुझे कहना ही पड़ा–''माता जी इसे भी आप चढ़ा दीजिए। अब आप सभी याज्ञिक जन उसका भी उत्तर सुनिए। वह माता कहती है–

''आचार्य जी! क्या यह भी चढ़ाने के लिए है ? मैंने तो यह समझा कि ये पदार्थ गलती से इस सामग्री में पड़ गए हैं।''

अब सुधीजन, आप ही बताओ कि जो यज्ञ ऐसी भावनाओं से किया जायेगा क्या उसका फल यजमान को मिलेगा? अखरोट व बादाम की गिरियाँ हम खुद खा जायें और उसका फोकट छिलका सामग्री में चढ़ावें। ऐसे ही पुरुष को पापी माना गया है, उसी पाप से उसका सिर नीचा हो जाता है। उसे यज्ञ के माध्यम से लक्ष्मी और अन्नादि नहीं प्राप्त होते। हम यज्ञ के माध्यम से ही परमपिता परमात्मा से यजमान के लिए

''आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं यजमानं च वर्द्धय''।

यह माँगते हैं अर्थात् यजमान दीर्घजीवी हो, प्राणवान् हो, प्रजावान् हो, पशुओं वाला हो, यशस्वी हो तथा यज्ञ करने वाला यजमान निरन्तर बढ़ने वाला हो। ये सभी बातें तभी सम्भव हैं जब हम भी इन पाँच प्रयाजों के महत्त्व को समझें। महर्षि याज्ञवल्क्य ने ऋतुओं के माध्यम से इन ''पांच–प्रयाजों'' को समझा दिया है।

* * *

देवों की जय और असुरों की पराजय

हमारा प्रत्येक कर्म जय के लिए हुआ करता है। सभी विजय को प्राप्त करना चाहते हैं पराजय की चाहना किसी को भी नहीं होती। ''जय और पराजय'' इन दोनों में से अपने कर्म–अनुसार एक ही को प्राप्त होती है। प्रत्येक व्यक्ति महत्त्वाकांक्षी होता है। इसी महत्त्व के लिए ''देव और असुर'' आपस में लड़–भिड़ पड़े। हममें कौन महान् है इस निर्णय के लिए दोनों प्रजापति के पास जाते हैं। बस कथानक को याज्ञवल्क्य ने इस तरह वर्णित किया है–

> देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ते दण्डैः
> धनुर्भिः न व्यजयन्त। ते ह अविजयमानाः ऊचुः हन्त!
> वाचि एव ब्रह्मन् विजिगीषामहै।। १–५–४–६

इस आख्यायिका के माध्यम से याज्ञवल्क्य पञ्चम प्रयाज के महत्त्व को प्रतिपादित कर रहे हैं। उसमें जिस भी कर्म की बहुतायत होती है वह निर्बल भी विजय को प्राप्त होता है। अब उस आख्यायिका का वर्णन किया जाता है–

''देव'' और ''असुर'' थे। प्रजापति की ये दोनों सन्तानें महत्त्व के लिए आपस में भिड़ पड़ी। उन्होंने आपस में एक–दूसरे को लाठियों से तथा धनुष–बाण से जीतने की इच्छा की। परन्तु इस लड़ाई में किसी की भी जीत न देख कर वे बोले – अब आओ! हम दोनों ब्रह्मवाणी के माध्यम से विजय को प्राप्त करेंगे। इस ब्रह्मवाणी के माध्यम से जो पुरुष अर्थात् पुल्लिंग का स्त्रीलिंग से जोड़ा न बना सकेगा वह सब कुछ हार जायेगा। वह पराजित होकर सब कुछ खो बैठेगा और विपक्षी विजय प्राप्त कर सब कुछ ले जावेगा।

> तथा इति देवाः अब्रुवन् ते देवा इन्द्रम् अब्रुवन्
> व्याहर इति।। १–५–४–६

देवों ने स्वीकार करते हुए कहा ठीक है। यहाँ देवों ने चतुरता दिखाते हुए इन्द्र को अपना प्रतिनिधि बनाकर इन्द्र से निवेदन किया कि आप ही हमारी तरफ से बोलें। हमारा प्रतिनिधित्व आप ही करें, आप ही हमारी ओर से कहें।

अब इन्द्र ने कहना प्रारम्भ किया–''एको मम'' अर्थात् एक मेरा है। एकदम दूसरे दल वाले असुरों ने कहा ''अस्माकम् एका'' अर्थात् हमारी भी एक है। यहाँ जोड़ा मिल गया। एक पुल्लिंग और एक स्त्रीलिंग यह जोड़ा बन गया।

अब आगे फिर इन्द्र ने कहा ''द्वौ मम'' अर्थात् दो मेरे। दूसरे दल वाले असुरों ने एकदम कहा–''द्वे अस्माकम्'' अर्थात् हमारी भी दो। ''द्वौ'' पुल्लिंग और ''द्वे'' स्त्रीलिंग। यहाँ भी जोड़ा बन गया।

आगे फिर इन्द्र ने कहा – ''त्रयो मम'' अर्थात् तीन मेरे। विपक्षी असुर भी बोले–''तिस्रोऽस्माकम्'' हमारी भी तीन हैं। क्योंकि पुल्लिंग में ''त्रय'' और स्त्रीलिंग में ''तिस्रः'' होता है अतः त्रयः और ''तिस्रः'' का यहाँ भी जोड़ा हो गया।

अब इन्द्र ने कहा – ''चत्वारो मम'' अर्थात् मेरे चार। विपक्षी असुरों ने कहा ''चतस्रोऽस्माकम्'' अर्थात् हमारी भी चार। पुल्लिंग में ''चत्वारः'' और स्त्रीलिंग में ''चतस्रः''। यहाँ भी ''चत्वारः'' और ''चतस्रः'' का फिर जोड़ा बन गया।

अब इन्द्र ने एकदम कहा – ''पञ्च मम'' अर्थात् मेरे पाँच। यहाँ विपक्षी असुर ''पञ्च'' का जोड़ा नहीं ढूंढ़ सके। क्योंकि संस्कृत के कोश में व्याकरण में ''पञ्च'' का स्त्रीलिंग होता ही नहीं। अतः पुल्लिंग व स्त्रीलिंग में ''पञ्च'' ही प्रयोग होता है। अतः विपक्षी असुर पराजय को प्राप्त हो गये। देवों ने असुरों को पराजित करके उनका सब कुछ जीत लिया, उन को सर्वस्व से वञ्चित कर दिया।

यहाँ इस बात को समझ लेना चाहिए ''इन्द्र'' जिस का सखा होता है उसकी पराजय नहीं होती उसकी सदैव विजय होती है। मैं हमेशा कहा करता हूँ–

ऊपर वाला जिसके साथ है,
फिर डरने की क्या बात है।
आप भी विश्वास करें।।

* * *

पञ्च प्रयाजों का महत्त्व

इन पाँच प्रयाजों द्वारा सम्पादित यज्ञ का बहुत बड़ा महत्त्व है। प्रत्येक प्रयाज से किये जाने वाले यज्ञ से यजमान अपने शत्रुओं को परास्त करता है। यह पराजय की परम्परा एक से प्रारम्भ होकर पाँच तक पहुँच जाती है। शत्रुओं से घिरा यजमान उद्विग्न रहता है और उद्विग्न यजमान शान्ति–पूर्वक यज्ञ का सम्पादन नहीं कर सकता। इसीलिए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने यज्ञ के प्रारम्भ होने से पूर्व अथर्ववेद का एक मन्त्र शान्तिकरण के अन्त में दिया है और प्रार्थना की है–

अभयं मित्राद् अभयम् अमित्राद् अभयम् ज्ञाताद् अभयम् परोक्षात्।
अभयम् नक्तम् अभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।।

अथर्व. १९–१५–६

इस वेद मन्त्र द्वारा मित्र से, शत्रु से, जानने वाले और न जानने वालों से अभय की, निडरता की प्रार्थना की है। यहाँ तक कि रात व दिन से भी अभय होने की प्रार्थना की गई है। अन्त में–

''सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु'' जीवन के इस यज्ञ में वेद की यह प्रार्थना महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यजमान निर्भीकता पूर्वक शान्ति से यज्ञ सम्पादित करना चाहता है। अतः उसकी प्रार्थना होती है कि –

''मेरे भगवान्! मैं आपका यज्ञ करना चाहता हूँ। निर्विघ्न होकर यज्ञ का सम्पादन तभी सम्भव है जब मेरे लिए ये दशों दिशाएँ मित्रवत् व्यवहार करने वाली हों''।

इसी तरह देवयज्ञ करने से पूर्व छः बार यजमान ब्रह्मयज्ञ करता हुआ प्रार्थना करता है–

योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः।। अथर्व–३–२७–१–६ ।।

अर्थात् हे ईश्वर ! जो हमसे द्वेष करता है या जिससे हम द्वेष करते हैं उन सबको हम तेरे जबड़े में अर्थात् न्याय–व्यवस्था में रखते हैं।

इससे ज्ञात होता है कि सभी प्राणी निर्भीक होकर कार्य का सम्पादन करना चाहते हैं। प्रार्थना का साधन हमारे पास यज्ञ ही है। उसी के माध्यम से हम प्रार्थना करते हैं, जब हमारा यह यज्ञ सम्पन्न हो रहा होता है। हम वेद मन्त्र पढ़ते हैं–

ओ३म् इमं मे वरुण श्रुधी हवम् अद्य आ च मृळय।

त्वाम् अवस्युः आ चके।। ऋ–१–२५–१९।।

अर्थात् हे मेरे वरणीय परमपिता परमात्मन्। इस यज्ञ के माध्यम से मेरी ''हवम्'' अर्थात् पुकार को आज अभी सुनने वाले बनो और सुनकर मेरे प्रभो ! नाराज नहीं होना मैं अज्ञानी हूँ। मुझे प्रार्थना करनी नहीं आती जैसा भी हूँ आपका हूँ। अतः मेरी पुकार को आपने प्रसन्नता पूर्वक सुनना है, चारों तरफ प्रसन्नता को आपने प्राप्त करना है। बस मेरी एक ही इच्छा है कि मुझे आपकी गोद में बैठने का सौभाग्य प्राप्त हो, क्योंकि मैं सर्वथा सुरक्षित रहना चाहता हूँ।

महर्षि याज्ञवल्क्य भी इन्हीं मन्त्रों की भावनाओं को पञ्च प्रयाजों के माध्यम से अभिव्यक्त करते हुए अपने पवित्र ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण में लिखते हैं–

''तस्मात् प्रथमे प्रयाज इष्टे ब्रूयात्।। १–५–४–१२

अर्थात् प्रथम प्रयाज से यज्ञ करते हुए यजमान को हृदय से प्रार्थना करनी चाहिए–

''एको मम इति एका तस्य यम् अहम् द्वेष्मि'' इति।। १–५–४–१२

अर्थात् मेरा एक। एक उसका जिसको हम द्वेष करते हैं अर्थात् न हमसे कोई द्वेष करे, न हम किसी से भी विद्वेष करें। यदि किसी को द्वेष न करें तो कहें–

''योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः।। १–५–४–१२

अर्थात् जो हम से द्वेष करता है जिससे हम द्वेष करते हैं। ''उसे प्रथम प्रयाज के यजन से दग्ध करते हैं। न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी'' यह कहावत चरितार्थ

होगी। यह प्रथम प्रयाज के यजन की व्यवस्था है। अब आगे दूसरे प्रयाज के सन्दर्भ में कहते हैं–

''द्वौ मम'' इति द्वितीये प्रयाजे।। १–५–४–१३

द्वितीय प्रयाज से यजन करते हुए यजमान को प्रार्थना करनी है–दो मेरे।।

''द्वे तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः'' इति।।

''दो उसकी जो हमसे द्वेष करता है और जिसको हम द्वेष करते हैं'' इस तरह द्वितीय प्रयाज से द्वेष को भस्म करते हैं।।

अब आगे तीसरे प्रयाज से यजन करते हैं–

''त्रयः मम'' इति तृतीये प्रयाजे। तिस्रः तस्य
योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः'' इति।। १–५–४–१४

अब इस तृतीय प्रयाज का यजन करते हुए प्रार्थना करनी चाहिए कि ''तीन मेरे और तीन उसकी जो हमसे द्वेष करें और हम जिसके साथ द्वेष करते हैं''। इस तरह तृतीय प्रयाज के यजन से द्वेष को दूर भगाते हैं।

अब चतुर्थ प्रयाज से यजन करता है–

''चत्वारो मम'' इति चतुर्थे प्रयाजे। चतस्रः तस्य
योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः'' इति।। १–५–४–१५

अब चतुर्थ प्रयाज से यजन करते हुए प्रार्थना करनी चाहिए कि–''चार हमारे और चार उसकी जो हम से द्वेष करता है'' और जिससे हम द्वेष करते हैं। इस तरह चतुर्थ प्रयाज से द्वेष को शान्त करता है।

अब अन्त में पंचम प्रयाज से यजन करता हैः–

''पञ्च मम इति पञ्चमे प्रयाजे। न तस्य किंचन
योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः''। इति।। १–५–४–१६

पञ्चम प्रयाज से यजन करता हुआ यजमान प्रार्थना करता है कि – ''पाँच मेरे और उसके लिए कुछ नहीं जो हमसे द्वेष करता है या हम जिससे द्वेष करते हैं। यहाँ पाँचवे प्रयाज के यजन से द्वेष को पराजित करता है।

आगे याज्ञवल्क्य इस का उपसंहार करते हुए बहुत ही सुन्दर वाक्य का प्रयोग करते हैं, जो यजमान के सर्वथा हित में है –

''पञ्च पञ्च इत्येव भवन् पराभवति तथा अस्य
सर्वं संवृङ्क्ते सर्वस्मात् सपत्नात् निर्भजति
यः एवम् एतद् वेद'' ।। १–५–४–१६

इस प्रयाज में पाँच–पाँच बोलता हुआ विरोधियों को पराजित करता है। वह उसका सब कुछ छीन लेता है। सर्वस्व से विरोधियों को वञ्चित कर देता है। जो यजमान इस रहस्य को जानता है और जानने का प्रयत्न करता है उसको सब कुछ मिल जाता है। वह सभी तरह के अपने शत्रुओं को परास्त कर देता है।

शत्रु रहित जीवन व्यतीत करने के लिए ही याज्ञवल्क्य ने इन प्रयाजों के यजन की व्यवस्था हमारे लिए व्यवस्थित की है। हमें भी यजन करते हुए विद्वेष रहित जीवन व्यतीत करने के लिए –

''योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः'' इस तरह की प्रार्थना करते रहना चाहिए।।

* * *

अग्नि और प्रयाजों का परस्पर सम्बन्ध

इस महत्त्वपूर्ण अध्याय में अग्नि और प्रयाजों का परस्पर सम्बन्ध किस तरह का है, इसका विवेचन किया जायेगा। यज्ञ का साधन अग्नि है। इसका किस तरह से प्रयोग करना है यह यजमान पर निर्भर करता है।

कुछ लोग अग्नि का प्रयोग मात्र रोटी पकाने के लिए, स्नान के लिए जल गर्म करने के लिए तथा स्वयं पीने के लिए ही करते हैं। इस तरह से व्यक्तिगत स्वार्थ को पूरा करना असुर प्रयोग हुआ करता है।

दूसरी ओर परतः कल्याण के लिए अपने आपको आहुति के रूप में, हृदय में स्वार्थ–भावना का परित्याग करना तथा निःस्वार्थ भावना से यज्ञ की अग्नि को जलाना देव प्रयोग है। हम सब आहुतियाँ निःस्वार्थ भाव से चढ़ाने वाले बनें तभी यह हमारा अग्नि प्रयोग प्रजा व देवों के लिए प्राप्त होगा। यहाँ याज्ञवल्क्य ने इस महत्त्व को ''अग्नि और ऋतुओं'' के परस्पर संवाद से समझाने का प्रयत्न किया है। वह संवाद इस तरह से है –

''ऋतवः ह वै देवेषु यज्ञे भागम् ईषिरे। आ नो यज्ञे भजत।
मा नो यज्ञाद् अन्तर्गताः तु एव नः अपि यज्ञे भागः'' इति।। १–६–१–१

ऋतु के अनुसार यज्ञ करने पर देवों को तो भाग मिलना प्रारम्भ हो गया क्योंकि यजमान द्वारा किया गया यज्ञ देवों को ही प्राप्त होना चाहिए। ऐसा देख कर ऋतुओं ने भी चाहना की कि हमें भी यज्ञ में हमारा भाग दो। कम ज्यादा नहीं, हम भी बराबरी की हकदार हैं अतः हमें भी भागी बनाओ। हमें यज्ञ से बहिष्कृत अर्थात् बाहर न निकालो। हमारा भी यज्ञ में भाग होना चाहिए। परन्तु–

तद् वै देवाः न जज्ञुः। १–६–१–२

ऋतुओं की इस बात को देवों ने अनसुना कर दिया वे देव नहीं माने। इस पर ऋतुएँ असुरों के पास चली गईं, जो देवों के अप्रिय तथा शत्रु और अहितकारी थे अर्थात् विरोधी–पक्ष से जा मिलीं।

ऋतु के साथ मिलने से असुरों ने उसी उन्नति को प्राप्त करना प्रारम्भ कर दिया जो देवों को प्राप्त थी। जो असुर आगे–आगे हल जोतते थे, पीछे से उसी को दूसरे असुर काटते और इकट्ठा करते जाते थे। इनके लिए तो मानो बिना हल जोते ही ओषधियाँ झट से पक जाती थी अर्थात् असुर ज्यों ही हल जोतते थे, बोते थे, त्यों ही बिना समय लेते फसल काटते थे। आगे–आगे बोते थे पीछे–पीछे काटते थे क्योंकि ऋतुएँ उनके साथ थीं।

असुरों को बढ़ता देखकर देवों के हृदय में गहरी चोट लगी, क्योंकि यह तो हमारे लिए बहुत ही छोटेपन की बात हुई। जो शत्रु कल तक दबा हुआ था आज हम से आगे निकल रहा है। असुरों ने सभी हदों को पार कर दिया है। इनकी हद बढ़ गई है। इन्होंने हमारा भाग देना भी बन्द कर दिया है। अब वे हमारे अराति हो गये हैं। अब हमें ऐसी ही कोई तरकीब सोचनी चाहिए जिससे कि यह व्यवस्था बदल जावे।

अब देवों ने परस्पर विचार–विमर्श करना प्रारम्भ किया और फिर वे बोले – हमें ऐसा उपाय सोचना चाहिए कि इन ऋतुओं को निमन्त्रण देकर अपने साथ मिला लें। इससे वे हमारे पक्ष में हो जायेंगी फिर से सारी व्यवस्था बदल जायेगी, परन्तु कैसे मिलावें? यह बड़ा प्रश्न हमारे सामने खड़ा है। उत्तर दिया – ''यज्ञ में सर्वप्रथम इनके नाम की आहुति दी जानी चाहिए। तभी ऋतुएँ देवों के पक्ष में हो सकती हैं''।

यह विचार–विमर्श जब किया गया तो अग्नि को सन्देह हो गया कि अब मेरा क्या होगा? क्योंकि पहली आहुति तो यज्ञ में ऋतुओं को चढ़ेगी, इससे यज्ञ का भाग भी उन्हें ही मिलेगा? इस जिज्ञासा को याज्ञवल्क्य ने इस तरह से यहाँ पर दर्शाया है–

> सः ह अग्निः उवाच। अथ यत् मां पुरा प्रथमं यजथ
> क्वाहं भवानि–इति।। १–६–१–६

इस व्यवस्था पर अग्नि बोला–''अब तक तो तुम यज्ञ में मेरे नाम की प्रथम आहुति देते रहे हो। ऋतुओं को प्रथम आहुति देने के पश्चात् मेरा क्या बनेगा? अब मैं कहाँ जाऊँ? यहाँ अब देवों ने कहना प्रारम्भ किया कि ''हम तुम को तुम्हारे स्थान से नहीं हटायेंगे।'' अब ऋतुओं को बुलाने पर देवों ने अग्नि को अपने स्थान से च्युत नहीं किया। इसीलिए अग्नि ''अच्युत'' है। यहाँ याज्ञवल्क्य ने बहुत सुन्दर उपदेश याज्ञिकों के लिए दिया है–

''न ह वा आयतनात् च्यवयते यस्मिन् आयतने भवति''

यः एवम् एतम् अग्निम् अच्युतम् वेद।। १–६–१–६

अर्थात् जो इस तरह से इस अग्नि के अच्युत मार्ग को जानता है और इस अग्नि को अच्युत समझता है, मानता भी है वह जिस स्थान पर स्थित है उस स्थान से कभी भी च्युत नहीं होता वह भी अग्नि की तरह अच्युत हो जाता है। अपने कार्य में अडिग रहने वाला अच्युत व्यक्ति ही कार्य में सफलता को प्राप्त करता है। अग्नि का गुण उष्णता है। यह अपनी तेजस्विता का परित्याग कभी भी नहीं करता। अतः हमें भी तेजस्विता से युक्त बनना है और अपने स्थान से कभी भी च्युत नहीं होना। क्योंकि नीतिकार ने कहा भी है –

''स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्तकेशनखनराः'' ।।

अर्थात् दन्त, केश, नाखून और पुरुष अपने–अपने स्थान पर टिके रहने से ही शोभायमान होते हैं, स्थान से च्युत होने पर इनकी वह शोभा, वह सुन्दरता समाप्त हो जाती है। अतः हमें भी स्थान से अच्युत बनना होगा।

देवों ने अग्नि को जब अच्युत कर दिया तो अग्नि के पास अब और कोई दूसरा विकल्प नहीं था। अब देवों ने अग्नि से कहा – ''जाओ अब तुम्हीं ऋतुओं को आने का निमन्त्रण दो उन्हें यहाँ बुलाओ''। अग्नि ऋतुओं के पास गया और बोला–

''हे ऋतुओ!'' देवों के पास लौट आओ, मैंने यज्ञ में तुम्हारे लिए भाग प्राप्त करवा दिया है। तुम्हें तुम्हारा भाग यज्ञ में अब प्राप्त होगा।

अब ऋतुओं ने कहा–''कैसे प्राप्त होगा? इसके लिए तुमने किस तरह का प्रयत्न किया कि यज्ञ में हमारा भाग प्राप्त होगा?

इस पर अग्नि ने कहा–

''प्रथमान् एव वः यज्ञे यक्ष्यन्ति'' इति।। १–६–१–७

यज्ञ में देव तुम्हारे लिए ही प्रथम आहुति प्रदान करेंगे। यज्ञ में सर्वप्रथम तुम्हारा ही यजन होगा।

अब जब सहमति परस्पर हो गई तो ऋतुओं ने भी अपनी उदारता दिखानी प्रारम्भ की। ऋतुओं ने कहा – ''हे अग्नि देव ! हम तुम को अपने साथ यज्ञ में भाग देंगे'' क्योंकि तुमने हमें यज्ञ में भाग दिलवाया है। इसीलिए यह अग्नि ऋतुओं में सम्मिलित है। अतः यज्ञ में बोलते हैं–

१. समिधो अग्ने। २. तनूनपात् अग्ने

३. इडो अग्ने। ४. बर्हिर् अग्ने

५. स्वाहा अग्निम्।।

उपरोक्त इन पाँच ऋतुओं के पाँचों प्रयाजों में सर्वत्र अग्नि का नाम है। अतः निश्चित हो गया कि ऋतुओं के साथ अग्नि का भी भाग है। पृथक्–पृथक् भाग की कल्पना निरर्थक है।

अतः यहाँ पर याज्ञवल्क्य बहुत ही सुन्दर उपदेश करते हुए कहते हैं–

ह वै तस्यां पुण्यकृत्यायां भवति याम् अस्य समानः
ब्रुवाणः करोति अग्निमते ह वा अस्मै अग्निमन्त
ऋतवः ओषधीः पचन्ति इदं सर्वं यः एवम्
एतम् अग्निम् ऋतुषु आभक्तं वेद।। १–६–१–८

जो मनुष्य ऋतुओं के नाम के यज्ञ में इस प्रकार अग्नि का भाग भी है, यह जानता है उसे भी यज्ञ के उस पुण्य कार्य में भाग प्राप्त हो जाता है। इस अग्नितत्त्व को जानने के कारण वह अग्निमान् कहलाता है और इस अग्निमान् के लिए ऋतुएँ भी

अग्निमान् बनकर संसार के सभी पदार्थों को परिपक्व करके उसके सामने उपस्थित कर देती हैं।

ऋतु के अनुकूल जो अग्नि को प्रदीप्त करता है उसे अक्षय पुण्य का लाभ प्राप्त होता है। अग्नि की उष्णता से प्रकृति की सम्पूर्ण अन्न–ओषधियाँ उपजती हैं। ऋतुओं से उन पर परिपक्वता आती है। ऋतु के ही अनुसार वे पकती हैं। उनका यह परिपाक ही मनुष्य के लिए हितकारी होता है। पुण्य का भागी बने रहने के लिए यज्ञ से जुड़ा रहना हमारा कर्त्तव्य है। समयानुसार ही हमें यज्ञ–अग्नि को प्रदीप्त करना है।

६३-त्रिषष्टितमपाथेयम्

यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति

शतपथ ब्राह्मणकार ने ''यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'' अर्थात् यज्ञ को संसार का सबसे उत्तम कर्म कहा है। यह सर्वोत्तम कर्म किसलिए किया जाये? इस उत्तम कर्म को करने का क्या प्रयोजन होगा? इसका उत्तर भी ऐतरेय ब्राह्मण देता है – ''स्वर्गकामो यजेत'' जिन्हें स्वर्ग की कामना हो वह इस यज्ञ को करें। बिना यज्ञ के स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती यह निश्चित बात है, ध्रुव सत्य है।

यहाँ यह स्वर्ग कोई ऊपर रहने वाला कोई स्थान–विशेष नहीं है। जिन साधनों से हम संसार के सभी सुखादि–साधनों को अपनाते हैं उसी सुख विशेष का नाम शास्त्रकारों ने स्वर्ग माना है।

इसके लिए यजमान चतुर्थ प्रयाज जिसे ''बर्हि'' नाम से जाना जाता है, उससे यजन करता है। ''बर्हि'' भूमा अर्थात् बहुतायत को माना गया है। जब यजमान के घर प्रजा की, अन्न की, धन–ऐश्वर्यादि की बहुतायत हो जाती है, तो यजमान को हाथ खोलकर स्वाहा–स्वाहा करते हुए यज्ञ में 'सर्वतो हिताय' आहुति का विधान करना चाहिए। ''तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा'' की भावना से ही संसार को भोगना चाहिए, तभी उस कर्म को करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। सर्वस्व का परित्याग ही यज्ञ है। वही यज्ञ स्वर्ग का साधन है। याज्ञवल्क्य भी इस विधि का विधान करते हुए लिखते हैं –

> चतुर्थेन वै प्रयाजेन देवाः। यज्ञम् आप्नुवन् तं पञ्चमेन समस्थापयन्
> अथ यद् अतः ऊर्ध्वम् असंस्थितं यज्ञस्य स्वर्गम् एव
> तेन लोकं समाश्नुवत।। १–६–१–१०

यहाँ देवों ने चौथे प्रयाज से यज्ञ को प्राप्त किया और पाँचवें प्रयाज से उसे स्थापित किया। यज्ञ तभी स्थापित होता है जब हमारे पास यज्ञ करने के पर्याप्त साधन हों। यदि साधन ही नहीं होंगे तो यज्ञ कैसे सम्भव होगा। साधन जुट जाने के पश्चात् ही यज्ञ

स्थापित किया जाता है। यज्ञ करते हुए अवशिष्ट आज्य आदि भाग से स्वर्ग को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। आप यज्ञ करते हुए अन्तिम आहुति स्विष्टकृत् के रूप में उसी प्रजापति को चढ़ाते हो जिसकी कृपा से हमने इस यज्ञ को रचाया है। ईश्वर को प्राप्त वह हवि ही हमारे स्वर्ग का साधन बनती है।

स्वर्ग ऐसे ही प्राप्त नहीं होता उसके लिए मार्ग में आने वाले सभी तरह के असुर–राक्षसों को मारना होता है। उनके मारने का साधन बताते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं–

ते स्वर्गं लोकं यन्तः। असुररक्षसेभ्यः आसङ्गाद्
बिभयाञ्चक्रुः ते अग्निं पुरस्ताद् अकुर्वत रक्षोहणं
रक्षसाम् अपहन्तारम् अग्निम् मध्यतः अकुर्वत रक्षोहणं
रक्षसाम् अपहन्तारम् अग्निम्। पश्चाद् अकुर्वत रक्षोहणं
रक्षसाम् अपहन्तारम्।। १–६–१–११

कुछ लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि नेक कार्यों में वे विघ्न बाधाओं को उत्पन्न करते रहते हैं। उन्हें ऐसा करने में आनन्द आता है। यहाँ पर भी देव लोग स्वर्ग जाने के लिए तत्पर हैं परन्तु उन्हें भय था कि स्वर्ग जाते हुए असुर और राक्षस कहीं बीच में ही विघ्न उत्पन्न न कर दें। इसीलिए उन्होंने राक्षसों को मारने में समर्थ राक्षस–विनाशक अग्नि को आगे कर दिया। राक्षसनाश में समर्थ राक्षसनाशक अग्नि को मध्य में कर दिया। राक्षसनाश में समर्थ राक्षसनाशक अग्नि को पीछे कर दिया।''

इस तरह से देवों ने अपने चारों तरफ अग्नि का घेरा बना दिया। तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति इस अग्नि का आदर व सत्कार करता है वह देवों की तरह सुरक्षित रहता है। उसे कोई भी विघ्न–बाधा असुर और राक्षस के रूप में मारने में समर्थ नहीं हो सकती। क्योंकि उनका रक्षक यह अग्नि देव होता है।

अब यहाँ स्वर्ग–लोक को जाते समय यदि राक्षसों ने देवों पर सामने से आक्रमण कर दिया तो राक्षसनाश में समर्थ राक्षसनाशक अग्नि ने ही उन राक्षसों का नाश कर उनकी रक्षा की। यदि देवों के मध्य भाग में राक्षसों ने आक्रमण करना चाहा तो

राक्षसविनाश में समर्थ राक्षसविनाशक अग्नि ने ही उन राक्षसों का विनाश कर उनकी रक्षा की। फिर यदि पीछे से देवों पर राक्षसों ने आक्रमण करना चाहा तो राक्षसविनाश में समर्थ राक्षसविनाशक अग्नि ने ही उन राक्षसों का विनाश कर उनकी रक्षा की है। इस तरह सामने, मध्य और पीछे सब ओर से अग्नि द्वारा ही रक्षित होकर उन्होंने स्वर्ग–लोक का उपभोग किया।

देवों की तरह हमें भी अपने चारों तरफ अग्नि का ही घेरा बना कर, अपने आप को सुरक्षित समझ कर, अग्नि देव को ही स्वर्ग का साधन मान कर इसे अपने घर में स्थान देना है। जिस घर में अग्नि को स्थान दिया जाता है उस घर को किसी की नज़र नहीं लगती। उस घर में फिर पिशाच–राक्षसादि विघ्न–बाधा पैदा ही नहीं कर सकते हैं। यही याज्ञवल्क्य का कहना भी है और मानना भी है।

अब आगे याज्ञवल्क्य ने स्वर्ग के उपभोग का बहुत ही सुन्दर रास्ता सुझाया है जो इस तरह से है–

> तथा उ एव एषः एतत्। चतुर्थेन एव प्रयाजेन यज्ञम् आप्नोति
> तं पञ्चमेन संस्थापयति अथ यद् अतः ऊर्ध्वम् असंस्थितम्
> यज्ञस्य स्वर्गमेव तेन लोकं समश्नुते।। ६–१–१३ ।।

इसी तरह से वह यजमान भी चतुर्थ प्रयाज को अपने वश में करके यज्ञ को अपने वश में करता है। अर्थात् चौथे प्रयाज बर्हि से यजमान प्रजा व धन सम्पदा से अपने आपको भरपूर समझता है। तब वह अपने आपको यज्ञ करने में समर्थ समझता है। तभी यज्ञ करने में प्रवृत्त होता है और यज्ञ उसके वश में होता है। पाँचवें प्रयाज से यजमान उसे स्वाहाकार बनाता है। स्वाहा–स्वाहा करता हुआ उस यज्ञ को संस्थापित करता है और उसके पश्चात् जितना भी यज्ञ कर्म करता है, उससे स्वर्गलोक का उपयोग करता है। यह तभी सम्भव है जब यजमान अपने आपको यज्ञमय समझे।

जीवन में विघ्न–बाधाओं का आना तो होता ही रहता है। यजमान ने यज्ञ करते हुए स्वर्ग को प्राप्त करना है। परन्तु टाँग को खींचने वाले बहुत सारे लोग मिल जाते हैं। यहाँ असुरों से भय बना रहता है। उनसे रक्षा करनी है। अतः आग्नेय आज्यभाग का

यजन किया जाता है तो अग्नि को सामने रखा जाता है क्योंकि अग्नि ही राक्षसों को मारने और भगाने में समर्थ है। अब यजमान आग्नेय पुरोडाश से यजन करता है तब अग्नि को मध्य में रखता है क्योंकि अग्नि ही राक्षसों का मारने और भगाने वाला है।

अब इसके पश्चात् स्विष्टकृद् अग्नि के नाम से यजन करता है तो अग्नि को पीछे रखता है। क्योंकि अग्नि राक्षसों को मारने और भगाने वाला है।

अब यदि उस यजमान पर सामने से असुर–राक्षस आक्रमण करना चाहते हैं तो अग्नि उसे हटा देता है क्योंकि अग्नि ही राक्षसों को मारने और भगाने वाला है। जब असुर–राक्षस बीच से आक्रमण करने वाले होते हैं तो अग्नि ही उन्हें पीछे हटाने में समर्थ है क्योंकि अग्नि ही राक्षसों को मारने और भगाने वाला है। और जब राक्षस पीछे से आक्रमण करते हैं तो अग्नि ही उन्हें हरा देता है क्योंकि अग्नि राक्षसों को मारने वाला और भगाने वाला है। इस प्रकार चारों ओर से अग्नि द्वारा सुरक्षित यजमान स्वर्गलोक का उपभोग करता है।

यज्ञ के अतिरिक्त यजमान के लिए स्वर्ग का और कोई साधन नहीं है। ऋतु अनुकूल यज्ञ करते हुए चतुर्थ प्रयाज में बहुतायत को प्राप्त करता हुआ पंचम प्रयाज से स्वाहा–स्वाहा करता हुआ यजमान जब सर्वस्व का त्याग यज्ञ के लिए करता है तभी यह यज्ञ अग्नि अर्थात् वह परमपिता परमात्मा यजमान को चारों ओर से सुरक्षित करता है। तभी वह अलौकिक स्वर्ग का उपभोग करता है। तभी जाकर आनन्द ही आनन्द भोगता है।

हमें भी स्वर्ग का उपभोग प्राप्त हो, हम भी आनन्द ही आनन्द भोगें, अतः ऋतु अनुकूल यज्ञ हमें करना चाहिए। तभी हम संवत्सर को प्राप्त कर सकते हैं।

* * *

यज्ञ में ध्यानच्युत न होवें

''यज्ञ'' श्रेष्ठतम कर्म है। अतः इसे बड़ी श्रद्धा के साथ तत्परता के साथ करना चाहिए। प्रायः देखा गया है कि लोग यज्ञ में बैठकर सांसारिक बातों में उलझे रहते हैं। अतः यजमान को उस ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। क्योंकि आप परमपिता के साथ यज्ञ के माध्यम से जुड़े हुए हैं। अतः उस प्रभु में हमारा ध्यान होना चाहिए। दुःख होता है जब यजमान यज्ञ को छोड़कर बातों में लग जाता है। यज्ञ करते हुए यदि कोई बड़े से बड़ा व्यक्ति भी आए तो यजमान को यज्ञ नहीं छोड़ना चाहिए क्योंकि यह परमपिता सबसे महान् है। संसार में उससे महान् कोई नहीं। उसी प्रभु के शुभाशीर्वाद से ही हम उसका यह यज्ञरूपी महान् कार्य करने के लिए उपस्थित हुए हैं। अतः यजमान को यज्ञ से ध्यानच्युत नहीं होना है। याज्ञवल्क्य ध्यानच्युत होने के परिणाम का विवरण करते हुए लिखते हैं–

> स यदि एनं पुरस्तात्। यज्ञस्य अनुव्याहरेत् तं प्रति
> ब्रूयात् मुख्याम् आर्त्तिम् आरिष्यसि अन्धः
> वा बधिरः वा भविष्यसि, इति एता वै मुख्या
> आर्त्तयः तथा ह एव स्यात्।। १–६–१–१६

जैसे ही यज्ञ प्रारम्भ हुआ फिर यदि आदि में कोई बातचीत करके यजमान का ध्यान यज्ञ से भटकाने का प्रयत्न करें तो अध्वर्यु का कर्त्तव्य बनता है कि यजमान को सावधान करें और उससे कह दें कि तू यज्ञ के आदि भाग में ही जो यज्ञ का मुख है उसमें ध्यानच्युत होने लगा है। अतः तुझे मुख वाले रोग प्राप्त होंगे। तू अन्धा या बहरा हो जावेगा। यही मुख के रोग हैं। यज्ञ के आदि में ध्यानच्युत होने से ऐसा ही होता है।

हमें परमपिता परमात्मा के इस यज्ञ को बड़ी श्रद्धा से करना चाहिए। यजमान को यज्ञ करते हुए यज्ञ के आदि में कोई बात नहीं करनी चाहिए, ऐसा करने से उसे मुख के रोग लग सकते हैं। वह गूँगा हो सकता है, वह अन्धा हो सकता है, वह बहरा हो सकता है। अतः बातचीत करते हुए यज्ञ के आदि में ही ध्यानच्युत नहीं होना है।

आगे पुनः याज्ञवल्क्य सावधान करते हुए लिखते हैं–

> यदि मध्यतः यज्ञस्य अनुव्याहरेत्। तं प्रति
> ब्रुयात् अप्रजाः अपशुः भविष्यसि इति प्रजाः वै
> पशवः मध्यं तथा ह एव स्यात्।। १–६–१–१७

यज्ञ के मध्य में बातचीत करते हुए यदि कोई यजमान को ध्यानच्युत करने का प्रयत्न करे तो अध्वर्यु का कर्त्तव्य बनता है कि वह यजमान को सावधान करता हुआ कहे कि इस ओर ध्यान मत दे। यज्ञ को तत्परता के साथ कर अन्यथा तुम्हें मध्य के रोग लग जायेंगे। तू प्रजा–हीन व पशु–हीन हो जाएगा, क्योंकि यही यज्ञ का मध्य है और ऐसा ही होता है।

जब यजमान यज्ञ करते हुए यज्ञ के मध्यभाग में आ जाता है तब भी यजमान को बात–चीत करते हुए यज्ञ से ध्यान–च्युत नहीं होना चाहिए। यदि यजमान यज्ञ के मध्य में बातचीत करता हुआ ध्यानच्युत होता है तो समझ लेना वह सन्तान विहीन हो सकता है उसका घर पशुओं से भी विहीन हो सकता है। क्योंकि यज्ञ करते हुए आदि में ही हमारी प्रार्थना होती है ''वर्धस्व चास्मान् प्रजया पशुभिः'' अर्थात् ईश्वर! हमारे घर को प्रजा से और पशुओं से भरपूर कर दो। मैं अर्थात् लेखक जीवन–भर यज्ञ से जुड़ा रहा है। अतः डंके की चोट पर कहता हूँ कि जिस घर में प्रतिदिन यज्ञ होता है वह घर कभी भी सन्तान विहीन नहीं होता। अतः यज्ञ का प्रथम लाभ प्रजावान् होना, दूसरा लाभ है घर का पशुओं से भरपूर होना। सन्तान दूध से पलती है। ''दूध है तो पूत है'' यह कहावत प्रसिद्ध है। अतः मध्यभाग में भी हमें यज्ञ को ध्यान–पूर्वक करना है। वहाँ तक भी हमें बातचीत नहीं करनी चाहिए, यज्ञ के अतिरिक्त कोई कार्य न करें। अन्यथा प्रजा, पशु विहीनता का दुष्परिणाम हमें भोगना पड़ सकता है। इस दुष्परिणाम से बचने के लिए हमें यज्ञ के मध्य भाग में भी ध्यान–च्युत नहीं होना है।

फिर आगे अन्त भाग में भी याज्ञवल्क्य सावधान करते हुए लिखते हैं–

> यदि अन्ततः यज्ञस्य अनुव्याहरेत्। तं प्रति ब्रूयाद्
> अप्रतिष्ठितः दरिद्रः क्षिप्रे अमुं लोकम् एष्यसि

इति तथा ह एव स्याद् तस्माद् उ ह न अनुव्याहारी
इव स्याद् उत हि एवंवित् परः भवति।। १–६–१–१८

अब यज्ञ के अन्तभाग में अर्थात् यज्ञ सम्पन्नता से पूर्व बातचीत करके यजमान का ध्यान–च्युत करना चाहे तो अध्वर्यु का कर्त्तव्य बनता है कि वह उसे सावधान करता हुआ कहे कि अपना ध्यान यज्ञ में रखे अन्यथा तुम प्रतिष्ठाहीन हो जाओगे तथा दारिद्र्य को प्राप्त करोगे। तथा शीघ्र ही इस लोक से उस लोक में अर्थात् प्रतिष्ठित समाज से अप्रतिष्ठित समाज में व धनवानों के समाज से गरीबों की दुनिया में शीघ्र ही चले जाओगे। सचमुच ऐसा ही होगा। इसलिए यजमान को चाहिए कि यज्ञ की सम्पन्नता तक अर्थात् जब तक यज्ञ पूर्ण नहीं हो जाता तब तक एकाग्रचित्त होकर अपने लक्ष्य को, संकल्प को पूर्ण करना चाहिए, इधर–उधर की बातों में उलझ कर ध्यानच्युत न हो। बस जो इस तरह इस विधि को समझता है वही महान् होता है।

यहाँ याज्ञवल्क्य हमें यज्ञ के आदि, मध्य व अन्त में एकाग्रचित यज्ञ करने का आदेश देते हैं। यदि हमारा ध्यान यज्ञ करते हुए इधर–उधर की बातों में भर गया तो उसके तीन दुष्परिणामों से हमें अवगत भी कराया है जो इस तरह से है।

प्रथम – यज्ञ के आदि में ध्यानच्युत होने पर हमें मुख्य–मुख के रोग लग सकते हैं, हम गूँगे, अन्धे और बहरे हो सकते हैं। अतः बातचीतादि कृत्यों से बचना है।

द्वितीय – यज्ञ के मध्य में भी उक्त दोषों से बचना है, अन्यथा हमें प्रजाहीनता का व पशुविहीनता का परिणाम भुगतना पड़ सकता है। यहाँ भी हमें उक्त दोषों से बचना है।

तृतीय – यज्ञ के अन्त में भी उक्त दोषों से बचना है अन्यथा हमें समाज में प्रतिष्ठाहीनता का परिणाम भुगतना पड़ सकता है तथा हम धनिकों के लोक से दरिद्रता के लोक को प्राप्त कर सकते हैं। ये सब हम शीघ्रता से प्राप्त हो सकते हैं। इनसे जो बच जाता है वही इस संसार में महानता को प्राप्त करता है। हमें भी बड़ा बनना है अतः उक्त दोषों से बचाव करना चाहिए।

* * *

६५-पञ्चषष्टितमपाथेयम्

स्वर्ग के द्वार को जानो

इस भव–सागर को पार करने के लिए उस प्रभु ने हमें यज्ञ रूपी दैवी नाव हमारे हाथ में दे दी है। उसी के सहारे इस भव–सागर को पार करते हुए हमने उस पार जाना है। उस पार जाकर हमें स्वर्ग–लोक प्राप्त हो गया परन्तु हमें यदि स्वर्ग–लोक के दरवाजे का ज्ञान ही न हो तो हमारी दुर्दशा उस व्यक्ति की तरह है जो दरवाजे तक पहुँच तो जाता है परन्तु उस दरवाजे को खोलना नहीं जानता। जब तक वह खोलकर अन्दर प्रवेश नहीं करता तब तक उसे क्या ज्ञान होगा कि इस घर के अन्दर क्या–क्या है? किन–किन पदार्थों को भोग कर मैं स्वर्ग के सुख को भोग सकता हूँ। याज्ञवल्क्य की हम पर बड़ी कृपा है कि वह अपने इस अमूल्य शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ के माध्यम से स्वर्ग के मार्ग को उसके द्वार तक ले जाते हैं और उस द्वार के माध्यम से स्वर्ग–लोक के अन्दर भी प्रवेश करवाते हैं। उस स्वर्ग के द्वार को हम कैसे जानें? इस बात को याज्ञवल्क्य ऋषि इस तरह से वर्णित करते हैं–

न व्यवविद्यात् यथा यथा अस्य ते भवन्ति तस्य वसन्तः एव
द्वारं हेमन्तः द्वारं तं वा एतं संवत्सरं स्वर्गं लोकं
प्रपद्यते सर्वं वै संवत्सरः सर्वं वा अक्षयम् एतेन उ ह
अस्य अक्षयं सुकृतं भवति अक्षयः लोकः।। १–६–१–१९

वही यज्ञ सफलता को प्राप्त होता है जो यज्ञ प्रयाजानुकूल अर्थात् ऋतु परम्परा से किया जाता हो। तदनुरूप यज्ञ ही संवत्सर को जीत लेता है। आज का भौतिकवादी व्यक्ति एक दिन का साप्ताहिक, पाक्षिक ज्यादा से ज्यादा मासिक यज्ञ करके यज्ञ को विराम दे देता है और उसकी कामना स्वर्गलोक की होती है। ऐसे यज्ञों से स्वर्गलोक प्राप्त नहीं होता। स्वर्गलोक प्राप्ति के लिए तो ऋतुओं के अनुकूल सांवत्सरिक यज्ञ करना पड़ता है।

स्वर्गलोक के सुख को वही यजमान भोग सकता है, जो उसके दरवाजों को जानता है। दरवाजों को जानकर जो अन्दर घुसना जानता है और अन्दर प्रवेश कर उसे ज्ञात होता है कि भीतर कौन–कौन से पदार्थ भोगने योग्य हैं। जिसे दरवाजों का पता ही नहीं, अन्दर प्रवेश ही नहीं करता, वैसा व्यक्ति अज्ञानी है भटकने वाला है।

यहाँ समझने के लिए एक प्रसिद्ध कथा का सहारा लिया जा रहा है। वह कथा इस तरह से है।

एक बहुत बड़ा, बहुत सुन्दर भवन है। उसमें नौ दरवाजे हैं। उसमें पाँच अन्धे व्यक्ति प्रवेश कर गये। प्रवेश तो कर लिया परन्तु अन्धे अब बाहर कैसे निकलें? किसी ज्ञानी को पुकार कर उन्होंने बाहर निकलने का उपाय जानना चाहा। उस ज्ञानी पुरुष ने सरल सा रास्ता बताते हुए उनसे कहा कि तुम ऐसा करना कि एक–दूसरे का कन्धा पकड़ लो और प्रथम व्यक्ति अपने हाथ से भवन की दीवार का सहारा ले कर आगे चले। आप सभी पीछे–पीछे चलना, जहाँ दरवाजा आ जावे, उसे खोलकर बाहर निकल पड़ना। अब दुर्भाग्य का खेल देखिये। दीवार का सहारा लेकर आगे चलने वाला अन्धा जैसे ही दरवाजे के पास पहुँचता है, उसके शरीर में खुजली पैदा हो जाती है। खुजली करने के लिए दीवार से हाथ उठा लेता है और खुजली करता हुआ दरवाजे को छोड़ कर आगे निकल पड़ता है। प्रत्येक बार उसकी यही स्थिति होती है कि दरवाजा आता है और खुजली के कारण हाथ छूट जाता है। उसी में वह चक्कर काटता हुआ अपना जीवन समाप्त कर बैठता है।

यही अवस्था हमारी है। यह जीव इस शरीर रूपी विशाल भवन में प्रवेश करता है। उसके साथ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ जिह्वा, नाक, आँख, कान तथा त्वक् ये विद्यमान रहती है। अज्ञानता के कारण ये अन्धी हैं। इन्हीं के कारण हम में भटकाव है हम भी इस सुन्दर भवन में भटकते रहते हैं। हमारे इस सुन्दर भवन में भी एक मुख, दो नाक, दो आँखें, दो कान, एक मूत्रद्वार और एक मलद्वार के रूप में नौ दरवाजे हैं। यदि इसका भरपूर ज्ञान जीव को है तो आसानी से बाहर निकला जा सकता है। अन्यथा हम इसी नौ दरवाजे वाले सुन्दर भवन में भटकते रहेंगे।

हमें जीवन में ऐसे कर्मों को करना चाहिए कि हमारा यह जो प्राण है वह ऊपर के सप्त द्वारों से बाहर निकले। हमारे जीवन के यही सप्त लोक हैं, जो भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम् के रूप में वर्णित हैं। ये तभी प्राप्त हो सकते हैं जब यह जीव अर्थात् हम गले से ऊपर विद्यमान सप्तद्वारों से बाहर निकलने का प्रयत्न करें तभी ऊर्ध्वगति को प्राप्त कर सकते हैं। अधोगति के अब दो दरवाजे हैं जिन्हें हम साधारण भाषा में नरक तथा घोर नरक से पुकारते हैं। उनमें सर्वप्रथम मूत्राशय है वह नरक का द्वार है और दूसरा मलाशय है, इसे घोर नरक के द्वार के रूप में जाना जाता है।

जब तक बाहर निकलने के दरवाजों का हमें ज्ञान नहीं तब तक स्वर्ग के द्वारों का हमें कैसे ज्ञान होगा। हमसे समझदार तो एक चूहा है, वह कम से कम पाँच बिलों का निर्माण व अधिक से अधिक सात बिलों का निर्माण बाहर निकलने के लिए करता है। आक्रमण होने की स्थिति में वह कहीं से भी निकल कर अपनी सुरक्षा कर लेता है। ऐसी अवस्था में ही वह अपने बिल में सुख की नींद सोता है।

यजमान भी सुख की, चैन की जिन्दगी व्यतीत कर सके इसीलिए याज्ञवल्क्य यज्ञ के माध्यम से उसे स्वर्गलोक पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। क्योंकि ऐतरेय ब्राह्मण की घोषणा है ''स्वर्गकामो यजेत'' अर्थात् जिसको स्वर्गलोक की चाहना है वह यज्ञ करे।

स्वर्गलोक की प्राप्ति का आनन्द तभी है जब यजमान को उसके दरवाजों का ज्ञान हो। उनको जाने बिना हम स्वर्ग का आनन्द ही नहीं भोग सकते।

प्रयाजों अर्थात् ऋतु अनुकूल यज्ञों से यजमान संवत्सर को जीतता है। संवत्सर को वही जीतता है जो उसके द्वारों को भी जानता होगा। इस संवत्सर रूपी घर का एक द्वार वसन्त है, दूसरा हेमन्त। इस बात को जानने वाला यजमान ही संवत्सर नामक सुखमय लोक को पहुँचता है क्योंकि याज्ञवल्क्य स्वयं कहते हैं–

''एतं संवत्सरं स्वर्गं लोकं प्रपद्यते।।'' १–६–१–१९

अर्थात् इस संवत्सर द्वारा ही यजमान स्वर्ग लोक में प्रविष्ट होता है क्योंकि वस्तुतः संवत्सर ही सब है। अर्थात् सब तरह से संवत्सर को प्राप्त होता हुआ सब प्रकार के

अक्षय–पदार्थों को प्राप्त करता है। इस प्रकार यज्ञ को करते हुए यजमान को अक्षय पुण्य की प्राप्ति और अक्षय लोक की प्राप्ति होती है। यह तभी सम्भव है जब हम वसन्त की तरह उल्लास के साथ वसन्ती रंग में रंगते हुए यज्ञ को प्रारम्भ करते हुए यजमान हेमन्त तक उस यज्ञ को स्वाहा–स्वाहा करता हुआ, स्वाहाकार होता हुआ यज्ञमय होकर उसे सम्पन्न करे। तभी यजमान अक्षयपुण्य और अक्षयलोक का भागी होता है।

इसकी प्राप्ति के लिए यज्ञ में मुख्यतः घृत की आहुतियों की बहुतायत होती है क्योंकि ''घृतप्रिया वै देवाः'' अर्थात् देवों को घृत प्रिय है। इसी के माध्यम से यजमान ने स्वर्गद्वार तक पहुँचना है। अतः घृत की आहुति किसको मुख्यतः चढ़ानी है जिससे कि यजमान स्वर्गद्वार तक पहुँच सके। इस जिज्ञासा का समाधान याज्ञवल्क्य करते हुए लिखते हैं–

> तद् आहुः किं देवत्यानि आज्यानि इति,
> प्राजापत्यानि इति ह ब्रूयाद् अनिरुक्तः वै
> प्रजापतिः अनिरुक्तानि आज्यानि तानि ह
> एतानि, यजमानदेवत्यानि एव, यजमानः
> हि एव स्वे यज्ञे प्रजापतिः एतेन हि उक्ताः
> ऋत्विजः तन्वते, तं जनयन्ति।। १–६–१–२०

यज्ञ करते हुए यजमान से यदि कोई पूछे कि ये घृत की आहुतियाँ तुम किस देवता के लिए चढ़ा रहे हो? इसका उत्तर बड़े अभिमान से यजमान को देना चाहिए कि ''मैं ये आहुतियाँ प्रजापति के लिए चढ़ा रहा हूँ। क्योंकि इनका देवता प्रजापति है। प्रजापति अनिसक्त है अर्थात् उसका कोई रंग रूप नहीं है और ये घृत की आहुतियाँ भी अनिसक्त है क्योंकि घी का भी कोई रंग रूप नहीं है। अतः यजमान ही उनका देवता माना जाता है क्योंकि अपने द्वारा किए जा रहे यज्ञ में यजमान ही प्रजापति है। इसी की आज्ञा से ऋत्विज लोग यज्ञ का विस्तार करते हैं और उसी यज्ञ को उत्पन्न भी करते हैं।

यहाँ इस बात को समझ लेना चाहिए कि यजमान को बहुत बड़ी पदवी दी गई है, क्योंकि याज्ञवल्क्य ने प्रजापति को अनिसक्त माना है। अतः यजमान ही प्रजापति है।

प्रजापति वह होता है जो उत्पन्न करता है, उसका विस्तार करता है, यहाँ पर ऋत्विज लोग यजमान के कहने पर ही यज्ञ को उत्पन्न करते हैं और उसका विस्तार भी करते हैं।

अब उत्पन्न हुआ, विस्तार को प्राप्त यज्ञ विलुप्त नहीं होना चाहिए। अतः उस आज्य को हवि में मिश्रित करके उसके दो भाग कर लेने चाहिए एक अपने लिए और एक उसके लिए जो किसी कारण यज्ञ में सम्मलित नहीं हो पा रहा। विदेश में स्थित यजमान इस तरह से यज्ञ से दूर नहीं होता। उसे यज्ञ न करने का पाप भी नहीं लगता क्योंकि उसके नाम से भी आहुतियाँ यज्ञ में पड़ रही हैं। यहाँ याज्ञवल्क्य भी इस तरह से लिखते हैं–

एवं ह एव एवं विदुषः इष्टं भवति यदि उ ह अपि
बहु इव पापं करोति नो ह एव बहिर्द्धा यज्ञाद्
भवति यः एवम् एतद् वेद।। १–६–१–२१

इस प्रकार यज्ञ में घी मिश्रित आहुतियाँ दी जाती हैं मानो यजमान से मिश्रित ही आहुति दी जा रही हो। चाहे वह यजमान दूर हो चाहे निकट, यज्ञ इसी तरह से सम्पन्न करना चाहिए। यदि वह इस रहस्य को समझता है तो वह यज्ञ से कभी बाहर नहीं होता। यज्ञ न करने का या यज्ञ के विलोप का उसे पाप नहीं लगता।

यहाँ हमें इस बात को समझ लेना चाहिए कि यज्ञ में घृत मिश्रित आहुतियाँ इसलिए भी दी जा रही हैं कि हमें परस्पर मिलकर स्नेहयुक्त व्यवहार से इस यज्ञ को करना है। यदि अपना स्वजन यज्ञ में किसी कारणवश सम्मलित नहीं हो रहा है तो उसके संकल्प को हृदय में धारण करके उसके नाम की भी आहुतियाँ यज्ञ में देनी चाहिए। ऐसा करने से उसे यज्ञ न करने का पाप नहीं लगता। हमें भी इस नियम को जीवन में अपनाना चाहिए तथा यज्ञ को निरन्तर विधिपूर्वक सम्पन्न करना चाहिए।

* * *

६६-षड्षष्टितमपाथेयम्

यज्ञ में पुरोडाश का महत्त्व

यज्ञ में ''पुरोडाश'' का महत्त्व जानना यजमान के लिए इसलिए आवश्यक है कि यही ''पुरोडाश'' यज्ञ की पूर्णता का साधक हुआ करता है। याज्ञवल्क्य ने इसे कछुए की उपमा से सुशोभित किया है। इसे यज्ञ का मस्तिष्क माना है। कछुआ जिस तरह से अपनी हड्डियों को छिपा कर रहता है उसी तरह मनुष्य का मस्तिष्क भी हड्डियों में छिपा रहता है। जिस प्रकार कछुए के अंग–प्रत्यङ्ग बाहर निकले रहते हैं उसी तरह मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियाँ बाहर निकली रहती हैं। जिस प्रकार थोड़ा सा भय उपस्थित होने पर कछुआ अपने अङ्ग–प्रत्यङ्गों को समेट लेता है उसी तरह से मनुष्य को चाहिए कि अपने अन्दर उपस्थित काम–क्रोध–मोहादि के उपस्थित होने पर अपनी बिखरी हुई शक्तियों को जितेन्द्रिय–पुरुष की तरह समेट ले।

यज्ञ में समुपस्थित यजमान को विषयों से इन्द्रियों को ऐसे समेट लेना चाहिए जैसे कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है। अतः हमारा मस्तिष्क भी कछुए के समान होना चाहिए।

कछुए से मस्तिष्क की उपमा क्यों दी गई? यह तो समझ में आ गया। परन्तु उसे पुरोडाश क्यों कहा गया? यह भी समझ लेना चाहिए। यज्ञ के लिए प्रत्येक व्यक्ति का मस्तिष्क उपयोगी नहीं हुआ करता। चाहे वह अपने आपको कितना भी बुद्धिमान् समझे, चाहे उसकी बुद्धि कितनी भी तीव्र क्यों न हो। यज्ञ के लिए उपयोगी मस्तिष्क तो वही है जो अपने आपको देवताओं के ''पुरः'' अर्थात् समक्ष–सामने ''दाशयति'' अर्थात् प्रसन्नता पूर्वक भेंट करता है, समर्पित करता है, इसी तरह अन्य से भी भेंट करवाता है। जब तक यज्ञ समर्पण की भावना से नहीं किया जाता तब तक हमारा मस्तिष्क भी समर्पण की अग्नि में नहीं तपता परन्तु जब वह इस समर्पण की अग्नि में तपता है तभी यज्ञ में चमक आती है। यही चमक सबको प्रिय है। इस तरह की आहुति ही देवताओं

को प्यारी होती है। इसी तरह का विचार पुरोडाश के सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य अपने पवित्र ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण में वर्णित करते हैं–

यज्ञेन वै देवाः। इमां जितिं जिग्युः एषां इयं
जितिः ते ह उचुः कथं नः इदं मनुष्यैः अनभ्या–
रोह्यम् स्यादिति, ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु
मधुकृतः निर्धयेयुः विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा
तिरः अभवन् अथ यद् एनेन अयोपयन् तस्माद्
यूपः नाम तद् वा ऋषीणाम् अनुश्रुतम् आस।। १–६–२–१

यह बात प्रसिद्ध है कि हमारे पास स्वर्ग को जीतने का एक मात्र साधन यज्ञ ही है और देवों ने भी यज्ञ के माध्यम से उस स्वर्ग को जीत लिया। जब देव जीत चुके तो कहने लगे कि इस जीत को मनुष्य प्राप्त न कर सकें ऐसा इसे कैसे बनायें ? देव भी यही चाहने लगे कि जिस स्वर्ग को हमने जीता है उस पर किसी अन्य का अधिकार नहीं होना चाहिए क्योंकि इसे हमने यज्ञ से जीता है। देवों ने एक उपाय ढूँढा। जिस प्रकार भौंरे शहद पी जाते हैं हम भी उसी प्रकार यज्ञ का रस पीकर उसका बिल्कुल दोहन करके यूप से यज्ञ को छिपाकर छिप जायें। चूंकि उन्होंने इसे यूप से अयोपयन् अर्थात् छिपाया अतः इसका नाम ''यूप'' पड़ा। अर्थात् यज्ञ को यज्ञ के साथ बाँध दिया इसीलिए इसका नाम यूप पड़ा। उसी यज्ञ में अपने यज्ञ को छिपा कर देव लोग गायब हो गये। यह बात ऋषियों ने जान रखी थी कि देव जैसे भौंरे की तरह शहद का दोहन करते हैं उसी तरह यज्ञ का रस पीकर उसका बिल्कुल दोहन करके यज्ञ को छिपा दिया और स्वयं भी छिप गये। फिर ऋषियों ने उसे ढूँढ़ना प्रारम्भ किया।

उसे प्राप्त करने के लिए ऋषियों ने भी परमात्मा की पूजा की तथा तप करना प्रारम्भ किया और उसकी तलाश में विचरने लगे। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि देवों को भी स्वर्ग जीतने में मेहनत करनी पड़ी है तो ऋषियों ने भी निश्चय किया कि चलो उसके पास चलते हैं, जिससे देवों ने स्वर्ग लोक को जीता है। यह कर कर वे विचरने लगे। विचरते हुए वहाँ उन्होंने एक विचरती हुई चमकती वस्तु देखी। उसे देखकर वे बोले – ''यह क्या चमक रहा है? यह क्या चमक रहा है?'' वहाँ पुरोडाश कछुआ बनकर विचर रहा था। उसे देख उन्होंने निश्चय कर लिया कि यही यज्ञ है।

अब वे पुरोडाश से बोले–

अश्विभ्यां तिष्ठ, सरस्वत्यै तिष्ठ। इन्द्राय तिष्ठ

इति सः ससर्प एव अग्नये तिष्ठ इति ततः तस्थौ अग्नये।। १–६–२–४

तू अश्वि देवताओं के नाम पर ठहर जा। सरस्वती के नाम पर ठहर जा। इन्द्र के नाम पर ठहर जा। परन्तु वह आगे सरकता ही गया वह रुका नहीं। अन्त में ऋषियों ने कहा – अग्नि के नाम पर ठहर जा। वह उसी समय ठहर गया क्योंकि उसमें अग्नि को लाँघने का सामर्थ्य नहीं था। क्योंकि वह अग्नि के नाम पर ठहर गया था अतः उन्होंने उसे लपेट कर – अग्नि में सम्पूर्ण की आहुति चढ़ा दी। क्योंकि यह आहुति देवों की थी। उन्हें यज्ञ अब अच्छा लगने लगा। अब वे यज्ञ को करने लगे। यहाँ यज्ञ की परम्परा पर याज्ञवल्क्य सुन्दर व अनुकरणीय उपदेश देते हैं–

ततः एभ्यः यज्ञः प्रारोचत, तम् असृजन्त तम्

अतन्वत, सः अयम् परः अवरं यज्ञः अनूच्यते

पिता एव पुत्राय ब्रह्मचारिणे।। १–६–२–४

अब जब उन्हें यज्ञ अच्छा लगने लगा, तब वे यज्ञ को करने लगे। यहाँ हमें भी विचार कर लेना चाहिए कि हमने भी प्रथम यज्ञ के महत्त्व को जानना है कि यज्ञ में जो आहुति दी जा रही है वह साधारण नहीं है अपितु देवों के लिए वे आहुतियाँ चढ़ाई जा रही हैं। उससे देव प्रसन्न होते हैं, उनका प्रसन्न होना ही यज्ञ की पूर्णता का प्रतीक है। जब हमें ऐसी अनुभूति होगी तभी यज्ञ रुचिकर होगा। तभी लोग यज्ञ को करेंगे।

उसके पश्चात् ऋषियों ने यज्ञ किया ही नहीं, अपितु उसका विस्तार किया है। यज्ञ वही है जिसका विस्तार किया जाय, हमारा यज्ञ फैलना चाहिए। उसे बन्द कमरे में बन्द मत करो। यज्ञ किसी एक की धरोहर नहीं है, वह सबके लिए है अतः यज्ञ का विस्तार करो। उसका विस्तार परम्परा से होता है। याज्ञवल्क्य भी यही बात कहते हैं कि ''पहला अगले को अर्थात् पिता अपने ब्रह्मचारी को यज्ञ सौंपे अर्थात् यज्ञ के महत्त्व को समझाये। तभी यज्ञ का विस्तार होगा, परन्तु समस्या यही है कि यदि पिता यज्ञ करता है तो बेटा यज्ञ में भाग नहीं लेता। पति यज्ञ करता है तो पत्नी यज्ञ नहीं करती। वह भी

समय था जब विवाह के समय बेटी को विवाह वेदि पर यज्ञकुण्ड सौंपा जाता था। विवाह वेदि की वही अग्नि ''गार्हपत्य अग्नि'' हुआ करती थी, उसी अग्नि से उसका गृहस्थ चलता था। उसके पश्चात् वे पति–पत्नी माता–पिता बनते थे, सन्तान होती थी, तो माँ अपनी सन्तान को यही कह कर उठाती थी ''उठ मेरे पुत्र यज्ञ का समय हो गया, आ अब यज्ञ करते हैं। जब ऐसा वातावरण घर का होगा तभी यज्ञ का विस्तार होगा, हमने भी यज्ञ का विस्तार करना है, यही हमारा परम कर्त्तव्य है।''

पुरोडाश के सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य स्वयं लिखते हैं–

स वा एभ्यः तत् पुरः अदाशयत्। यः एभ्यः यज्ञम्
प्रारोचयत् तस्मात् पुरोडाशः पुरोडाशः ह वै
नाम एतद् यत् पुरोडाश इति।। १–६–२–५

यज्ञ में रुचि बने इसलिए ऋषियों ने पुरोडाश को पकड़ा और उसे देवों के लिए ''पुरः'' अर्थात् आगे ''अदाशयत्'' अर्थात् रखा, उसकी आहुति चढ़ाई। इसी से यज्ञ रोचक हुआ। उन्होंने पुरः–सामने, डाशतः–भेंट करवाई। इसीलिए यह पुरोडाश हुआ, पुरोडाश को ही पुरोडाश माना गया। यह ''पुरोडाश'' दर्श और पूर्णमास दोनों यज्ञ में आग्नेय अष्टाकपाल से प्रसिद्ध हैं।

यज्ञ में यह आहुति पुरोडाश के रूप में न पूर्णमास की है और न ही अमावस्या की। पूर्णमासी की हवि अग्नीषोमीय है और अमावस्या की हवि सन्नाय हैं। इसे दधि की हवि से भी जाना जाता है। यह दोनों समय किया जाने वाला कर्म भी यज्ञ ही है। कहीं यह यज्ञहवि यज्ञ से पृथक् न रह जाय इसीलिए पूर्णमास से पहले किया जाता है, अमावस्या से पूर्व किया जाता है। इसीलिए यह विधि यहाँ की जाती है। वैसे भी पूर्णमास का यह यज्ञ और अमावस्या का यज्ञ पूर्णाहुति के बाद ही किया जाता है।

अब यदि कोई यज्ञ इच्छुक मनुष्य अध्वर्यु के समीप जा कर कहें कि मेरे लिए मेरी कामना का यह यज्ञ करो तो अध्वर्यु को उसका यज्ञ कर लेना चाहिए। क्योंकि ऋषियों ने भी जिस कामना से यज्ञ को किया उनकी वह कामना पूर्ण हुई है। इसी प्रकार यजमान जिस कामना को लेकर यज्ञ करता है उसकी कामना पूर्ण हो जाती है। जिस किसी भी

देवता के नाम से आहुति देनी होती है उसके नाम से दी जाने वाली आहुति अग्नि में ही दी जाती है। अग्नि में दी जाने वाली आहुति में उस देवता के नाम की आवश्यकता नहीं है। यहाँ याज्ञवल्क्य लिखते हैं–

अग्निः वै सर्वाः देवताः। अग्नौ हि सर्वाभ्यः देवताभ्यः
जुह्वति। तत् यथा सर्वाः देवताः उपधावेद् एवं तत्
तस्माद् अग्नये एव।। १–६–२–८

यहाँ इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि याज्ञवल्क्य के मतानुसार अग्नि ही सब देवताओं का एक मात्र देवता है। क्योंकि सभी देवताओं की आहुति अग्नि में ही दी जाती है। इसलिए अग्नि में दी गई आहुति सब देवताओं की शरण में एक ही बार में पहुँच जाती है। इसीलिए यहाँ पर अग्नि के लिए पुरोडाश मुख्य है। फिर आगे याज्ञवल्क्य अग्नि के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं–

अग्निः वै देवानाम् अद्धातमाम्। यं वा अद्वातमाम्
मन्येत तम् उपधावेत्। तस्माद् अग्नये एव।। १–६–२–९

अग्नि ही सब देवताओं में अधिक फल देने वाला देवता माना गया है। मनुष्य जिस भी देवता को प्रत्यक्ष रूप में निश्चय से अधिक फल देने वाला देवता समझे वह उसी के पास जावे। उसे इधर–उधर नहीं भटकना चाहिए। उसे अग्नि की ही शरण में चले जाना चाहिए, क्योंकि वही हमारा उपास्य देव है। अतः अग्नि के नाम की आहुति देनी चाहिए, यही हम सबके लिए उचित भी है।

अग्निः वै देवानाम् मृदुहृदयतमः। यं वै मृदुहृदय–
तमम् मन्येत तम् उपधावेत्। तस्माद् अग्नये एव।। १–६–२–१०

अग्नि को आज तक कठोर निर्दयी समझा जाता था, परन्तु याज्ञवल्क्य लिखते हैं कि यह अग्नि देव सबसे मृदु अर्थात् नरम–कोमल हृदय वाला है। अतः मनुष्य को चाहिए जिसे भी आप नरम हृदयवाला समझें उसी की शरण में जाना चाहिए, वहीं हमारी सुरक्षा है। अतः अग्नि के लिए हवि देनी चाहिए। अग्नि में दी हवि ही देवों को प्राप्त होती है।

याज्ञवल्क्य फिर अग्नि के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए लिखता है–

अग्निर्वै देवानां नेदिष्ठम्।
यं वै नेदिष्ठम् उपसर्त्तव्यानां मन्येत
तम् उपधावेत् तस्मात् अग्नये इति।। १–६–२–११

हमारे लिए सब देवताओं में समीप यह अग्नि देव है। अब मनुष्य को समझना चाहिए कि जो देवता हमारे लिए सबसे समीप है, हमें उसी की शरण में जाना चाहिए। यही हमारा कर्त्तव्य भी बनता है। इसीलिए यज्ञ में सर्वप्रथम – ''अग्नये स्वाहा–इदम् अग्नये इदन्न मम'' कह कर आहुति दी जाती है। आज्य की ही आहुति देनी चाहिए तभी अन्य देवता इस आहुति को ग्रहण करते हैं। पौर्णमास व अमावस्या में अग्नि को रिझाने अर्थात् प्रसन्न करने के लिए सर्वप्रथम मीठे भात की तीन आहुतियाँ चढ़ाने के बाद फिर घी की चार आहुतियाँ चढ़ाई जाती हैं। ''समर्पयामि'', ''घ्रापयामि'', ''दीपं–दर्शयामि'' मात्र कह कर देवों का पूजन नहीं होता, अपितु आज्य की आहुति अग्नि को ही देनी होती है। तभी हमारा संकल्प पूर्ण होता है। ''पुरोडाश'' को भी घृत के साथ चमका कर ''अग्नि'' को समर्पित करना होता है। तभी तो अग्नि चमकता है, उसी से यज्ञ भी चमकता है। तभी यजमान भी चमकता है।

यहाँ पुरोडाश के सन्दर्भ में इस बात को समझना अनिवार्य है कि ''दर्श और पूर्णमास'' दोनों की मुख्याहुति दो पुरोडाश हैं। पूर्णमास में आग्नेय और अग्नीषोमीय तथा दर्श में आग्नेय और ऐन्द्राग्नि। अग्निषोमीय और ऐन्द्राग्नि पारिवारिक सुख के पुरोडाश हैं, परन्तु आग्नेय शुद्ध सामाजिक सुख के लिए अपने–आप को अर्पण करने की दहकती हुई भावना का प्रतिनिधि। हमें अपने आप को दोनों अवस्थाओं में पुरोडाश के रूप में अर्पित करना होता है, तभी पुरोडाश व अग्नि के महत्त्व को समझने में हम समर्थ हो सकेंगे।

* * *

यज्ञ में अग्नि–सोम का महत्त्व

यज्ञ का साधक अग्नि–सोम को माना गया है, अतः इन दोनों का यज्ञ में बहुत बड़ा महत्त्व है। हमारा यज्ञ इन दोनों से ही प्रारम्भ होता है इसीलिए यज्ञ में घृत की आहुति हम सर्वप्रथम अग्नि को देते हुए कहते हैं – ''अग्नये स्वाहा– इदम् अग्नये इदन्न मम। तदनन्तर सोम को भी घृत की आहुति देते हुए कहते हैं – ''सोमाय स्वाहा– इदं सोमाय इदन्न मम'' इन दोनों को आहुतियाँ देने के पश्चात् ही यज्ञ का आधार बनता है और तभी हमारा यज्ञ प्रारम्भ होता है।

यह संसार भी इन दो तत्त्वों के आधार पर चलता है, ''अग्नि–सोमात्मकम् इदं जगत्'' अर्थात् इस संसार का निर्माण अग्नि और सोम द्वारा हुआ है। इस रूप में मानते हैं। सोम यहाँ जल को माना गया है। अग्नि और जल से ही इस सृष्टि का निर्माण हुआ है।

यज्ञ भी यजमान से चलता है। यजमान पति–पत्नी होते हैं, उसमें भी पति अग्नि है और पत्नी को सोम माना गया है। परिवार के उत्पादक भी यही पति–पत्नी हुआ करते हैं। इसीलिए सर्वत्र अग्नि और सोम का महत्त्व है, सृष्टि का चक्र भी अग्नि और सोम पर आधारित है क्योंकि यहाँ पर भी अग्नि सूर्य है और सोम चन्द्रमा है। इसीलिए दिन अग्नि है और सोम रात है। पक्ष को भी दो भागों में विभक्त करते हैं उनमें पूर्णिमा अग्नि है और अमावस्या सोम है। इसीलिए अग्नि और सोम का अपने इस ग्रन्थ में विस्तार रूप से व्याख्यान करते हैं। सर्वप्रथम कथानक के रूप में इसे समझाने का प्रयत्न करते हुए लिखते हैं–

> त्वष्टुः ह वै पुत्रः। त्रिशीर्षा षड् अक्षः आस।
> तस्य त्रीणि एव मुखानि आसुः। तत् यद् एवं रूपः आस।
> तस्माद् विश्वरूपः नाम।। १–६–३–१

त्वष्टा का एक पुत्र था। उसके तीन सिर और छः आँखें थी और उसके तीन ही मुख थे। उसका ऐसा रूप था इसीलिए उसका नाम विश्वरूप हुआ।

उसका एक मुख सोम पीने के लिए था, दूसरा सुरा पीने के लिए था तथा तीसरा मुख अन्य सब प्रकार के भोजन खाने के लिए था। इसीलिए इन्द्र का त्वष्टा के पुत्र से विद्वेष चल रहा था। अतः उसने उसके तीनों सिरों को काट दिया।

कटे हुए इन तीनों सिरों से तीन प्रकार के पक्षियों की उत्पत्ति हुई। जो सोम पीने वाला मुख था, उससे चातक नाम का पक्षी उत्पन्न हुआ, क्योंकि चातक भूरा–सा प्रतीत होता है और सोम भी भूरा होता है।

और जो दूसरा मुख महा अर्थात् सुरा पीने वाला था उससे कलविङ्क अर्थात् गौरैय्या पक्षी उत्पन्न हुई। इसीलिए वह लड़खड़ाती आवाज में बोलती रहती है, क्योंकि जो सुरा पीता है उसकी आवाज लड़खड़ाती रहती है।

और अब जो तीसरा खाना खाने वाला मुख था उससे तित्तिरी उत्पन्न हुई। इसीलिए उसके शरीर पर चितकबरे से धब्बे होते हैं। उसका रंग ऐसा होता है मानो कहीं घी के छींटे पड़े हों और कहीं शहद के छींटे पड़े हों। क्योंकि उसने इस मुख से भिन्न–भिन्न रंग की वस्तुएँ खाईं थीं।

इन्द्र ने त्वष्टा के इस विश्वरूप पुत्र को मार डाला। इसीलिए त्वष्टा को क्रोध आ गया कि इन्द्र ने मेरे बेटे को क्यों मार डाला? अतः वह उपेन्द्र सोम अर्थात् वह सोम जिसमें इन्द्र को भाग नहीं दिया जाता, ले आया तथा उसने सारे का सारा सोम निचोड़ लिया और इन्द्र को सोम के भाग से शून्य कर दिया।

अब इन्द्र ने सोचा ''ये मुझे सोम के भाग से निकाल रहे हैं तब उसने बिना किसी के बुलाये ही कलश में पड़े सारे शुद्ध सोम को स्वयं ही पी डाला, वैसे ही जैसे इस संसार में देखा गया है कि बली पुरुष निर्बलों की वस्तुओं को छीन कर पी जाता है, खा जाता है। अब उस सोम ने उसको पीड़ा पहुँचानी प्रारम्भ कर दी। वह सोम फूट–फूट कर उसकी सब इन्द्रियों से बहने लगा, परन्तु एक मुख से नहीं बहा और सब इन्द्रियों से बहने लगा। इसी से सौत्रामणि इष्टि हुई। उसी में इस बात का बखान किया जाता है कि देवों ने इन्द्र के इस रोग की चिकित्सा की है।

इस पर त्वष्टा को क्रोध आ गया कि बिना बुलाये ही मेरा सोम क्यों पी गया? इस तरह से क्रुद्ध होकर उसने स्वयं ही अपने यज्ञ का विध्वंस कर डाला। कलश में जो शेष सोम था उसे अग्नि में उड़ेल कर कहा – ''इन्द्रशत्रुर्वर्द्धस्व'' अर्थात् ''हे अग्नि! इन्द्र है शत्रु (शातयिता–मारने वाला) जिसका उसको तू बढ़ा''। उस सोम ने अग्नि में घुस कर बढ़ना प्रारम्भ किया। कुछ विद्वानों का मत है कि वह बीच में ही अग्निषोमात्मक हो गया। वह सब विद्याओं में, सब प्रकार के यश में, सभी तरह के खाद्य अन्नों में, सभी प्रकार की श्री में घुस कर बड़ा हो गया।

क्योंकि वह चक्कर काटता पैदा हुआ अतः ''वृत्र'' कहलाया। वह बिना पैरों के उत्पन्न हुआ अतः ''अहि'' अर्थात् सर्प कहलाया क्योंकि सर्प के पाँव होते ही नहीं है। उसे ''दनु'' और ''दनायु'' ने माता–पिता के समान पाला अतः वह ''दानव'' कहलाया। क्योंकि यज्ञ में सोम उड़ेलते हुए त्वष्टा ने कहा था –

''इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व''

यहाँ उसने 'इन्द्रशत्रु' शब्द में बहुव्रीहि समास प्रयोग किया। अतः उसका अर्थ हुआ ''इन्द्र है शत्रु (मारने वाला) जिसका, वह बढ़े'' परिणाम यह हुआ कि इन्द्र ने उसे मार डाला। यदि वह ''इन्द्रशत्रुः'' शब्द में तत्पुरुष समास का प्रयोग करता तो अर्थ–होता ''इन्द्र का जो शत्रु (मारने वाला) है वह बढ़े''। परिणामस्वरूप वह इन्द्र को मार डालता।

त्वष्टा ने कहा ''बढ़ो'' इसीलिए वह तीर के समान टेढ़ा और तीर के समान सामने सीधा बढ़ा। उसने पश्चिमी समुद्र और पूर्वी समुद्र–दोनों लांघ दिया अर्थात् पीछे छोड़ दिया और जितना वह बढ़ा, उसी के अनुसार उसने भोजन कर लिया।

इसका परिणाम यह हुआ कि देव लोग प्रातः उसे भोजन देते हैं और दोपहर में मनुष्य और तीसरे पहर में ''पितर'' लोग भोजन देते हैं।

अब इस प्रकार इन्द्र खदेड़ा हुआ सा इधर–उधर घूम रहा था। उसने अब ''अग्नि–सोम'' को बुलाया और बोला–

''हे अग्नि–सोम! तुम दोनों मेरे हो और मैं तुम दोनों का हूँ।'' यह तुम दोनों का कुछ भी नहीं लगता। तुम उस दस्यु को मत बढ़ाओ क्योंकि वह मेरा शत्रु है। अब तुम दोनों मेरे पास आ जाओ।

वे दोनों बोले ''हम आ तो जाते हैं परन्तु हमें क्या मिलेगा? इस पर इन्द्र ने कहा– एकादश कपालों का ''पुरोडाश'' अग्नि–सोम को मिलेगा। इसीलिए एकादश कपालों का पुरोडाश अग्नि–सोम के लिए तैयार किया जाता है।

वे दोनों उसके पास चले गए और उसके पीछे–पीछे सब देवता भी चले गए। सब विद्यायें, सब यश, सब अन्न, सब श्री भी पीछे–पीछे चले गए। इस पुरोडाश के यज्ञ से वह इन्द्र कहलाया। यही पौर्णमास यज्ञ का महत्त्व है। जो इस तरह से पौर्णमास का यज्ञ करता है, उसके पास श्री आती है, यश आता है और वह विविध प्रकार के अन्नों को भोगता है।

अब वृत्र दैन्यावस्था में भी मरा हुआ सा पड़ा हुआ था। उसकी अवस्था ऐसी थी जैसे–जैसे पानी निकल जाने पर मशक की या सत्तू निकल जाने पर सत्तू की बोरी की होती है। वह बिल्कुल सिकुड़ गया था। इस स्थिति का लाभ उठाने के लिए इन्द्र उसे मारने के लिए उस की तरफ दौड़ पड़ा।

अब फिर वृत्र बोला – ''हे इन्द्र तू मुझे मत मार। तू इस समय वही है जो मैं हूँ अर्थात् पहले जैसा मैं था। तू मेरे दो भाग कर दे। ऐसा न कर जिससे मेरा अस्तित्व समाप्त हो जाये।'' अब इन्द्र ने कहा – तू मेरा खाद्य–पदार्थ होगा, अर्थात् तुझे मेरी अधीनता को स्वीकार करना होगा। वृत्र बोला–बहुत अच्छा, मैं आप की अधीनता को स्वीकार करता हूँ। इन्द्र ने वृत्र के कथनानुसार उसके दो टुकड़े कर दिये। उसका जो सोमयुक्त भाग था उससे चन्द्रमा पैदा कर दिया तथा जो उसका असुर युक्त भाग था उससे समस्त जीवधारी पेट युक्त उत्पन्न हुए। इसीलिए कहा जाता है कि पहले भी वृत्र अन्न खाता था और अब भी वृत्र अन्न खाता है। यह जो चन्द्रमा पन्द्रह दिन में पूरा होता है वह इसी लोक से रस लेकर पूर्ण हो जाता है और जो ये प्रजाएँ भोजन करती हैं वे पेट में बैठे इस वृत्रासुर को मानो भोजन भेंट करती हैं। अब जो इस प्रकार वृत्र के अन्न खाने की बात को जानता है वह अन्नाद हो जाता है अर्थात् स्वयं भी अन्न खाने वाला हो जाता है।

अब देवताओं ने कहा – हे अग्नि और सोम! हम तुम्हारे पीछे चले आ रहे हैं और तुम दोनों सबसे उत्तम भाग यज्ञ में ग्रहण कर रहे हो। इसीलिए जो तुम ग्रहण कर रहे हो उसमें से हम को भी भाग दो।

अब अग्नि और सोम दोनों बोले – इससे हमें क्या मिलेगा? तब देवताओं ने कहा – जिस किसी देवता के नाम की हवि लोग देंगे, उससे पहले तुम्हारे लिए घी की आहुति देंगे। इसीलिए जिस किसी देवता के लिए हवि देते हैं तो पहले ही हवन में घृत की दो आहुतियाँ अग्नि और सोम के लिए दी जाती हैं।

अब अग्नि बोला–मुझमें ही तुम सब के लिए आहुति दोगे तथा मैं तुम्हें भाग दूँगा। इसीलिए सब देवताओं के लिए अग्नि में ही आहुति दिया करते हैं। अतः यहाँ याज्ञवल्क्य कहते हैं–

''तस्माद् आहुः अग्निः सर्वाः देवताः'' इति।। १–६–३–२०

अर्थात् अग्नि में ही सभी देवताओं के लिए आहुति दी जाती है। अतः अग्नि ही सभी देवों का देवता है अर्थात् अग्नि ही महान् देवता है।

अब सोम कहाँ पीछे रहने वाला था वह भी बोला – ''सब देवताओं के लिए मुझ में आहुति दो। उसमें से तुम सभी को भी भाग दूँगा।'' इसीलिए सोम की आहुति सभी देवों के लिए दी जाती है। अतः यहाँ याज्ञवल्क्य ने कहा–

तस्माद् आहुः सोमः सर्वाः देवताः इति।। १–६–३–२१

अर्थात् सोम की आहुति सभी देवताओं के लिए दी जाती है। अतः सोम ही सब देवताओं का देवता है। यहाँ सोम को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

यहाँ याज्ञवल्क्य पुनः व्यवस्था देते हुए कहते हैं–

अथ यद् इन्द्रे सर्वे देवाः तत्स्थानाः। तस्माद् आहुः
इन्द्रः सर्वाः देवताः इन्द्रश्रेष्ठाः देवाः इति
एतद् ह वै देवाः त्रेधा एकदेवत्या अभवन् सः यः
ह एवम् एतद्वेद एकधा ह एव स्वानां श्रेष्ठो भवति।। १–६–३–२२

अब क्योंकि सब देवता इन्द्र के ही आश्रित हैं इसीलिए कहा गया कि इन्द्र ही सभी देवताओं का देवता है। इन्द्र ही सब देवों में श्रेष्ठ है। इस प्रकार से तीन प्रकार के ये देवता एक ही देवता के रूप में आ गये। जो इस रहस्य को जानता है, समझता है

वह अपने आदमियों में इन्द्र की तरह सर्वश्रेष्ठ हो जाता है। इसे इस तरह समझना चाहिए कि हवि में अग्नि श्रेष्ठ और हवियों में सोम श्रेष्ठ तथा आश्रय दाताओं में इन्द्र श्रेष्ठ है क्योंकि वही हम सबका आश्रय है। इसीलिए आज्य की आहुति ''इन्द्राय स्वाहा'' है।

संसार के सभी पदार्थ दो भागों में विभक्त हैं। तीसरा नहीं है। एक आर्द्र अर्थात् गीला और दूसरा सूखा है। यहाँ जो सूखा है वह आग्नेय है और जो गीला है वह सोम है।

अब आगे अग्नि–सोम के महत्त्व को लौकिक व्यवहारों से जोड़ते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि –

सूर्य आग्नेय अर्थात् अग्नि का है। चन्द्रमा सोम का भाग है। दिन अग्नि का है और रात सोम की है। पक्ष भी दो तरह के हैं, उसमें जो उदय पक्ष अर्थात् शुक्ल पक्ष है वह अग्नि का है तथा क्षय पक्ष अर्थात् कृष्ण पक्ष सोम का है।

अब आगे याज्ञवल्क्य तीनों के लिए आहुतियों की व्यवस्था प्रदर्शित करते हुए लिखते हैं कि प्रथम दो आज्य आहुतियों से सूर्य और चन्द्रमा की प्राप्ति होती है। उपांशुयाज अर्थात् मन्द स्वर के प्रयाजों से दिन–रात को प्राप्त करता है और पुरोडाश से दोनों पखवाड़ों को प्राप्त करता है।

यहाँ यज्ञ करते हुए यजमान की भावना होती है कि ''मैं सब कुछ प्राप्त करूँ, मुझे ही सब कुछ मिले। मैं ही सब कुछ जीत लूँ। सभी से ही इस वृत्र को मार डालूँ सभी से अहितकारी शत्रु को मार डालूँ। यजमान ऐसा विचारता है, इसीलिए उपरोक्त सभी कुछ किया जाता है।

यहाँ उपांशु जप का प्रयोजन देते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि मन्द स्वर के उच्चारण से देवों ने वषट्कार रूपी वज्र से जिस–जिस असुर को चाहा उसके पास चुपके से जाकर उसको मार डाला। इसी प्रकार यह यजमान भी उपांशु याज से पापी द्वेष करने वाले शत्रु को वषट्कार के वज्र से मारता है। इसीलिए उपांशु याज से यज्ञ किया जाता है।

जो कोई ऋचा को पढ़कर ''जुषाण'' द्वारा यज्ञ सम्पादित करता है उससे एक ओर दान्त वाली प्रजा उत्पन्न होती है। अर्थात् एक जबड़े वाले जानवर पैदा होते हैं। यहाँ ऋक् हड्डी के समान है और दांत भी हड्डी ही है। तब तो एक ओर ऋचा के होने से मानो एक ओर हड्डी अर्थात् दांत उत्पन्न करता है। इसीलिए जानवरों के दाँत एक ओर ही होते हैं।

अब ऋचा को पढ़कर एक और ऋचा का पाठ करता है। इससे दोनों ओर जबड़े वाली प्रजा उत्पन्न होती है। यहाँ ऋचा हड्डी और दाँत भी हड्डी है। इस तरह दोनों तरफ हड्डी अर्थात् दाँत लगाता है। इस तरह ये प्रजाएँ दो तरह की हुई। एक तो वह जो एक तरफ दाँत वाले हैं और दूसरी वह जिनके दान्त दोनों तरफ हैं। इस तरह से जो अग्नि और सोम की उत्पन्न करने वाली शक्ति को समझता हुआ यज्ञ करता है वह प्रजा और पशुओं से फूलने–फलने वाला होता हैं। हमें भी अग्नि और सोम के विस्तार को समझना चाहिए तभी हम भी प्रजावान् और पशुधन से युक्त हो सकते हैं। यहाँ कपिल ऋषि का यह वचन कि–

''अग्निषोमात्मकमिदं जगत्''

यह कथन सर्वथा सिद्ध हुआ।

यहाँ पूर्णमासी के व्रत के सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य व्यवस्था देते हैं तथा यह व्यवस्था सर्वत्र मान्य होनी चाहिए क्योंकि –

स वै पौर्णमासेन उपवत्स्यन्। न सत्रा सुहितः इव
स्यात् तेन इदम् उदरम् असुर्यं व्लिनाति आहुतिभिः
प्रातः दैवम्, एषः उ पौर्णमासस्य उपचारः।। १–६–३–३१

पौर्णमास के व्रत में यजमान को भरपेट भोजनादि नहीं करना चाहिए उसे पौर्णमास के यज्ञ का उपवास करना चाहिए। तृप्त होकर नहीं खाना चाहिए, भरपेट खाने से पेट में रहने वाला वृत्रासुर ही तृप्त होकर बढ़ता है। दूसरे दिन प्रातःकाल की आहुतियों से देव वर्ग पुष्ट अर्थात् सन्तुष्ट किया जाता है। हमने भी देव वर्ग को सन्तुष्ट करना है। यही पूर्णमासी का शिष्टाचार है। इसीलिए प्रातः ही उपवास करे यही याज्ञवल्क्य का सिद्धान्त है।

अब प्रजापति जब सृष्टि बना चुका तो उसके जोड़ ढीले हो गए। यहाँ संवत्सर ही प्रजापति है और उसके जोड़ हैं दिन–रात की सन्धियाँ, पौर्णमास व अमावस्या की सन्धियाँ तथा ऋतुओं की सन्धियाँ ये ही उसके जोड़ हैं।

प्रजापति अपने थके हुए जोड़ों से सृष्टि के जोड़ों को जोड़ने में समर्थ न हुआ, तब देवों ने हवियों और यज्ञों द्वारा उसकी चिकित्सा की अर्थात् उसे ठीक कर दिया, तथा अमावस्या से पूर्णमासी और पूर्णमासी से अमावस्या के जोड़ों को अग्निहोत्र द्वारा ठीक कर दिया। इससे वह जुड़ गया एवं चातुर्मास्य यज्ञों से ऋतु के आरम्भ वाले जोड़ों को ठीक कर दिया।

ठीक हुए प्रजापति ने सभी तरह के अन्नादि भोग्य पदार्थों को प्राप्त कर लिया। इस तरह से जो विद्वान् पहले प्रातःकाल उपवास करता है वह तुरन्त ही प्रजापति की सन्धियों को जोड़ देता है और प्रजापति उसकी रक्षा करता है। जो इस रहस्य को जान कर उसी समय उपवास करता है वह भोग्य पदार्थों का स्वामी हो जाता है। इसीलिए उसी दिन पूर्णमासी का व्रत करना चाहिए।

यह जो यज्ञ की दो आज्यभाग आहुतियाँ हैं ये यज्ञ के दो चक्षु हैं। इसीलिए इनके लिए प्रथम ही हवियाँ प्रदान की जाती हैं। ये चक्षु शरीर में भी पहले अर्थात् सामने हैं। इस प्रकार दोनों आँखों को सामने रखता है। इसीलिए आँखें सामने होती हैं।

यहाँ कुछ लोग अग्नि की आज्यभाग आहुति उत्तरार्ध पूर्व की ओर, सोम की आज्य भाग आहुति दक्षिणार्ध पूर्व की ओर देते हैं। यह समझ कर कि हम आज्य के रूप में दोनों आंखों को सामने रखते हैं। यहाँ याज्ञवल्क्य बहुत सुन्दर व्यवस्था देते हैं–

> तद् उ तदा अविज्ञान्यम् इव ''हवींषि ह वा आत्मा यज्ञस्य
> सः यद् एव पुरस्ताद् हविषां जुहोति तत् पुरस्तात् चक्षुषी
> दधाति यत्र उ एव समिद्धतमं मन्येत तद् आहुतीः जुहुयात्
> समिद्धहोमेन हि एव समृद्धाः आहुतयः।। १–६–३–३९

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि उनकी यह बात समझ से परे है, उनका यह अनाड़ीपन है क्योंकि निश्चय से हवियाँ ही यज्ञ की आत्मा हैं। जब यजमान हवियों से पहले आहुति

देता है तो सर्वप्रथम आँखों को सामने रखता है। इसीलिए आहुतियों को उसी स्थान पर देवें जहाँ अग्नि सबसे अधिक चमकती हो। क्योंकि आहुतियों की सफलता इसी में है कि उनका यज्ञ सबसे अधिक दहकती अर्थात् चमकती अग्नि में किया जा रहा है।

ये दोनों आँखें अग्नि और सोम के रूप हैं। यह जो शुक्ल अर्थात् सफेद रूप है वह अग्नि का है और जो कृष्ण है वह सोम का रूप है। यदि इस व्यवस्था के विपरीत कहा जाए कि जो कृष्ण है वह अग्नि का रूप है और जो शुक्ल है वह सोम का रूप है। जब आँखें देख रही होती हैं वह अग्नि का रूप होती हैं क्योंकि देखने वाले की आँखें सूखी हुई होती हैं। वैसे भी आग्नेय पदार्थ सूखे हुए से होते हैं और जब सोता है वह आँखों का सोमरूप हुआ करता है क्योंकि जब वह सो कर उठता है तो उसकी आँखें गीली सी होती हैं और सोम भी गीला–सा होता है। अब जो मनुष्य आज्यभागों को दो आँखों के रूप में जानता है उसके लिए याज्ञवल्क्य ने बहुत सुन्दर बात कही है–

आजरसं ह वा अस्मिन् लोके चक्षुष्मान् भवति, सचक्षुः
अमुष्मिन् लोके सम्भवति यः एवम् एतौ चक्षुषी आज्यभागौ वेद।।

१–६–३–४१

यजमान को यज्ञ करते हुए इन दो आज्य भाग के महत्त्व को समझना है। इन्हें समझ कर ही यज्ञ को करना चाहिए। अतः याज्ञवल्क्य लिखते हैं कि जो मनुष्य इन आज्यभागों को दो आँखों के रूप में जानता है वह बुढ़ापे में भी आँखों वाला होकर जीवित रहता है और परलोक में भी अच्छी आँखों वाला होता है।

''अग्नि और सोम'' के इस विस्तृत पाठ को समझना है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने इस कथन के माध्यम से मनुष्य की प्रवृत्तियों को समझने का प्रयत्न किया, सर्वप्रथम त्वष्टा के पुत्र के तीन सिर मनुष्य की प्रवृत्तियाँ हैं। इन्द्र ने उन तीनों सिरों को काट दिया क्योंकि इन्द्र इस बात को सहन नहीं करता कि एक ही आदमी तीनों तरह के मुख से सब कुछ खाने वाला बने। अतः इन्द्र ने तीनों सिरों को इसीलिए काट दिया क्योंकि एक सिर से वह सोम पीता था और दूसरे से सुरा और तीसरे से अन्य भोग्य पदार्थों को खाता था। अब तीनों तरह की प्रवृत्ति दर्शाते हुए समझाया कि सोम पीने वाले कटे सिर

से चातक की उत्पत्ति हुई। क्योंकि उसने मुख से सोम पिया था। अतः चातक स्वाभिमानी हुआ करता है। वह छप्पर का पानी नहीं पीता, प्यासा मर जायेगा परन्तु इधर–उधर मुख नहीं मारता। वह पानी पीता है तो गर्जते हुए बादल से टपकते हुए पानी को मुख ऊपर कर के पीता है। इसीलिए चातक को सामने रखते हुए नीतिकार ने मनुष्य को सुन्दर शिक्षा दी है–

रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयताम्,

अम्बोदाः बहवो हि सन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः।

केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद् वृथा,

यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः।। भर्तृहरि नीतिशतकम्

ऐ मेरे मनुष्य रूपी मित्र चातक! सावधान होकर एक घड़ी के लिए मेरी बात को सुन। आसमान में बहुत से जल देने वाले बादल हुआ करते हैं, परन्तु वहाँ सभी बादल जल देने वाले नहीं हैं इस बात को समझ लेना। कुछ बादल बरस कर इस धरती को गीला अर्थात् सर्वथा सीञ्च देते हैं और कुछ बादल निरर्थक ही गर्जना करते हुए चले जाते हैं। यही प्रवृत्ति मनुष्यों की भी है, जो निरन्तर विद्वानों से ठगी करते हुए मुस्कुराते ही रहते हैं। अतः मेरे मित्र चातक! जिस किसी उठते हुए बादल के सामने दीन–हीन वाणी प्रयोग मत करो। जल रहित वे बादल गर्जते ही हैं बरसते नहीं।

यहाँ चातक के रूप में याज्ञवल्क्य ने स्वाभिमानी बनने का सन्देश दिया है। हमें भी स्वाभिमानी बनना है विद्वानों को इसका अनुसरण कर लेना चाहिए।

दूसरा सिर जो सुरा का सेवन करता था उससे गौरैया या चटका पक्षी उत्पन्न हुआ। यह पक्षी विलासी होता है क्योंकि मद्य पीने वाला भी विलासी और बकवादी होता है। याज्ञिक को इससे सर्वथा दूर–दूर रहना चाहिए। तीसरा सिर जो अन्नादि भोग्य पदार्थों को खाता था उससे तित्तिरी उत्पन्न हुई। वह उसी में मस्त रहती है। बाल–बच्चों के साथ उसका स्नेह होता है वह प्रजावती होती है। अन्नादि भोग्य पदार्थों के सेवन से हम भी प्रजावान् हो सकते हैं।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात कही गई है कि स्वार्थी चाहे कोई भी हो, वह कभी न कभी स्वार्थपन के नाते पीड़ा को प्राप्त होगा। इन्द्र ने भी सारा सोम पी लिया उसे भी पीड़ा हुई। वह सोम सभी इन्द्रियों से बाहर निकलना प्रारम्भ हुआ, परन्तु मुख से नहीं निकला क्योंकि उसने मुख से देवों को बुलाया। देव और कोई नहीं अपितु अग्नि और सोम थे उन्होंने उसे चंगा कर दिया। निःस्वार्थ होकर जो इस अग्नि और सोम के यज्ञ को आज्यभाग से करता है वह इन्द्र की तरह निरोगता को प्राप्त होता है और यह अग्नि सोमात्मक यज्ञ इहलोक से परलोक तक उसका उद्धारक होता है। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त याज्ञवल्क्य ने दिया है। उसका अन्वेषण कई वर्षों से हमारे द्वारा किया जा रहा था, लोग उसे उपनिषद् का कहकर छलावा किया करते थे। आलंकारिक भाषा से श्रोताओं को रिझाने का प्रयत्न करते थे। आज जब श्रीमती रमा मुञ्जाल व समादरणीय श्री सुरेश मुञ्जाल की महती प्रेरणा से शतपथ ब्राह्मण पर कुछ लिखने का दुःसाहस किया तो इस प्रकरण से ज्ञात हुआ कि हवियाँ ही यज्ञ की आत्मा हैं। यहाँ याज्ञवल्क्य लिखते हैं–

''हवींषि ह वा आत्मा यज्ञस्य''

यह कथन हमारे लिए समादरणीय, एक सिद्धान्त पक्ष है।

* * *

६८-अष्टषष्टितमपाथेयम्

पौर्णमास व अमावस्या का महत्त्व

पूर्णिमा व अमावस्या ये दोनों भी प्रजापति के महत्त्वपूर्ण जोड़ हैं। इस जोड़ के शिथिल होने पर प्रजापति भी शिथिल हो जाता है और फिर सृष्टि–यज्ञ भी शिथिल हो जाता है, परन्तु देव ऐसा होने नहीं देते हैं। वे पूर्णिमा व अमावस्या के यज्ञ करते हुए प्रजापति को चंगा अर्थात् पूर्णरूपेण स्वस्थ कर देते हैं। फिर सृष्टि का यह चक्र पक्ष के रूप में चलना प्रारम्भ हो जाता है। इसके महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती अपने अमूल्य ग्रन्थ ''संस्कार विधि'' गृहस्थ प्रकरण में गृहस्थियों को आदेश देते हुए लिखते हैं –

इस तरह हम सभी का परम कर्त्तव्य बनता है कि अभाग्योदय हमारे घरों में न हो। अतः हमें कम से कम यह पक्षेष्टि यज्ञ तो अवश्य करना चाहिए। मासिक पक्ष दो भागों में विभक्त है–एक कृष्ण पक्ष है और दूसरा शुक्ल पक्ष। कृष्ण पक्ष अमावस्या का प्रतीक है और शुक्ल पक्ष पूर्णमासी का प्रतीक है। इस पक्षेष्टि यज्ञ को हम सभी ने करना है और शतपथ के कथनानुसार इसके महत्त्व को जानना भी है। याज्ञवल्क्य इसे कथानक के रूप में प्रतिपादित कर रहे हैं–

इन्द्रः ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार।। १–६–४–१

इन्द्र ने उस वृत्रासुर को जिसने सोम अर्थात् यज्ञ के सार को अपने अन्दर छुपा दिया था उसको मारने के लिए अपने वज्र का प्रयोग किया, परन्तु अपने को निर्बल समझ कर कि अभी वृत्रासुर मरा नहीं, कहीं यह मुझ पर हमला न कर बैठे, उसने छिपना ही श्रेयस्कर समझा। वह छिप गया और दूर चला गया। परन्तु देव लोग जान चुके थे कि वृत्रासुर तो मारा गया है, और इन्द्र छिप गया है।

परन्तु देवताओं ने इन्द्र को ढूँढना था। देवता भी हटने वाले नहीं थे। अतः उन्होंने तीन को इन्द्र के ढूँढने में लगा दिया। उनमें देवताओं में अग्नि, ऋषियों में हिरण्यस्तूप

और छन्दों में बृहती छन्द–ये तीनों इन्द्र को खोजने निकले। यहाँ अग्नि ने उसे प्राप्त कर लिया। वह अग्नि अमावास्या के काल में उसके पास गया और उसे पकड़कर ले आया। यहाँ अग्नि उसके साथ रहा क्योंकि वह देवों में वसु है। वही बस्ती बसाने वाला वीर इन्द्र है।

अब देव लोग कहने लगे, ''अमा अर्थात् हमारा वसु जो हमसे अलग होकर चला गया था वह आज अग्नि की कृपा से हमारे साथ बस रहा है। जिस प्रकार घरों में दो सम्बन्धियों या दोस्तों के लिए या मेहमानों के लिए एक–सा भात या एक–सा पुलाव तैयार करते हैं क्योंकि यही मनुष्य का व्यवहार होता है। आये हुए अतिथि के लिए या तो भात बनाते हैं या पुलाव। यहाँ याज्ञवल्क्य ने लिखा–

ओदनं पचेद् अजं वा।। १–६–४–३

यहाँ पर ओदन का अर्थ भात सभी ने किया है परन्तु अज का अर्थ बकरा बहुतों ने किया जो उचित नहीं। क्योंकि यहाँ अमावस्या व पौर्णमासी के यज्ञ का वर्णन है अतः यहाँ भी आहवनीय अग्नि में यज्ञ हो रहा है। यहाँ क्रव्यादग्नि नहीं है जिसके लिए बकरे की आवश्यकता हो। महाभारत के शान्ति पर्वः अध्याय–३३७ में लिखा है–

''अजसंज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हथ'' ।। शान्तिपर्व, ३३७/४

अर्थात् यहाँ ''अज'' शब्द ब्रीहि आदि–बीजों का नाम है अतः भ्रान्ति में बकरे का हनन नहीं किया जाता। इसी तरह पञ्चतन्त्र नामक ग्रन्थ के काकोलूकीय तन्त्र की २ कथा में स्पष्ट शब्दों में लिखा है–

''अजाः सप्तवर्षिका ब्रीहय उच्यन्ते।।''

सात साल पुराने चावल को ''अजा'' नाम से पुकारा जाता है। वैसे भी चावल जितना भी पुराना हो उतना ही अधिक स्वादिष्ट होता है। घर आये मेहमान का स्वागत बढ़िया से बढ़िया चावल के भात या पुलाव बना कर किया जाता है। यहाँ पर भी इन्द्र और अग्नि उपस्थित हैं, उनके लिए भात या पुलाव परोसा गया परन्तु इससे इन्द्र सन्तुष्ट नहीं था। तब इन्द्र ने कहा – जब मैंने वृत्र पर वज्र से प्रहार किया और उसे

मार डाला, तो मैं डर गया। उस डर से मैं दुबला–पतला हो गया हूँ अतः मेरे लिए ऐसी हवि तैयार करो जो मेरे लिए पर्याप्त हो। देवों ने कहा ठीक है।

देवों ने आपस में परामर्श किया और फिर कहा–

''इन्द्र को सोम के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ से सहारा नहीं मिलेगा। अतः अब इसे सोम ही लाकर दो। वह सोम राजा यही तो है, यह जो चन्द्रमा है। यही देवों का अन्न है। जब वह इस अमावस्या की रात को न पूर्व में दीखे, न पश्चिम में दीखता हो उस समय वह इस लोक में आ जाता है और जलों और ओषधियों में प्रविष्ट हो जाता है और वही देवों का अन्न वसु है। क्योंकि वह उस रात्रि हमारे पास बसता है – इसीलिए इस रात्रि को अमावस्या कहते हैं। इसीलिए याज्ञवल्क्य ने कहा–

तद् यद् एष एतां रात्रिम् इह अमा वसति तस्माद्
अमावास्या नाम।। १–६–४–५

क्योंकि इस रात को वह चन्द्रमा ''अमा–वसति'' अर्थात् हमारे साथ बसता है, अतः इसका नाम अमावस्या है।

अब इन्द्र को भूख लगी तो देवों ने गौओं अर्थात् उनके दूध को इकट्ठा करके सोम को तैयार किया और वह जो ओषधियाँ खाता है उन्हीं का रस और जो जल वह पीता है उतना ही जल का अंश लेकर उसे तीव्र से तीव्र शक्तिशाली बनाकर तथा जामन लगाकर उन्होंने उसे इन्द्र को दिया।

यहाँ इन्द्र फिर बोला – ''इससे मेरा पेट तो भर जाता है परन्तु यह स्वाद में अच्छा नहीं लगता। ऐसा कोई उपाय करो कि यह मेरे लिए रुचिकर हो। देवों ने औटे हुए दूध से उसे रुचिकर बना दिया।

यद्यपि ये सभी पदार्थ एक ही हैं। यह दूध ही अन्य कुछ नहीं, यह दही भी तो दूध है और है भी इन्द्र का भाग। फिर भी इसके नाम नाना प्रकार के हो जाते हैं, यहाँ इन्द्र ने कहा– ''धिनोति मे'' अर्थात् मेरे लिए यह रुचिकर है, इससे मेरा पेट भर–पूर हो जाता है, अतः इसे ''दधि'' नाम से जाना जाता है। तथा इसको पकाकर बनाया गया है अतः इसे ''शृत'' कहते हैं।

इस यज्ञ में दधि का मिश्रण किया जाता है क्योंकि वह शरीर को हृष्ट–पुष्ट करता है। अतः इसके प्रयोग से इन्द्र भी हृष्ट–पुष्ट हुआ। वह भी सोम की तरह बढ़ने लगा तथा उसके शरीर में रुधिर–विकार से हरेपन का जो रोग था वह भी जाता रहा। रुधिर–विकार के कारण जो शरीर में हरेपन का रोग था उसकी सर्वथा निवृत्ति ही अमावस्या का महत्त्व है, अतः महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं–

सः यः ह एवं विद्वान् सन्नयति–एवं ह एव प्रजया पशुभिः
आप्यायते अप पाप्मानं हते तस्माद् वै सन्नयेत्।। १–६–४–९

अर्थात् जो कोई याज्ञिक इस रहस्य को जानकर–समझकर इस सान्नाय्य यज्ञ को करता है वह प्रजा, पशुधनादि से फलता–फूलता है और उसके सारे पाप अर्थात् कष्ट दूर हो जाते हैं। इसीलिए अमावस्या के दिन सान्नाय्य यज्ञ करे।

यहाँ सन्नाय यज्ञ को समझना परम आवश्यक है। अमावस्या यज्ञ का दूसरा नाम ही ''सान्नाय्य यज्ञ'' है। सान्नाय का अर्थ है – मेल से पैदा होने वाला पदार्थ अर्थात् जिसमें दो पदार्थों का समन्वय किया जाये। इस प्रकार दूध और दधि का साथ मिलना ही सान्नाय है। अतः अमावस्या के दिन दूध और दधि मिला कर यज्ञ करना चाहिए तभी यजमान प्रजावान्–पशु आदि से धनवान् बन सकेगा तथा कष्टों से सर्वथा दूर होगा। यही अमावस्या का महत्त्व है।

अब आगे अमावस्या और पौर्णमासी के यज्ञ भेद का वर्णन किया जाता है। याज्ञवल्क्य के मतानुसार पौर्णमास का यह यज्ञ वृत्रघ्न अर्थात् वृत्रासुर के मारने का यज्ञ है क्योंकि इसी की सहायता से इन्द्र ने वृत्र को मारा है।

अमावस्या का यज्ञ भी वृत्रघ्न अर्थात् इन्द्र के लिए है क्योंकि इन्द्र ने वृत्र की हत्या के पश्चात् इस यज्ञ को किया। इसी यज्ञ से इन्द्र ने वृत्रासुर को मारने के लिए शक्ति को प्राप्त किया है। यहाँ याज्ञवल्क्य लिखते हैं–

तद् वा एतद् एव वार्त्रघ्नम्।
यत् पौर्णमासम् अथ एष एव वृत्रः यत् चन्द्रमा।। १–६–४–१३

अर्थात् यह पौर्णमास यज्ञ ही वृत्रासुर को मारने का यज्ञ है तथा इस यज्ञ में चन्द्रमा ही वृत्रासुर है। जब यह चन्द्रमा जिस रात को न पूर्व में दीखता है और न पश्चिम में तो इस अमावस्या के यज्ञ द्वारा उसका पूर्णवध हो गया, उसका कुछ भी शेष नहीं रहा। यहाँ फिर महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं–

सर्वं ह वै पाप्मानं हन्ति न पाप्मनः किंचन परिशिनष्टि
य: एवम् एतद् वेद।। १–६–४–१३

इस तरह से इस रहस्य को जानने वाला अपने दुष्ट विरोधियों को पूर्णतया मार देता है अर्थात् अपने पापों को भी नष्ट कर देता है। उसका जीवन कष्टरहित तथा पाप रहित हो जाता है। उसके जीवन में पाप का कोई भी अंश शेष नहीं रहता। इतना बड़ा महत्त्व अमावस्या का है।

यहाँ कुछ लोग चौदहवीं के चाँद को देखकर अर्थात् चतुर्दशी के दिन ही व्रतोपवास कर लेते हैं। उनका मानना होता है कि अब देख लो यह चाँद कल उदय नहीं होगा। आज दर्शन करके उपवास रखने से देवों का भाग लगातार बना रहेगा। इस तरह से उन्हें अन्न का भाग मिलता रहेगा। इसे ही संसार में समृद्धि का लक्षण माना जाता है कि ''पहला अन्न अभी समाप्त नहीं हुआ और नया अन्न घरों में उपस्थित हो गया है''। इसी से उसे बहुत अन्न वाला, धन वाला माना जाता है, परन्तु वह इस समय सोमयाजी नहीं क्षीरयाजी होता है। उसके लिए यह दूध ही सोमराजा होता है, उसे ही सोम मानता है।

अब हमें ऐसा कोई उपाय करना चाहिए जिससे कि दूध सोम हो जाय। उसका एक मात्र उपाय यही है कि अमावस्या से पूर्व चन्द्रमा आकाश में ही रहता है अतः केवल दूध ही दूध का हवन होगा। अब उसमें सोम का प्रवेश तो होगा नहीं, क्योंकि गाय जो दूध देती है वह केवल मात्र घास खाती है और जल पीती है तथा केवल दूध मात्र हमें देती है। परन्तु उसमें सोम नहीं होता। परन्तु जिस दिन यह सोम राजा अर्थात् चन्द्रमा अमावस्या की रात को न पूर्व में दीखता न पश्चिम में, उस अमावस्या के दिन वह

चन्द्रमा इस धरती लोक में आ जाता है और वनस्पतियों तथा जल में प्रवेश कर जाता है। गौवें वनस्पति अर्थात् घास और जल का ही सेवन करती हैं। अतः उससे दूध रूप में सोम निचोड़ कर जब आहुतियाँ दी जाती हैं तो मानो वह चन्द्रमा फिर जन्म लेता है। तात्पर्य यह है कि अमावस्या के दिन चन्द्रमा आकाश में नहीं रहता परन्तु वह पृथिवी लोक में वनस्पति और जल में प्रविष्ट हो जाता है। वनस्पति और जल को गौवें पीती है, उसी से दूध बनता है और यजमान वनस्पति और जल से बने दूध से ही यज्ञ करता है। दूध से ही आहुति देता है। उस आहुति से मानो चन्द्रमा को उत्पन्न करता है। इस तरह वह नया होकर दूसरे दिन आकाश में चमकने लगता है।

इस तरह से देवों का अन्नरूप चन्द्रमा न क्षीण होने वाला होकर परिप्लवन करता है अर्थात् घूमता रहता है। यहाँ याज्ञवल्क्य लिखते हैं–

अविक्षीणं ह वा अस्य अस्मिन् लोके अन्नं भवति अक्षय्यम्
अमुष्मिन् लोके सुकृतं यः एवम् एतद् वेद।। १–६–४–१६।।

अर्थात् देवों का न क्षीण होने वाला अन्न मनुष्य तक आ जाता है। अतः जो इस रहस्य को – तत्त्व को जान लेता है, समझ लेता है उस मनुष्य का इस लोक में कभी भी अन्न क्षीण नहीं होता। वह अक्षय्य अन्न को प्राप्त करता है तथा परलोक में भी पुण्य को प्राप्त करता है।

इस तरह से अमावस्या की रात को अन्न देवों से चल कर इस लोक में आ जाता है। अब देवों ने चाहा कि क्या उपाय किया जाये कि यह फिर हमारे पास लौट आवे और किसी भी तरह से नष्ट न हो, भाग न जाए। इसीलिए देव लोग उन पर विश्वास रखते हैं जो सन्नाय यज्ञ के लिए दूध और दधि मिलाकर आहुतियाँ तैयार करते हैं। उन्हें विश्वास हो जाता है कि अब ये अवश्य हमें देंगे।

इति आह वा अस्मिन् स्वाः च निष्ट्याः च शंसन्ते
यः एवम् एतद् वेद यः वै परमतां गच्छति तस्मिन्
आशंसन्ते।। १–६–४–१७।।

अर्थात् जिन्होंने सन्नाय यज्ञ के लिए दूध–दधि आदि का पदार्थ तैयार कर दिया है देव लोग आशा रखते हैं कि यही हमें अब बटोर कर अन्न देंगे। संसार में जो इस रहस्य को जानते हैं, उन पर अपने व पराये लगाए रहते हैं, सभी विश्वास करते हैं क्योंकि जो बड़प्पन को प्राप्त है उस पर सभी विश्वास करते हैं।

यह जो आकाश में तपता है वह सूर्य ही इन्द्र है और यह चन्द्रमा ही वृत्र है। इसीलिए उन दोनों में शत्रुता है, वैर है। वह यद्यपि उस रात को बहुत दूर उदय होता है परन्तु अन्त में अमावस्या के दिन समीप आ जाता है और वह उसका ग्रास बन जाता है। अर्थात् वह सूर्य के मुख में घुस जाता है।

अब यहाँ पर याज्ञवल्क्य लिखते हैं–

> तं ग्रसित्वा उदेति। स न पुरस्ताद् न पश्चाद् ददृशे। ग्रसते ह
> वै द्विषन्तम् भ्रातृव्यम् अयम् एव अस्ति, न अस्य सपत्नाः सन्ति
> इति आहुः यः एवम् एतद् वेद।। १–६–४–१९

अर्थात् सूर्य चन्द्रमा को ग्रस्त करके उदय होता है। उस समय चन्द्रमा न पूर्व में दीखता है न पश्चिम में। वह सर्वथा विलुप्त होता है। बस जो इस रहस्य को जानता है वह अपने से द्वेष करने वाले शत्रु को ग्रस लेता है अर्थात् उसका सर्वथा विनाश कर देता है। संसार में वही – वह रहता है, उसके सामने अन्य किसी के टिकने का सामर्थ्य नहीं रहता है। उसके शत्रु कहीं के नहीं रहते, ऐसा विद्वज्जन कहते हैं।

अमावस्या के दिन सूर्य चाँद को निगल लेता है और प्रतिपदा के दिन वह सूर्य चूसे हुए चाँद को उगल देता है। वह चूस कर निगला हुआ सा दिखाई देता है। अब वह फिर बढ़ता हुआ सा दिखाई देता है। वह दिन–प्रतिदिन बढ़ता ही रहता है। वह सूर्य का अन्न बनने के लिए बढ़ता है। यहाँ याज्ञवल्क्य लिखते हैं–

> यदि ह वा अस्य द्विषन् भ्रातृव्यः वणिज्यया वा केनचिद्
> वा सम्भवति..... यः एवम् एतद् वेद।। १–६–४–२०

अर्थात् जैसे प्रतिपदा के बाद चन्द्रमा की वृद्धि सूर्य के लिए अन्न के रूप में होती है, वह चाँद सूर्य का ग्रास बनता है, वैसी ही इस रहस्य को जानने वाले के सब शत्रु

व्यापार व अन्य कृषि साधनों द्वारा किसी भी तरह के उपाय से बढ़ने भी लगें तो वह वृद्धि–बढ़ोतरी चाँद की तरह उसका अन्न ही है।

यहाँ तात्पर्य यह है कि यदि यजमान अमावस्या के दिन सन्नाय अर्थात् दूध–दधि युक्त यज्ञ को करता है तो उसके शत्रु चाहे व्यापारादि में कितने भी सम्पन्न क्यों न हों वे उसका मुकाबला नहीं कर सकते हैं। वह यजमान चाँद की तरह वृद्धि को प्राप्त करता हुआ पूर्णता के पश्चात् सूर्य की तरह दमकने व चमकने लगता है। इसी मर्म के रहस्य को यजमान ने समझना है। इत्यलम्।।

* * *

यज्ञ में पलाश का महत्त्व

यजमान को यज्ञार्थ समिधाओं की आवश्यकता होती है। बिना समिधाओं के वह यज्ञ नहीं कर सकता। विविध प्रकार की समिधाओं का बखान याज्ञवल्क्य ने पूर्व में कर दिया है परन्तु यहाँ पर विशेषतः सोम यज्ञ के रूप में पलाश का बखान किया है क्योंकि इस पलाश को ब्राह्मण वृक्ष माना है। इसमें ब्राह्मणत्व इसलिए भी है कि कैसी भी विषम परिस्थिति आवे इसके तीन ही पत्ते होते हैं। कहावत भी है ''ढाक के तीन पात''। इस वृक्ष की यही पहचान है कि इस वृक्ष की टहनियों में तीन ही पत्ते आते हैं। न इससे न्यून न अधिक। यज्ञ में भी सर्वप्रथम यजमान तीन ही समिधाओं का दान करता है, इसी तरह वही ब्राह्मण कहलाता है जो यज्ञार्थ मनसा–वाचा–कर्मणा अपना सर्वस्व दान कर दे। यह वृक्ष भी अपना सर्वस्व प्रदान करता है। अतः यह पलाश वृक्ष ब्राह्मण कहलाया। यहाँ स्वयं याज्ञवल्क्य कहते हैं कि–

''ते वै पलाशाः स्युः। ब्रह्म वै पलाशः'' ।। १–३–३–१९

अर्थात् यजमान ने यज्ञार्थ काष्ठपरिधि का निर्माण करना है तो वह उसे पलाश द्वारा ही करे क्योंकि पलाश ब्राह्मण काष्ठ कहलाता है। आगे फिर याज्ञवल्क्य ने कहा–

वनस्पतीनाम् पलाशः।।

अर्थात् सम्पूर्ण वनस्पतियों में यज्ञार्थ काष्ठ के रूप में सबसे श्रेष्ठ पलाश ही है। इसीलिए ऐतरेय ब्राह्मण भी इसे–

''तेजो वै ब्रह्मवर्चसम्''

अर्थात् यह पलाश ब्राह्मण की तरह तेज युक्त व ब्रह्मवर्चस् से युक्त है।

यही कारण है कि पलाश को ब्राह्मण वृक्ष माना गया है। इसीलिए याज्ञवल्क्य इस प्रकरण में कहते हैं–

स वै पर्णशाखया वत्सान् अपाकरोति। तद् यत् पर्णशाखया
वत्सान् अपाकरोति यत्र वै गायत्री सोमम् अच्छा अप

तत् तद् अस्याः आहरन्त्या अपादस्ता आभ्यायत्य
पर्णं प्रचिच्छेद गायत्र्यै वा सोमस्य वा राज्ञः तत्
पतित्वा पर्णः अभवत् तस्मात् पर्णः नाम तद् यद् एव
अत्र सोमस्य न्यक्तम् तद् इह अपि असत् इति तस्माद्–
पर्णशाखया वत्सान् अपाकरोति।। १–७–१–१ ।।

जिसे शास्त्रों ने ब्राह्मण माना है उस पलाश की एक शाखा से यजमान बछड़ों को हटाता है। यहाँ पर याज्ञवल्क्य एक कथानक का आश्रय समझाने के लिए लेते हैं–

एक बार गायत्री माँ सोम को लेने गई थी। वह उड़कर सोम को ला रही थी। उस समय अपादत्रा अर्थात् एक पैर रहित निशाने बाज ने तीर चलाया और एक पर्ण अर्थात् पंख को काट लिया। वह पर्ण चाहे गायत्री का कह लो या सोम का, जो भी हो वहीं पर्ण गिरकर पलाश वृक्ष बनकर धरती पर उपज कर खड़ा हो गया। इसीलिए इसका नाम पर्ण हुआ। सोम का जो भाग अलग सा छिप कर धरती पर पड़ा था वह भी यजमान के यज्ञ में सम्मिलित हो जावे। इसीलिए पलाश की शाखा से बछड़ों को दूर करता है।

यहाँ इसके तात्पर्य को समझना है। यहाँ कहा गया है कि पलाश वृक्ष की शाखाओं से बछड़ों का हटाना है। यह पलाश तो ब्राह्मणों का प्रतीक है। यह बात तो समझ में आ गई परन्तु अब यह जानना शेष रह गया कि बछड़ा किसका प्रतीक है। मानव जीवन गलतियों का पुतला है, कर्म करते हुए कई बार बुरे कर्म भी हो जाते हैं, पाप भी हो जाता है। अतः हमारे व्यापारिक व पारिवारिक जीवन में विघ्न बाधाओं का समावेश हो जाता है तो उस समय यजमान को विद्वान् ब्राह्मण की संगति से पलाश की समिधाओं से सोम यज्ञ करते हुए उनको बछड़े के रूप अपने से दूर हटा लेना चाहिए। यह एक दिन का काम नहीं बार–बार अमावस्या व पूर्णिमा का यज्ञ पलाश की समिधाओं से विद्वान् ब्राह्मण के सान्निध्य में करता है। ब्राह्मण विद्वान् भी वही हो जो यजमान के संकल्प के साथ जुड़ा हो। उस ब्राह्मण विद्वान् का जुड़ना अवश्य है तभी विघ्न रूपी, पापरूपी वह बछड़ा हटाया जा सकेगा।

अब उस पलाश की शाखाओं को काट कर कैसे लाना है, उसका भी विधिवत् विधान दिया जा रहा है, जो इस तरह से है – जब भी अध्वर्यु व यजमान पलाश को काटने के लिए जावें तो सबसे पहले इस मन्त्रांश द्वारा प्रार्थना करें–

''इषे त्वा ऊर्जे त्वा इति'' ।। यजु–१–१ ।।

अर्थात् पलाश की शाखा को काटते हुए हम दो बातों को लेकर प्रार्थना करते हैं कि हम तुम्हें यज्ञार्थ समिधा के रूप में ले जा रहे हैं। अतः सर्वप्रथम हमारे घर में सदैव अन्न की वृष्टि होती रहे दूसरा हमें ऐसा अन्न चाहिए जो हममें ऊर्जा उत्पन्न कर सके। इसीलिए हम तेरी शरण में आये हैं। प्रायः करके यजमान को अपने विद्वान् ब्राह्मण के पास जाकर प्रार्थना करनी चाहिए हम तुम्हें अन्नादि की वृष्टि से पलाश की शाखा की तरह हरा–भरा रखेंगे अर्थात् भरपूर रखेंगे और आप अपनी ज्ञान–वृष्टि से सदा ऊर्जावान् बनाते रहो, हममें ऊर्जा उत्पन्न करते रहो।

अब वह पलाश की शाखा को ग्रहण कर माँ के साथ बछड़े को मिलाता है, तत्पश्चात् पलाश की एक शाखा से बछड़े को हाँकते हुए कहता है–

''वायव स्थ'' ।। यजु–१–१

अर्थात् तुम वायु हो। जो पवते अर्थात् जो चलाता रहता है वही पवन अर्थात् वायु है। यह वायु भी बरसता है, बहता है अतः ताजगी को उत्पन्न करता है। वह हरी–भरी पलाश की शाखाओं से गौओं को लाता है इसीलिए कहा – ''वायव स्थ'' अर्थात् तुम वायु हो। तुम भी उसी तरह गतिशील बनो। आलसी व प्रमादी तुम्हारा जीवन न हो। विघ्न–बाधाएँ उन्हें ही आती हैं जो आलसी व प्रमादी होते हैं।

अब उन बछड़ों की माताओं में एक को पलाश की शाखा से स्पर्श करता हुआ अगला मन्त्रांश पढ़ता है–

''देवो वः सविता प्रार्पयतु'' ।। यजुः–१–१ ।।

यह सविता देवता तुम को प्रेरणा करे। यह सविता देव ही देवों का प्रसविता अर्थात् प्रेरक है। उसी की कृपा से हम यज्ञ के लिए सामग्री आदि जुटा पाते हैं। यदि उस की कृपा न हो तो हम यज्ञादि करने में समर्थ नहीं हैं, इसीलिए कहा गया है –

''देवो वः सविता प्रार्पयतु''

अर्थात् सविता देव तुम्हें प्रेरणा करें।

यहाँ पर पलाश ही यजमान के सविता के रूप में विद्वान् ब्राह्मण है उसी के निर्देशानुसार हमें यज्ञ करना है। प्रार्थना करो कि वह विद्वान् ब्राह्मण इस पलाश की तरह हमें निरन्तर प्रेरणा करता रहे। इसीलिए माताओं में एक माता को जो बछड़े की माँ अर्थात् जो दुधारु गाय है उसे पलाश से अलग किया जाता है क्योंकि उसके दुग्ध व घृतादि से यजमान ने यज्ञ को सम्पादित करना है।

अब आगे याज्ञवल्क्य ने महत्त्वपूर्ण ज्ञान का बखान दुनिया वालों के लिए किया है। जो यह मानते हैं कि हम संसार में कर्म करने के लिए आये हैं हमें फल की इच्छा नहीं, परन्तु उन्हें यह ज्ञान ही नहीं कि परमपिता परमात्मा किस कर्म का फल हमें देता है तो उस महत्त्वपूर्ण ज्ञान को आप सभी याज्ञवल्क्य के माध्यम से यहाँ जानें भी और जीवन में मानें भी। वह ज्ञान है–

''श्रेष्ठतमाय कर्मणे'' ।। यजुः १–१ ।।

अब पलाश से हाँकी गौ माता के आने पर प्रार्थना करें कि मैंने तुम्हें श्रेष्ठ कर्म के करने के लिए यहाँ बुलाया है अर्थात् लाया है। अब प्रश्न उठता है कि वह श्रेष्ठतम कर्म कौन–सा है? इस प्रश्न का उत्तर बड़ा ही सुन्दर शतपथ ब्राह्मण देता है–

''यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'' ।। १–७–१–५ ।।

याज्ञवल्क्य की यह पंक्ति स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है कि संसार का श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ है। यज्ञ का सम्पादन करना ही हमारे लिए पूर्ण विश्व का सर्वोत्तम कर्म है, इसके अतिरिक्त और कोई महत्त्वपूर्ण कर्म हो ही नहीं सकता है–यही हमारी विश्ववारा संस्कृति है। पलाश रूपी विद्वान् ब्राह्मण इस यज्ञ को करने के लिए निरन्तर प्रेरणा देता रहे यह प्रार्थना यजमान को उससे करनी चाहिए।

अब जिसने माता के रूप में इस श्रेष्ठतम कार्य को करने के लिए हमें दुग्धादि दिये हैं उसके लिए पलाश को लेकर प्रार्थना की जाती है–

आप्यायध्वम् अघ्न्या इन्द्राय भागम् ।। यजुः–१–१ ।।

अर्थात् हे अघ्न्याः गौओ! तुम इन्द्र देवता के लिए फलो–फूलो। प्रारम्भ में ही देवता के लिए हवि का आदेश दे दिया जाता है। वैसे ही यहाँ दुग्धादि की आहुति देने के लिए इन्द्र का नाम लिया है। यजमान की प्रार्थना है कि – हे गोमाताओ! तुमने इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए फलना–फूलना है क्योंकि तुम अघ्न्या हो अर्थात् तुम्हारी हिंसा नहीं की

जा सकती। तुम मारने–काटने योग्य नहीं हो। गोमाता मर गई तो यज्ञ मर गया और यज्ञ मर गया तो इन्द्र हम से दूर चला जायेगा।

अब आगे फिर प्रार्थना की जाती है–

''प्रजावतीः अनमीवाः–अयक्ष्माः'' इति।। यजुः–१–१ ।।

अर्थात् तुम उत्तम से उत्तम प्रजा अर्थात् सन्तान वाली बनो, तुम में किसी भी तरह का रोग न हो, विशेष कर यक्ष्मा रूपी भयंकर बीमारी से रहित तुम्हारा जीवन हो। यहाँ सब कुछ स्पष्ट है कि यज्ञ में प्रजा वाली गोमाता ही वांञ्छित है। उसी के स्वस्थ रहने की प्रार्थना है।

फिर आगे प्रार्थना की जाती है–

''मा व स्तेन ईशत माघशंस'' ।। यजुः १–१ ।।

अर्थात् तुम्हारे ऊपर कोई भी विनाशकारी राक्षस शासन करने में समर्थ न हो। तुम स्वतन्त्र होकर विचरो, तुम्हें किसी तरह की वेदना का सामना न करना पड़े। वर्तमान में वेद की गोमाता के प्रति इस वेदना को कोई समझेगा? यज्ञ की समृद्धि के लिए हमें इसे समझना होगा। जीवन में यह आदेश अनुकरणीय है। तभी हमारा यज्ञ करना सार्थक है।

फिर प्रार्थना की जाती है–

''ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीः'' यजुः १–१ ।।

अर्थात् यजमान के घर में अडिग होकर स्थिर बन कर गोमाता को निवास करना है। वहाँ से तुम्हें भगाने का किसी का सामर्थ्य न हो। वहीं रह कर तुमने सदा फलना–फूलना है। तुम्हारे फलने–फूलने पर ही यजमान की समृद्धि है। अतः यजमान के कल्याण के लिए तुमने सदा फलना–फूलना है।

अब यजमान को चाहिए कि आहवनीय अग्नि में अथवा गार्हपत्य अग्नि में पलाश को स्थापित करते हुए प्रार्थना करे –

''यजमानस्य पशून् पाहि'' ।। यजुः १–१ ।।

यह महत्त्वपूर्ण प्रार्थना है, इसे सब को करना चाहिए। वह प्रार्थना इस मन्त्रांश के द्वारा इस तरह की जाती है–

''हे परमपिता परमात्मन्! इस यजमान के पशुओं की निरन्तर रक्षा कीजिए। उस पलाश की शाखा द्वारा वह यजमान ब्रह्म के रूप में गोमाता की रक्षा की प्रार्थना करता है। दूसरा यजमान यहाँ गोमाता के लिए प्रार्थना पलाश की शाखा को ही लेकर नहीं कर रहा अपितु उसके साथ–साथ ईश्वर से भी यह प्रार्थना कर रहा है कि प्रभु! मेरी सन्तान पर पलाश रूपी विद्वान् ब्राह्मण के आशीर्वाद की निरन्तर छाया बनी रहे। इस पलाश रूपी विद्वान् ब्राह्मण की कृपा सदा बनी रहे। इसीलिए यजमान के पशुओं को रक्षार्थ ब्रह्म के हवाले करता है। यहाँ पलाश ही ब्रह्म है उसी की तरह हमारी सन्तान, हमारे पशु भी सदा सुरक्षित रहें''। यही प्रार्थना करनी चाहिए।

इन्हीं भावनाओं के साथ यजमान ने यज्ञ सम्पन्न कर दिया। अब पलाश की शाखा में कुशा बाँधकर पवित्रीकरण किया जाता है, उस समय इस मन्त्र को पढ़ता है–

''वसोः पवित्रम् असि'' ।। यजुः १–३ ।।

अर्थात् तू यज्ञ की पवित्रा है। यज्ञ को पवित्र बनाने के लिए पलाश की शाखा में कुशा को बाँध कर पवित्रीकरण किया जाता है और यही मन्त्र पढ़ता है – ''वसोः पवित्रम् असि''। यहाँ वसु नाम यज्ञ का है। यज्ञ ही बसाने वाला होता है। इसी के माध्यम से हम बसते हैं। तभी तो यज्ञ में समिदाधान करते हुए प्रार्थना करते हैं ''प्रजया पशुभिः ब्रह्मवर्चसेन अन्नाद्येन समेधय'' अर्थात् हे यज्ञ! हे परमपिता परमात्मन्! यजमान को प्रजा से, पशुधन से, विद्या से, विविध अन्नादि से अपने इस ब्रह्माण्ड की तरह चमकाओ। इस प्रार्थना को यज्ञ तभी स्वीकार करता है जब उस यज्ञ को यजमान तप और त्याग से करे। क्योंकि यहाँ पर यह कुशा तप की प्रतीक है और पलाश की शाखा त्याग की। विद्वान् ब्राह्मण भी वही होता है जो ज्ञान की वृद्धि के लिए तप करता है और यजमान तभी यजमान के योग्य बनता है जो त्याग अर्थात् दान की भावना से युक्त होता है तभी यज्ञ सफल होता है।

* * *

गोदुग्ध का महत्त्व

जैसे कर्मकाण्ड में घृत से अभिप्राय मात्र गोघृत से होता है उसी तरह दुग्ध से भी अभिप्राय गोदुग्ध का ही होता है। गोदुहन का समय वही होता है जो यज्ञ का हुआ करता है। यज्ञार्थ उसी गोदुग्ध को ग्रहण किया जाता है जिसके बछड़ा हो। जैसे पुत्र के नाम ग्रहण से पुत्री का ग्रहण स्वतः ही हो जाता है उसी तरह यहाँ बछड़ा शब्द से बछड़ी का ग्रहण हो जाता है। अर्थात् जिस गोमाता के चाहे बछड़ा व बछड़ी साथ हो उसी का गोदुग्ध यहाँ पर ग्राह्य है। क्योंकि जैसे ही दोहन काल होता है बछड़े–बछड़ी को गाय के स्तनों में लगाना पड़ता है। यहाँ पर दोहन कर लिया दूध आ गया परन्तु दूध को गरम करने के लिए ''उखा'' नाम का पात्र लिया जाता है, जिसके लिए याज्ञवल्क्य कहते हैं–

अथ उखाम् आदत्ते।। १–७–१–११ ।।

अब दोहन के पश्चात् ''उखा'' अर्थात् दूध गर्म करने के पात्र को लाता है और उस समय मन्त्र पढ़ता है–

द्यौः असि पृथिवी असि।। यजुः १–२ ।।

यहाँ पर उस बर्तन की प्रशंसा करते हुए कहता है कि तू साधारण बर्तन नहीं है। तू मेरे लिए द्यौ अर्थात् द्युलोक की तरह देदीप्यमान है, तथा पृथिवी की तरह विशाल है। इस तरह उस पात्र की प्रशंसा करता है। फिर प्रशंसा करते हुए मंत्रांश पढ़ता है–

''मातरिश्वनः घर्मः असि'' ।। यजुः–१–२ ।।

अर्थात् तू द्यावापृथिवी के मध्य जिस तरह वायु विचरता है उसी तरह तू भी हमारे लिए ''घर्म'' अर्थात् दूध गरम करने का कढ़ाह है। यह एक तरह से यज्ञ के विस्तार का सूचक है। जिस तरह यज्ञ के लिए सोम अग्नि पर चढ़ाया जाता है, उसी तरह

दूध को गरम करने के लिए इस कढ़ाह को भी अग्नि पर चढ़ाया जाता है और मन्त्रांश पढ़ा जाता है–

विश्वधा असि परमेण धाम्ना दृंहस्व मा ह्वाः इति।। यजुः– १–२।।

यह दूध का परिपाक एक तरह का यज्ञ ही है। इसीलिए इस पात्र को विश्वधा असि अर्थात् तू सारे विश्व को धारण करने वाला कहा गया है। तू परम धाम है अर्थात् अपनी तेजस्विता से युक्त बना रहे। तुम्हारे में कभी भी अस्थिरता न आवे तुम दृढ़ बने रहो, तभी तो–

मा ते यज्ञपतिः ह्वार्षीत्।। यजुः १–२।।

जब तुम दृढ़ रहोगे तो यज्ञ का पति यजमान भी अडिग रहेगा। वह दृढ़ता से जमा रहेगा। यहाँ यज्ञपति यजमान को ही माना गया है, क्योंकि बिना यजमान के यज्ञ हो ही नहीं सकता है। यहाँ यजमान के लिए अडिग होने की प्रार्थना की जाती है। क्योंकि यज्ञ में यजमान स्थिर होना चाहिए उसकी स्थिरता पर यज्ञ की सफलता है। दूध की तरह उसे भी स्थिरता से तप करना होगा और दूध की स्थिरता इस कढ़ाह पर है जिसमें दूध गरम करने के लिए रखा गया है।

अब दूध की स्वच्छता के लिए पलाश की शाखा से बनी पवित्रा अर्थात् कुशायुक्त पलाश की शाखा को पूर्व की ओर रखें क्योंकि पूर्व की दिशा देवताओं की होती है अथवा उत्तर दिशा में रखें क्योंकि वह दिशा मनुष्य की होती है। हमारे लिए देवताओं की पवित्रता एक आदर्श के रूप में है। इसीलिए उस पवित्रता को पूर्व की ओर रखा जाता है। वही पवित्रता मानव समुदाय तक भी पहुँचे इसीलिए उत्तर की ओर भी रखनी चाहिए। वायु भी जो सबको पवित्र करता है वह दोनों लोकों के मध्य–एक छोर से दूसरे छोर तक पवित्रता को उत्पन्न करता है।

जिस तरह पहले सोमराजा को पवित्रता से स्वच्छ किया गया था उसी तरह से इसी पवित्रा से दूध को स्वच्छ करता है। जिस तरह से सोमराजा को मानते हुए उस का मुख उत्तर की ओर रखा जाता है वैसी ही इस पवित्रा को उत्तर की ओर रखा जाता है। रखते हुए इस मन्त्रांश का पाठ पढ़ता है–

''वसोः पवित्रमसि'' ।। यजुः १–३।।

यह यज्ञ धरती पर मानव मात्र को बसाने वाला है। कहावत भी है ''दूध है तो पूत है'' । अतः कढ़ाह में तपाया जाता दूध मानव मात्र को बसाता है तथा उसमें रखा पलाश रूपी ब्राह्मण अपने सदुपदेशों से मानव मात्र में पवित्रता का सञ्चार करता है। अब आगे उसी दूध को छन्नी से छानते हुए मन्त्रांश पढ़ता है–

''शतधारं सहस्रधारम्'' ।। यजुः १–३ ।।

जैसे सोमयाग में सोम को इस पवित्रा के साथ वस्त्र में छानते हैं उसी तरह यहाँ भी इसी पवित्रा के साथ छन्नी से दूध छानते हुए उसकी प्रशंसा करते हुए कहा जाता है – ''तू सौ धारा वाला और सहस्र धारा वाला होकर यजमान के यज्ञ में प्रवाहित होने वाला बन। तेरी इन धाराओं से यजमान का यह यज्ञ पवित्र हो।

इसके बाद वह अध्वर्यु मौन धारण कर लेता है क्योंकि उसने अभी तीन गौओं को दुहना है। यहाँ महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं–

वाग् वै यज्ञः। अविक्षुब्धः यज्ञं तनवा इति।। ।।१–७–१–१५।।

यहाँ याज्ञवल्क्य वाणी को ही यज्ञ मानते हैं। अतः यज्ञ निर्विघ्न सम्पन्न हो। इसीलिए वाणी का संयम यज्ञ में आवश्यक है। तभी यज्ञ निर्विघ्न सम्पन्न होगा। बहुधा यज्ञ में ही बैठ कर लोग परस्पर वार्तालाप प्रारम्भ कर दिया करते हैं जो उचित नहीं है। इसीलिए याज्ञवल्क्य ने कहा ''वाग् वै यज्ञः'' और

अथ वाचंयमः भवति।। १–७–१–१५।।

अर्थात् वह अध्वर्यु मौन धारण कर लेता है, जब तक तीन गौओं का दोहन नहीं हो जाता।

अब वह दोहन किए गए दूध को लाता है और पवित्र वस्त्र से छानते हुए मन्त्रपाठ करता है–

''देवः त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा''–इति।।

यजुः १–३।।

हम यहाँ प्रार्थना करते हैं कि सविता देव अपने शतधार वाले अर्थात् जिसमें असंख्य छिद्र हों उस छन्ने के द्वारा जो यज्ञ को पवित्र कर रहा है वही यज्ञ शतधार

वाला होकर मुझे पवित्र करे। यहाँ पर भी जैसे सोमयाग में पवित्रा से सोम छाना जाता है, उसी तरह यहाँ भी दूध को छाना जाता है। यहाँ बात स्पष्ट है कि यज्ञ को चलाने वाला पुरोहित होता है। पुरोहित विद्वान् ब्राह्मण होना चाहिए जो अपने ज्ञान की शतधाराओं व सहस्रधाराओं के प्रवाह से हमारे जीवन को पवित्र कर सके। प्रत्येक पुरोहित बनने का अधिकारी नहीं है, जैसा कि वर्तमान में देखने में आ रहा है।

अब आगे दोहन कर्ता और अध्वर्यु का संवाद है। उसी से तीन गौओं का ज्ञान हमें होगा। वह संवाद इस तरह से है– ''अध्वर्यु दोहन कर्त्ता से पूछता है–

''कामधुक्षः'' ।। यजुः १–३ ।।

अर्थात् तूने किस गाय को दुहा है? दोहन कर्त्ता उत्तर देता है – अमूम् अर्थात् मैंने इस गाय का दोहन किया है–

''सा विश्वायुः'' इति।। यजुः १–४ ।।

जो विश्व को आयु देने वाली है अर्थात् वह गाय जो विश्व को जीवन देने वाली है। आगे दूसरी गाय के सन्दर्भ में पूछता है – काम् अधुक्ष अर्थात् कौन सी दूसरी गाय का दोहन किया है? उत्तर दिया कि मैंने इस गाय का दोहन किया है जो–

''सा विश्वकर्मा'' ।। यजुः १–४ ।।

अर्थात् जो सारे संसार को रचने वाली है।

फिर तीसरी गाय के सन्दर्भ में पूछता है– काम् अधुक्षः? किस गाय का दोहन किया है? वह उत्तर देता – ''अमूम्''

''सा विश्वधाया'' ।। यजुः १–४ ।।

अर्थात् मैंने उस गाय का दोहन किया है जो सारे विश्व को धारण करने वाली है। जो सब को पालने वाली है।

यहाँ ये तीन गाय तो केवल प्रतीक मात्र हैं। वास्तव में ईश्वर ही यज्ञ में वह तीन गाय है जिसका दोहन यजमान को करना है। तीनों लोकों में वही परमपिता परमात्मा रहता है। उसी के पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यौ नाम के ये तीन लोक हैं। हमें भी इन लोकों की तरह ही विश्वायु, विश्वकर्मा तथा विश्वधाया बनना है। जैसे पृथिवी लोक विश्व को

आयु देने वाला है और अन्तरिक्ष विश्व का कर्म क्षेत्र है तथा द्यौ लोक सबको धारण करने वाला है, उसी तरह से यजमान भी तीनों गुणों से युक्त होना चाहिए। यही तीनों लोकों के सम्भरणी पदार्थ हैं। जब यह सर्वथा ज्ञान हो गया कि मैंने जीवन में इन्हें प्राप्त कर लिया है, तो अब वह उस मौन को भंग करता है।

अब वह आखिरी गाय को दोहन करने के पश्चात् जिस पात्र में उसने दोहन किया था, उससे अन्य पात्र में जिसमें उस दूध को गरम करना है उसमें डालता है। इसके पश्चात् दूध दुहने वाले उस पात्र में जल को डालता है क्योंकि दूध का जो अंश उस पात्र में लगा हुआ था उसे भी इसी दूध में सम्मलित करता है। ऐसा करने पर ही उस दूध में परिपूर्णता आती है। यह परिपूर्णता इस तरह की है जैसे आकाश से बादल बरसता है तो धरती पर अन्न उपजता है फिर उस अन्न को खाया जाता है। तब जल पिया जाता है तदनन्तर रस उत्पन्न होता है। इसीलिए इस की पूर्णता के लिए उस धोवन को डाला जाता है। फिर दूध को गरम किया जाता है। आग पर चढ़ाये उस दूध को गाढ़ा करता है, उसमें तेज को उत्पन करता है। फिर उसे नीचे उतार कर आतञ्चन करता है अर्थात् उस दूध में जामन लगाता है।

यहाँ तात्पर्य है कि पुरोहित को चाहिए कि यजमानों को जो ज्ञान दे वह दही की तरह उनके लिए रुचिकर हो। उस ज्ञान में रोचकता का जामन लगा कर उसे रुचिकर बनाने का प्रयत्न करे। उस ज्ञान को वह सत्य की कसौटी पर परख कर तब उपदेश अवश्य करे, मात्र मन्त्र पाठ ही यज्ञ नहीं होता। उस यज्ञ को जल की तरह प्रवाहित करे।

वह उस दूध में आतञ्चन करते हुए मन्त्र पाठ करता है–

''इन्द्रस्य त्वा भागं सोमेन आतनच्मि'' ।। यजुः १–४ ।।

अर्थात् हे दूध! तुम इन्द्र का भाग हो, मैं तुम्हें सोम के जामन से गाढ़ा करता हूँ। यह उसी तरह है जैसे पौर्णमास में यज्ञ करते हुए अग्नि, अग्नीषोम तथा विष्णु के नाम पर हवि दी जाती है और अमावास्या में अग्नीषोम और इन्द्राग्नि के नाम पर हवि दी जाती है। वैसे यहाँ पर भी इन्द्र के नाम पर उस देवता के लिए कहता है ''हे इन्द्र! तेरे

इस भाग को सोम से गाढ़ा करता हूँ अर्थात् स्वादिष्ट बनाता हूँ। ज्ञान व यज्ञ हमारे लिए रुचिकर हों यही कहने तात्पर्य का है।

दूध को उस पात्र से ढकना चाहिए जिसमें जल भरा हो क्योंकि भय रहता है कि उस दूध को कोई दुष्ट राक्षस अपवित्र न कर ले। अतः ढकते हुए उसे मन्त्र पढ़ना चाहिए–

''विष्णो हव्यं रक्ष'' ।। यजुः १–४ ।।

हे विष्णु! मेरी इस हवि की रक्षा करो। यहाँ यज्ञ ही विष्णु है। इसीलिए इस हवि को रक्षार्थ विष्णु के हवाले करता है। अतः वही यज्ञ, यज्ञ होता है जो जन कल्याण के हेतु हो। यज्ञ संगठन का नाम है। अतः हमारा समाज व परिवार संगठित रहे। इसीलिए उस दूध में सोम को मिलाता है, सोम नाम स्नेह का है। परस्पर प्यार से जीना सीखो यही अभिप्राय–दूध और सोम से है।

* * *

मनुष्य के चार ऋण

कर्मानुसार प्रत्येक प्राणी जन्म लेता है। उन सभी प्राणियों में मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। वह मनुष्य कितना भी श्रेष्ठ क्यों न हो? परन्तु वह जैसे भी जन्म लेता है, उस पर चार ऋणों का बोझ स्वतः ही आ जाता है और जब व्यक्ति ऋणी होता है तो उसमें स्वभाव से ही एक दब्बूपना आ जाता है। वह सिर उठाकर जीने में समर्थ नहीं हो सकता, उसका स्वाभिमान समाप्त हो जाता है। अतः सर्वप्रथम प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य बनता है कि जीवन में हमने इन चार ऋणों से मुक्त होना है, जिनका वर्णन याज्ञवल्क्य ऋषि ने इस तरह से किया है–

ऋणं ह वै जायते यः अस्ति। सः जायमानः एव देवेभ्यः
ऋषिभ्यः पितृभ्यः मनुष्येभ्यः।। १–७–२–१ ।।

यहाँ याज्ञवल्क्य के मतानुसार जो भी मनुष्य जन्म लेकर जिस भी तरह से अपना जीवन व्यतीत करता है तो वह अच्छी तरह जान ले कि वह ऋणी होकर अपना जीवन व्यतीत कर रहा है। वे ऋण चार हैं –

सर्वप्रथम – देव ऋण। द्वितीय – ऋषि ऋण
तृतीय – पितृ ऋण तथा चतुर्थ – मनुष्य ऋण।।

ये चारों ऋण उत्पन्न हुए सभी मनुष्यों पर हैं। इन चारों ऋणों से मुक्त होना मनुष्य का कर्त्तव्य है। इन ऋणों से किस तरह मुक्त हो सकते हैं, उसका मार्गदर्शन भी शतपथ ब्राह्मण में महर्षि याज्ञवल्क्य ने इस तरह से किया है–

सः यद् एव यजेत। तेन देवेभ्यः ऋणं जायते। तत् हि एभ्यः
एतत् करोति यत् एनान् यजते, यत् एभ्यः जुहोति।। १–७–२–२ ।।

सर्वप्रथम उत्पन्न हुए मनुष्य को देव ऋण से उऋण होना चाहिए, उसका एक मात्र साधन यज्ञ है। यज्ञ करते हुए मनुष्य देवताओं के लिए आहुति प्रदान करता है क्योंकि

प्रत्येक मनुष्य देवताओं के द्वारा की गई उपकारिता से सदैव ऋणी है। अतः उस ऋण से मुक्त होने के लिए यज्ञ किया जाता है, उसमें हवि–प्रदान करते हुए देवों को प्रसन्न करके ही मनुष्य देव ऋण से मुक्त हो सकता है। अतः हम सभी को यज्ञ करना चाहिए। जो अभागे यज्ञ नहीं करते वे कभी भी देव–ऋण से मुक्त नहीं हो सकते, क्योंकि देव ऋण से मुक्ति का एक मात्र साधन यज्ञ ही है।

द्वितीय जो ऋषि ऋण है उसके सन्दर्भ में भी याज्ञवल्क्य इस तरह से आदेश देते हैं–

> अथ यत् एव अनुब्रुवीत। तेन ऋषिभ्यः ऋणं जायते तत् हि
> एभ्यः एतत् करोति ऋषीणां निधिगोप इति हि
> अनूचानम् आहुः।। १–७–२–३।।

पैदा होने के बाद जब भी मनुष्य पढ़ना प्रारम्भ करता है उस पर उसी समय ऋषियों का ऋण सवार हो जाता है। अतः उस ऋण से भी मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। ऋषि हमें वेद का ज्ञान कराते हैं। उस ज्ञान का प्रचार–प्रसार करना ही ऋषि ऋण से मुक्त होने का साधन है। तभी हम ''निधिगोप'' अर्थात् ईश्वर के ज्ञान के रक्षक हो सकते हैं। यहाँ पर महर्षि दयानन्द सरस्वती का यह सिद्धान्त सबके लिए अनिवार्य रूप में स्वीकार्य होना चाहिए–

''वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना–पढ़ाना और सुनना–सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।''

यही हमारा धर्म भी है और धर्म ही नहीं परम धर्म है। इसे जीवन में अपना कर हम ऋषि ऋण से मुक्त हो सकते हैं।

तृतीय ऋण पितृ ऋण है। उसके सन्दर्भ में भी याज्ञवल्क्य इस तरह से व्याख्यान करते हैं–

> ''अथ यत् एव प्रजाम् इच्छेत। तेन पितृभ्यः ऋणं जायते,
> तत् हि एभ्यः एतत् करोति यत् एषाम् सन्ततौ अव्यवच्छिन्ना
> प्रजा भवति।। १–७–२–४।।

जब मनुष्य उत्पन्न होता है तब उसे सन्तान की कामना करनी चाहिए। यह इसीलिए कि वह पितृ ऋण से युक्त होता है उसे इस ऋण से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। वह इसीलिए भी अनिवार्य है क्योंकि जैसे हमें हमारे माता–पिता ने पाला–पोषा है, उसी तरह हम भी अपनी सन्तान का पालन–पोषण करते रहें, उसी से हमारी वंश परम्परा कायम रहेगी। उस परम्परा को सुचारु रूप से चलाये रखना ही पितृ ऋण से मुक्ति का साधन है। इसकी अनुपालना हमें करनी चाहिए।

आगे चतुर्थ ऋण का मनुष्य ऋण के रूप में व्याख्यान किया जाता है–

''अथ यत् एव वासयेत। तेन मनुष्येभ्यः ऋणं जायते तत्
हि एभ्यः एतत् करोति, यत् एनान् वासयते, यत् एभ्यः अशनं ददाति'' ।।
१–७–२–५ ।।

मनुष्य अपने बसने के लिए घर का निर्माण करता है, वह उस घर में बसता है। उसका उस घर में बसना तभी सार्थक होता है जब वह घर पर आये मनुष्य को भी अपने साथ बसाने का प्रयत्न करे अर्थात् उस अतिथि का जो घर पर आया है उसका सत्कारादि करे क्योंकि उस पर मनुष्य का ऋण है। यह अभिमान मत करना कि हम स्वतः ही पल गए हैं। हमें मनुष्य ने पाला है। अतः हम सभी पर यह मनुष्य ऋण सदैव बना रहता है, इस ऋण से मुक्ति का एक मात्र साधन है कि हम मनुष्य–मात्र का सत्कार करना सीखें तभी इस ऋण से मुक्ति सम्भव है। आये हुए व्यक्ति को वास ही नहीं देना अपितु उसका भोजनादि देकर सत्कार भी करना है। भोजन के रूप में अन्न देना महाकल्याण का रूप है। इस परम्परा को कायम रखना सभी गृहस्थियों का परम धर्म है।

हमें इन चारों ऋणों से छूटने का कार्य करना चाहिए। उसका जो लाभ है, उसे याज्ञवल्क्य इस तरह से वर्णित करते हैं–

''सः यः एतानि सर्वाणि करोति सः कृतकर्मा तस्य सर्वम्
आप्तं सर्वं जितम्'' ।। १–७–२–५ ।।

इस संसार में उत्पन्न हुआ जो मानव उपरोक्त चार ऋणों–देव ऋण, ऋषि ऋण, पितृ ऋण तथा मनुष्य ऋण – से उऋण होने का प्रयत्न करता है वह मनुष्य याज्ञवल्क्य के मतानुसार सभी कर्मों को करता हुआ ऋण मुक्त हो जाता है। वह अपने कर्त्तव्य कर्म को पहचानता है। इसीलिए उसे याज्ञवल्क्य ''कृतकर्मा'' मानते हैं क्योंकि वह विवेकपूर्वक कर्मों को करता है। उसके लिए इस संसार में ''सर्वम् आप्तम्'' अर्थात् कुछ भी प्राप्त करने के योग्य नहीं अर्थात् वह सब कुछ प्राप्त कर लेता है तथा 'सर्वं जितम्' अर्थात् वह सब कुछ जीत लेता है। उसके लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं होता।

इन चारों ऋणों से उऋण होकर कृतकर्मा, सर्वप्राप्त व सर्वजित् बनें, यही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है।

अन्त में उपसंहार करते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं–

''सः येन देवेभ्यः ऋणं जायते। तत् एनान् तत् अवदयते।
तस्मात् यद् किञ्च अग्नौ जुह्वति तदवदान नाम।। १–७–२–६।।

अर्थात् सर्वप्रथम मनुष्य देवताओं का ऋणी होता है। इसीलिए वह यज्ञ करता है, अग्नि में आहुति देता है और देवताओं को प्रसन्न करता है। यही सब यजमान की सुरक्षा के साधन हैं। इसीलिए अग्नि में जो आहुति दी जाती है वही अवदान होती है, रक्षक होती है।

* * *

वषट्कार का महत्त्व

याज्ञिक को यह समझ लेना चाहिए की यज्ञ की सफलता वषट्कार के आधीन है। इसीलिए यज्ञ में वषट्कार का महत्त्व बढ़ जाता है। जीवन में जब भी हम किसी कर्म को करते हैं तो उसकी सफलता को देखकर हम प्रसन्न होते हैं। प्रसन्न हम तभी होते हैं जब वह कर्म परिपूर्ण होता है। बस यही वषट्कार है। अब वषट्कार का अर्थ हुआ कि वह कर्म जो परिपूर्णता को प्राप्त हो। याज्ञिक ने यज्ञ किया, पूर्णाहुति कर ली। बस वर्तमान में यही यज्ञ का रूप है। इसीलिए यज्ञ लुप्तप्रायः हो रहा है क्योंकि न तो यजमान और न पुरोहित इस बात को देख रहा है कि जो कर्म हमने किया वह पूर्णता को प्राप्त हुआ है या नहीं। यज्ञ की परिपूर्णता ही वषट्कार है। इस सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य कहते हैं–

> तद् वै चतुः अवत्तम भवति। इदं वा अनुवाक्या
> अथ याज्या अथ वषट्कारः अथ सा देवता चतुर्थी
> यस्यै देवतायै हविः भवति।। १–७–२–७।।

नियमानुसार इस यज्ञ के चार भाग हुआ करते हैं– पहला–अनुवाक्य, दूसरा–याज्या, तीसरा–वषट्कार, चौथा–वह देवता जिसके नाम पर हवि दी जाती है। इस तरह इन चार भागों की पूर्ति के लिए चार बार हवि दी जाती है। इनमें बहुतायत घृत आहुतियों की होती है क्योंकि याज्ञवल्क्य लिखते हैं–

> ''एतद् वै जुष्टं देवानाम् यद् आज्यम्।। १–७–२–१०।।

अर्थात् यह जो घृत है वह देवों को प्रिय है। यह घृत की हवि देवों में प्रसन्नता को उत्पन्न करती है। आगे याज्ञवल्क्य वषट्कार के महत्त्व का इस तरह से वर्णन करते हैं–

> असौ वा अनुवाक्या इयं याज्या। ते उभे योषे
> तयोः मिथुनम् अस्ति, वषट्कारः एव तत् वा एषः एव

वषट्कारः यः एषः तपति सः उद्यन एव अमूम्
अधिद्रवति, अस्तम् यन् इमाम् अधिद्रवति तत्
एतेन वृष्णा इमाम् प्रजातिम् प्रजायेते या एनयोः इयम्
प्रजातिः ।। १–७–२–११ ।।

वषट्कार के इस यज्ञ में सर्वप्रथम अनुवाक्या तथा याज्या को समझना होगा। ये दोनों मिथुन हैं, जोड़े के रूप में इन्हें यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है जैसे पति–पत्नी या माता–पिता। यहाँ यही स्वरूप इनका भी है। अनुवाक्या यहाँ द्यौ है और याज्या पृथिवी है। ये दोनों स्त्रीलिङ्ग हैं। सृष्टि इन दोनों पर निर्भर है। द्यौ बरसती है और पृथिवी उपजती है। इन दोनों का जोड़ा ही वषट्कार है। वषट्कार वही होता है जो परिपूर्ण हो, यहाँ पर भी यह जोड़ा परिपूर्ण है। वषट्कार के रूप में हम सूर्य को भी स्वीकार करते हैं क्योंकि वह तपता है। जब वह उदय होता है तो उसका सम्पर्क द्यौ से होता है और जब अस्त होता है तो उसका सम्पर्क पृथिवी से होता है। अतः इस संसार में जो कुछ भी उत्पन्न होता है वह सब द्यौ और पृथिवी इन दोनों के संयोग से होता है। परन्तु ये किसी भी उत्पत्ति में समर्थ तभी होते हैं जब नर रूपी सूर्य का सम्पर्क इन्हें प्राप्त होता हो।

यह वषट्कार देवों के रस पीने का पात्र है। देवजन इसी पात्र से रसास्वादन करते हैं। पीने का आनन्द तभी आता है जब पात्र पूर्ण हो, अधूरी वस्तु देवों को प्रिय नहीं है। इसीलिए वषट्कार के साथ पहले अथवा अन्त में आहुति प्रदान करना, मानो रस से पात्र को परिपूर्ण करना है। वषट्कार से पहले आहुति देना ऐसे निरर्थक हो जाता है जैसे भूमि पर गिरा हुआ भोजन निरर्थक हो जाता है, व्यर्थ हो जाता है। अतः या तो वषट्कार के साथ आहुति करें अथवा वषट्कार के पश्चात्।

अब यहाँ वषट्कार के साथ यज्ञ करना ऐसा होता है मानो गर्भाशय में वीर्य का आधान हो गया हो। यदि वषट्कार से पूर्व ही उस यज्ञ में आहुति दें तो मानो योनि में वीर्य गया ही नहीं। वह व्यर्थ हो जाता है, इसीलिए या तो वषट्कार के साथ यज्ञ करें

अथवा वषट्कार के पश्चात्। आगे याज्ञवल्क्य पुनः अनुवाक्या और याज्या के सन्दर्भ में विवेचन करते हैं–

> ''असौ वा अनुवाक्या इयं याज्या। सा वै गायत्री इयं त्रिष्टुप् असौ सः वै गायत्रीम् अनु आह तद् अमूम् अनुब्रुवन् असौ हि अनुवाक्या इमाम् अन्वाह इयं हि गायत्री'' ।। १–७–२–१५

यहाँ इस बात को समझ लेना चाहिए कि यहाँ द्यौ अनुवाक्या है और यह पृथिवी याज्या है तथा यह द्यौ गायत्री भी है और यह याज्या अर्थात् पृथिवी त्रिष्टुप् भी है। वह जो गायत्री पढ़ता है वह मानो द्यौ को पढ़ता है। क्योंकि अनुवाक्या द्यौ है। इसीलिए वह जो अनुवाक्या का अनुवचन करता है वह गायत्री का अनुवचन करता हुआ इस द्यौ का अनुवचन करता है क्योंकि वही गायत्री है।

अब वह त्रिष्टुप् से यज्ञ करता है। इस तरह वह पृथिवी पर यज्ञ करता है क्योंकि याज्या पृथिवी है। उसके पश्चात् वह वषट्कार को करता है। जिस तरह से ब्रह्माण्ड में द्यौ से वर्षा की आहुति पृथिवी पर होती है उसी तरह यहाँ भी याज्या त्रिष्टुप् छन्द से की जाती है। इसके लिए तभी वषट्कार किया जाता है।

पश्चात् पृथिवी और द्यौ का सायुज्य होता है, मिलन होता है। ये दोनों सहभोजी हो जाते हैं। इन्हीं के सहभोज से ब्रह्माण्ड की सभी प्रजा भोजन करती है। इनकी सायुज्यता का साधन यही वषट्कार है। अन्यथा सभी प्रजा को भोजन मिलना असम्भव है। उच्चारण के सन्दर्भ में भी महर्षि याज्ञवल्क्य ने सुन्दर व्यवस्था दी है। अनुवाक्या का उच्चारण धीरे–धीरे विलम्बित लय में करना है क्योंकि यह अनुवाक्या द्यौ है तथा द्यौ बृहती छन्द के समान है। द्यौ भी बृहत् है। अतः बृहती के बोलने का रूप विलंबित रूप है। याज्या को जल्दी–जल्दी पढ़ें। यह याज्या पृथिवी है तथा पृथिवी को ही रथन्तर माना गया है, अतः पृथिवी भी रथन्तर की चाल चलती है। अनुवाक्या से वह आवाहन करता है और याज्या से प्रदान करता है। इसीलिए अनुवाक्या में बोलता है–

'हवे' (बुलाता हूँ) 'हवामहे' (हम बुलाते हैं) 'आगच्छ' (आओ) इदम् बर्हिःसीद (इस आसन पर बैठो)। इन अनुवाक्याओं के द्वारा बुलाता है और याज्या से प्रदान करता है और कहता है–

''हविः जुषस्व = इस हवि को सेवन करोः– १–७–२–१७

जुषस्व हविः – इस हवि को स्वीकार करो। आवृषायस्व – इस हवि पर अपना अधिकार जमाओ। अद्धि = इस हवि को खाओ। पिब = इस हवि को पियो। यह सब कुछ प्रदान करता हूँ, इसे याज्या द्वारा ही प्रदान करता हूँ।

आगे उन दोनों के लक्षण याज्ञवल्क्य देते हैं–

''सा या पुरस्तात् लक्षणा। सा अनुवाक्या स्यात् असौ हि अनुवाक्या
तस्या अमुष्या अवस्तात् लक्ष्म चन्द्रमा नक्षत्राणि सूर्यः।। १–७–२–१८

अनुवाक्या पुरस्ताल्लक्षणा होनी चाहिए अर्थात् जिसके चिह्न लक्ष्य के सामने लटकें वह अनुवाक्या है। यह द्यौः अनुवाक्या है। उसके ये चिह्न सामने रखे हुए हैं – चन्द्रमा, नक्षत्र और सूर्य के रूप में।

अब याज्या का लक्षण इस तरह से है–

अथ या उपरिष्टात् लक्षणा। सा याज्या स्यात् इयं हि
याज्या तस्याः अस्याः उपरिष्टात् लक्ष्म
ओषधयः वनस्पतयः आपः अग्निः इमाः प्रजाः ।। १–७–२–१९

याज्या भी उपरिष्टाल्लक्षणा है। अर्थात् जिसके लक्षण लक्ष्य के ऊपर रखे हों वह याज्या है और याज्या यही पृथिवी है। इसके ऊपर के लक्षण हैं–ओषधि, वनस्पति, जल, अग्नि और यह प्रजा।

उसी अनुवाक्या को श्रेष्ठ माना जाता है जिसके आदि में देवता का नाम लिया जाता हो। वह याज्या श्रेष्ठ होती है जिसके अन्त में भी देवता का स्मरण किया जाता हो और उसी देवता के लिए वषट्कार किया जाता हो। यहाँ याज्ञवल्क्य ने बहुत ही सुन्दर कहा है–

''वीर्यं वै देवता ऋचः'' १–७–२–२०

अर्थात् देवता से युक्त ऋचा ही वीर्य है अर्थात् कर्मकाण्ड का प्राण है। इसीलिए आदि और अन्त दोनों ओर से इस कर्मकाण्ड को शक्ति सम्पन्न करता है। तात्पर्य यह

है कि जब भी हम कर्मकाण्ड को प्रारम्भ करते हैं तो उसकी जो प्रक्रिया है उसे जान लें तथा अन्त तक उसे उसी विधि के अनुसार सम्पन्न करें।

अब अध्वर्यु ''वौक्'' कहता है। यह ''वौक्'' वाणी है और वाणी ही वषट्कार है तथा वाणी ही वीर्य है। और यह वीर्याधान के समान है। यहाँ ''षट्'' का उच्चारण करता है जिसका अभिप्रायः छः ऋतुओं से है। इस तरह छः ऋतुओं में वीर्याधान किया जाता है। ऋतुओं द्वारा किया गया वीर्याधान इन प्रजाओं को उत्पन्न करता है। इसीलिए वषट्कार करता है।

जिस कर्मकाण्ड में निरन्तरता है उसका परिणाम यह प्रजा है। इसीलिए वषट् में दो शब्द हैं 'व+षट्' = वषट्।।

कर्मकाण्ड में हमें फलोपलब्धि इसीलिए नहीं होती क्योंकि हम वषट्कार नहीं करते। जिस प्रक्रिया से हम उस कर्मकाण्ड को करते हैं, उसी उत्साह से उसे सम्पन्न भी करना चाहिए।

* * *

दर्शपूर्णमास महत्त्व

दर्शपूर्णमास के दो पखवाड़े हैं, जिन्हे हम अर्धमास के रूप में १५–१५ दिनों में विभाजित करते हैं और उन्हें शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष में विभाजित करते हैं। ब्रह्माण्ड के चक्र में इन दोनों पक्षों का बड़ा महत्त्व है। हमारे जितने भी दैविक कृत्य होते हैं अथवा दैनिक कर्म होते हैं उन्हें प्रायः शुक्ल पक्ष में ही करने का विधान होता है क्योंकि इस पक्ष में चन्द्रमा प्रतिपदा से लेकर बढ़ता हुआ पूर्णिमा के दिन पूर्णता को प्राप्त होता है। उस दिन सम्पूर्ण अन्धकार समाप्त हो जाता है। उसी तरह मनुष्य भी जीवन में अभ्युदय को प्राप्त करे, उसके जीवन में अज्ञानतावश अथवा प्रमादवश जो भी अन्धकार आया हो वह सर्वथा समाप्त हो जाय। इसीलिए इसे देवपक्ष भी माना गया है क्योंकि देव प्रकाश में रहना पसन्द करते हैं। संसार में बहुधा प्रवृत्ति है कि हम कोई भी कार्य यदि प्रारम्भ करने जा रहे हैं तो उसे हम इसी शुक्ल पक्ष में प्रारम्भ करते हैं। हमारा अभिप्रायः होता है कि हमारा कार्य चाँद की तरह अभ्युदय को प्राप्त हो।

दूसरा पक्ष कृष्ण पक्ष होता है। इसमें चाँद घटना प्रारम्भ हो जाता है और अमावास्या के दिन पूर्ण रूप से घट जाता है। उस दिन अन्धकार ही अन्धकार छा जाता है। इस पक्ष में कोई भी दैविक अथवा जीवन के कृत्यों को उचित नहीं समझा जाता क्योंकि यहाँ चन्द्रमा का क्षय है। हमारा कार्य अथवा व्यापार घटे यह कोई भी नहीं चाहता। हाँ हिन्दूसमाज में एक परम्परानुसार एक पर्व मनाया जाता है, जिसे ''करवा चौथ'' के नाम से जाना जाता है। इसमें सौभाग्यवती महिलाएँ अपने पति की आयुवृद्धि के लिए चतुर्थी तिथि के घटते चाँद से प्रार्थना करती हैं। उन्हें कौन समझाये कि जो चाँद खुद घट रहा है, उस घटते हुए चाँद से क्या यही प्रार्थना करोगी – हे चाँद! जैसे तू घट रहा है वैसे मेरे पति की आयु घटती जाय। यह नहीं करना चाहिए। पूजना ही है तो उससे चार दिन पूर्व शरद् पूर्णिमा के चाँद की पूजा करो। वह चाँद पूर्ण है उससे पति की आयु की पूर्णता की प्रार्थना सार्थक है।

कृष्णपक्ष का यह अर्द्धमास घटते चाँद का है। इसमें अन्धेरा अधिक है अतः इसे असुरों का पक्ष माना जाता है क्योंकि अन्धकार असुरों को ही प्रिय है। महर्षि याज्ञवल्क्य एक कथानक के रूप में दर्शपूर्णमास के महत्त्व को इस तरह से प्रतिपादित करते हैंः–

> ''देवाश्च वा असुराश्च। उभये प्राजापत्याः। प्रजापतेः पितुः दायम्
> उपेयुः एतौ एव अर्धमासौ यः एव आपूर्यते तं देवाः उपायन् यः
> उपक्षीयते तम् असुराः'' ।। १–७–२–२२ ।।

देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्ताने हैं इसीलिए उन्हें प्रजापति का दाय–भाग मिला। अर्थात् पिता के पास जो भी सम्पत्ति होती है उसमें सन्तान का भाग होता है। उसी तरह यहाँ भी देव व असुरों को दाय–भाग मिला। मास में जो दो पखवाड़े अर्थात् अर्धमास होते हैं वे दाय भाग में उपलब्ध हुए। जिन्हें शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष के रूप में जाना जाता है। इनमें जो यह बढ़ता पक्ष है वह देवों को प्राप्त हुआ और उतरता पक्ष असुरों को प्राप्त हुआ है।

पिता का सारा भाग हड़पने की प्रवृत्ति आज भी है और पहले भी थी। इसी बात को याज्ञवल्क्य यहाँ इस तरह से दर्शा रहे हैं–

> ते देवाः अकामयन्त कथं नु इमम् अपि संवृञ्जीमहि यः अयम् असुराणाम्
> इति। ते अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः। ते एतम् हविर्यज्ञम् ददृशुः।
> यत् दर्शपूर्णमासौ ताभ्याम् अयजन्त। ताभ्याम् इष्ट्वा
> एतम् अपि समवृञ्जत।। १–७–२–२३ ।।

देव तो समझदार, बुद्धिमान् थे ही, उन्होंने सोचना प्रारम्भ किया कि हमें ऐसा उपाय करना चाहिए कि असुरों का यह भाग भी हमें मिल जाये। इसके लिए वे परिश्रम करते हुए और ईश्वरयजन करते हुए विचरने लगे। यहाँ यह बात तो स्पष्ट है कि बिना परिश्रम व ईश्वर–यजन के बिना कुछ भी साध्य नहीं है। कार्य में सफलता के लिए उद्यम व ईश्वर कृपा अनिवार्य है। देवों ने भी ऐसा ही किया। तब उन्होंने हविर्यज्ञ अर्थात् दर्शपूर्णमास को देखा। तब उन्होंने पूर्णिमा व अमावास्या के रूप में दोनों इष्टियों से यज्ञ किया। इस तरह उन्होंने असुरों के दाय भाग कृष्ण पक्ष को भी प्राप्त कर लिया।

यह जो असुरों का भाग था उसे भी देवों ने प्राप्त कर लिया। शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष ये दोनों जब चक्कर काटते हैं तो मास पूर्ण होता है। फिर मास–मास से संवत्सर बनता है। संवत्सर पूर्ण–चक्र होता है। इस तरह से देवों ने असुरों का सब कुछ प्राप्त कर लिया। उन्होंने अपने शत्रु असुरों को सब कुछ से वञ्चित कर दिया। यहाँ याज्ञवल्क्य लिखते हैं:–

सर्वस्मात् सपत्नान् निर्भजति यः एवम् एतद् वेद।। १–७–२–२४।।

जो यजमान इस रहस्य को जान लेता है वह शत्रुओं का सब कुछ छीन लेता है और शत्रुओं को सर्वस्व से वञ्चित कर देता है। उनके पास कुछ भी शेष नहीं रहता है।

जो देवों का अर्द्धमास है उसे ''यवा'' कहते हैं क्योंकि देव उसके साथ युक्त थे। असुरों के अर्द्धमास या उस दायभाग को ''अयवा'' कहते हैं क्योंकि असुर उससे युक्त न हो सके।

परन्तु इसे विपरीत भी कह सकते हैं। जो देवों का दाय भाग था उसे ''अयवा'' कहते हैं, क्योंकि असुर उसे प्राप्त नहीं कर सकते और जो असुरों का दायभाग था उसे ''यवा'' कहते हैं क्योंकि देवों ने उसे ग्रहण कर लिया। यहाँ दिन को ''सब्द'' कहते हैं और रात्रि को ''सागरा'' कहते हैं। महीने को ''यव्य'' और वर्ष को ''सुमेक'' कहते हैं। यहाँ ''स्वेक'' ही ''सुमेक'' है। फिर यहाँ पर जो ''यवा'' था वह ''अयवा'' बना और ''अयवा'' था वह ''यवा'' बना। कर्मकाण्ड के इस संवाद को ''याविहोत्र'' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि इस अर्द्धमास के यज्ञ में छोटा बड़े को बुलाए और बड़ा छोटे को बुलाए। परस्पर स्नेह भावना से इस दर्शपूर्णमास के यज्ञ को करना चाहिए। तभी यज्ञ का लाभ प्राप्त हो सकेगा, तभी हमें कोई भी पराभूत नहीं कर सकता। हम सर्वविजयी हो सकते हैं। यह था दर्शपूणमास का महत्त्व।

* * *

यज्ञ में स्विष्ट्कृत् का महत्त्व

यज्ञ में स्विष्टकृत् आहुति का बहुत बड़ा महत्त्व है, यजमान का संकल्प इसी के सहारे यज्ञ में फलीभूत होता है। क्योंकि स्विष्टकृत् का शाब्दिक अर्थ है – ''सु + इष्ट + कृत्'' अर्थात् वह कर्म जो अच्छी तरह से यजमान के संकल्प को पूर्ण करता है। उसमें किसी तरह की न्यूनता व अधिकता नहीं होनी चाहिए। वह कर्म पूरिपूर्ण होना चाहिए, तभी वह ''स्विष्टकृत्'' हो सकता है। प्रत्येक यजमान का मनोरथ होता है कि उसका यह यज्ञ कर्म पूर्णता को प्राप्त हो इसीलिए इस आहुति को यज्ञ सम्पन्न होने से पहले देते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुसार यह आहुति घृत अथवा भात की होनी चाहिए। घृत की इसलिए कि यज्ञ करने वालों में घृत की तरह स्निग्धता अर्थात् परस्पर स्नेह–प्यार बना रहे, भात इसलिए कि यजमान जीवन में भात की तरह खिलने वाला बने, वह सदैव हँसमुख बना रहे। यही यज्ञ का सबसे बड़ा फल हुआ करता है। परन्तु आज लोगों ने इस आहुति को विकृत रूप में धारण कर लिया है। वे भात बनाते ही नहीं, लड्डू चढ़ा कर यज्ञ की इति श्री कर देते हैं। यह सर्वथा अनुचित है। उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए क्योंकि ''स्विष्टकृत्'' आहुति ही स्वर्ग का सोपान है। अतः इसे बड़ी श्रद्धा के साथ नियमानुसार यज्ञ में चढ़ाना चाहिए। आओ अब इस सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य की चर्चा कर लेते हैं–

> यज्ञेन वै देवाः। दिवम् उपोद्क्रामन् अथ यः
> अयं देवः पशूनाम् ईष्टे। सः इह अहीयत तस्माद्
> वास्तव्यः इति आहुः वास्तौ हि तत् अहीयत।।१–७–३–१ ।।

यह बात सर्वविदित है कि देवों ने यज्ञ के सहारे ही द्यौ लोक को प्राप्त किया और देवों ने वहीं अपना डेरा डाल दिया। परन्तु जो देव पशुओं का अधिष्ठाता था वह पीछे

इसी लोक में रह गया। इसीलिए उसे वास्तव्य अर्थात् ब्राह्मण कहते हैं, क्योंकि वह वहाँ वास्तु अर्थात् यज्ञ की वेदि में रह गया।

इस कण्डिका के मार्मिक तात्पर्य को समझना अनिवार्य है। यहाँ पर ''पशु'' शब्द दिया गया है, जो मनुष्य के लिए है। क्योंकि मनुष्य सर्वप्रथम द्रष्टा होता है, देखता है फिर वह सदसद् का मनन करता है। उन पर शासन करने वाला, उन्हें रास्ता दिखाने वाला ब्राह्मण होता है। ब्राह्मण यजमान के साथ यज्ञ करता रहा और देवों को यज्ञ के माध्यम से प्रसन्न करता रहा। देव उस यज्ञ के माध्यम से द्यौलोक को प्राप्त कर गये। परन्तु पशुओं का द्रष्टा वह ब्राह्मण जो अपने यजमानों को बसाने वाला है तथा वह यजमान जो यज्ञपति है वह यज्ञ की ही वेदि में बस गया। हम सभी यज्ञ वेदि के चारों तरफ ही बैठने वाले बन कर रह गये और देव द्यौलोक में जाकर डेरा डाल कर बैठ गये। अतः हमारा प्रयत्न यज्ञ के माध्यम से देवों को ही प्रसन्न करने का नहीं होना चाहिए अपितु हमने भी देवों की तरह यज्ञ के माध्यम से द्यौलोक को प्राप्त करना है।

अब आगे महर्षि याज्ञवल्क्य सुन्दर उपदेश देते हुए कहते हैं–

सः येन एव देवाः दिवम् उपोदक्रामन्। तेन उ एव
अर्चन्तः श्राम्यन्तः चेरुः अथ यः अयं देवः पशूनाम्
ईष्टे यः इह अहीयत।। १–७–३–२।।

अब जिस यज्ञ के माध्यम से देवों ने द्यौलोक को प्राप्त किया था वे उसी यज्ञ के द्वारा ईश्वर को भजने लगे और परिश्रम करते हुए द्यौलोक में विचरने लगे। अब जो यह पशुओं का अधिष्ठाता देव था वह यहीं पिछड़ा पड़ा रहा।

उसने तब विचार किया 'अरे भाई मैं तो पिछड़ गया। जिस यज्ञ के माध्यम से मैं देवताओं को प्रसन्न करता रहा वे देव तो द्यौलोक के अधिष्ठाता बन कर विचर रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अब ये मुझे यज्ञ का भाग नहीं देंगे। मुझे यज्ञ के भाग से वञ्चित कर देंगे'। अतः वह उनके पीछे उत्तर की दिशा में अपना शस्त्र उठाकर चल पड़ा। चल कर जब वहाँ पहुँचा तो यज्ञ में वही समय स्विष्टकृद् आहुति का था जिसके सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य ने लिखा–

''यः एषः स्विष्टकृतः कालः'' ।। १–७–३–३

यहाँ इस बात को भी समझ लेना चाहिए कि उत्तर दिशा को उस पशुपति ने क्यों पकड़ा, वह उत्तर दिशा की ओर क्यों चला? इस प्रश्न का उत्तर याज्ञवल्क्य स्वयं देते हैं कि–

''प्राची देवानां दिग् उदीची मनुष्याणाम्'' ।।

इस नियमानुसार मनुष्य की दिशा उत्तर दिशा है अतः उसने उत्तर दिशा का ही सहारा लिया और वह देवों के मार्ग में खड़ा हो गया। अर्थात् उसने मानो देवों का द्यौलोक में विचरने वाला रथ ही रोक लिया, रथ रुक जाने पर देवों ने उससे निवेदन किया – ''तू हमारे इस यज्ञ का विध्वंस मत कर। यज्ञ के विध्वंस हो जाने पर हमारी महत्ता भी विध्वंस हो जायेगी''। तब वह बोला – मैं तुम्हारे यज्ञ का विध्वंस नहीं करता, परन्तु मुझे भी इस यज्ञ से बहिष्कृत मत करो। मेरे लिए भी इस यज्ञ में चढ़ने वाली आहुतियों में भाग दो। देवों ने स्वीकार करते हुए कहा– ''तथास्तु'' वह उस भाग से प्रसन्न हुआ। फिर उसने न किसी को अपने उन हथियारों से मारा और न ही किसी को सताया।

अब देवों ने कहा – जितनी आहुतियाँ हमें चढ़ायी गयी हैं अर्थात् जिन आहुतियों का हमने उपयोग कर लिया है उनमें से ही एक आहुति इसे दी जा सकती है। अतः उन्होंने अध्वर्यु से कहा–

''पूर्ववत् इन हवियों पर घी छोड़ो''। इसे ही अवधारण कहते हैं और फिर एक अवदान अर्थात् भाग के लिए पूर्ण करो। ये सभी कार्य अध्वर्यु के हैं और फिर एक–एक भाग को लेकर आहुति का प्रावधान करो। उसी को रुद्र माना गया, वही वास्तव्य है। वही भाग यज्ञ का वास्तु माना गया है। स्विष्टकृद् भाग हवि यज्ञ करने के पश्चात् ग्रहण किया जाता है। जिस भी देवता के लिए हवि दी जाती है उन सब में स्विष्ट्कृद् का भाग विद्यमान रहता है क्योंकि देवों ने सब हवियों से उसके लिए भाग ग्रहण किया है।

वस्तुतः आहुति ''अग्नये'' कह कर दी जाती है। यह आहुति अग्नि के नाम की होती है क्योंकि अग्निदेव ही सब देवताओं का देव है। उसी के ये सब नाम हैं। प्राच्य लोग इसे ''शर्व'' नाम से पुकारते हैं। वाहीक लोग इसे ''भव'' नाम से पुकारते हैं।

पशुपति, रुद्र, अग्नि ये सभी नाम उसी के हैं। परन्तु ये अन्य नाम अशान्त हैं। अग्निदेव ही शान्ततम है– इसीलिए ''अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा'', कह कर यह आहुति दी जाती है। अतः देव लोग कहते हैं कि हमने जो तुझे उद्देश्य करके यज्ञ किया, उसमें जो आहुतियाँ दीं उसे तू स्विष्टकृत् कर दे, तब वह उसे स्विष्टकृत् कर देता है। इसीलिए यज्ञ में ''अग्नये स्विष्टकृते'' यह बोला जाता है।

अब होता अग्नि को सम्बोधित करके कहता है –

यक्षत् स्वम् महिमानमिति ।।१–७–३–१३ ।।

अर्थात् अपनी महिमा के लिए हवन करें। जहाँ इस प्रकार अग्नि के द्वारा देवताओं का आवाहन किया जाता है, वहाँ वह अग्नि की निज महिमा का भी आवाहन करता है। इससे पूर्व उसकी निज महिमा के लिए कुछ नहीं किया गया था, अतः इस तरह से प्रसन्न करता है। इसलिए स्पष्ट कहा गया है–

''यक्षत् स्वं महिमानम्'' इस तरह से उसके कार्य अमोघ रहते हैं जो इसके प्रति जागरूक रहता है। तात्पर्य यह है कि यज्ञ परतः सुखाय होता है अतः परोपकार करते रहना चाहिए। इसीलिए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज के नौवें नियम में लिखा–

''प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए,
किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए''।

इसीलिए याज्ञवल्क्य ने लिखा–

''अपनी महिमा के लिए यज्ञ कर''

अब कहते है–

''आ यजतामेज्या इषः'' ।।१–७–३–१४ ।।

अर्थात् ''यज्ञ के योग्य अन्न द्वारा यज्ञ किया जाय।'' यहाँ इषः अर्थात् अन्न से प्रजा का बोध किया जाता है। इस तरह प्रजाजन को यज्ञ से जोड़ने का प्रयत्न किया जाता है। इसीलिए ये प्रजाजन यज्ञकर्म तथा प्रभु आराधना व श्रम में लगी हुई

इस जगत् में विचर रही है। यज्ञ में उपस्थित सभी जन पूजनीय हैं, क्योंकि वे सभी यजनीय हैं।

फिर वह कहता है–

अध्वरा जातवेदा जुषतां हविः।। १–७–३–१५।।

यजमान को हानि न पहुँचाने वाले और सब उत्पन्न हुए पदार्थों को जानने वाले ये देव पवित्र हवि को ग्रहण करें। यह वाक्य यज्ञ की समृद्धि के लिए आशीर्वचन है। इस तरह वह यज्ञ की समृद्धि को चाहता है, जिससे कि यजमान बहुत समृद्धि को प्राप्त करता है। क्योंकि यदि देवों ने हवि को ग्रहण किया तो मानो उसकी बड़ी सफलता हो गई। इसीलिए कहा गया है–

''जुषतां हविरि''ति।।

इस प्रक्रिया में ''याज्या'' और ''अनुवाक्या'' बहुत कुछ एक से प्रतीत होते हैं। यहाँ स्विष्टकृद् तृतीय सवन का यज्ञ है। यह तृतीय सवन विश्वदेवों का होता है, अतः कहा गया है–

''पिप्रीहि देवाँ उशतो यविष्ठ'' ।। १–७–३–१६।।

अर्थात् हे सबसे युवा! तुम इच्छुक देवों को प्रसन्न करो। यह वाक्यांश अनुवाक्य का विश्वदेवों के लिए है। फिर कहता है–

''अग्ने यदद्य विशोऽध्वरस्य होता'' ।। १–७–३–१६।।

अर्थात् हे यज्ञ के होता अग्नि! तुम आज इस यज्ञ में सम्मिलित लोगों के पास आओ। यज्ञ का यह वाक्यांश वैश्व देवों के लिए है। यह सोमयाग के तृतीय सवन के रूप में है। इसीलिए यह याज्यानुवाक्य उचित है। ये दोनों याज्या और अनुवाक्या त्रिष्टुप् छन्द से सम्पादित किये जाते हैं। यज्ञ में स्विष्टकृत् निवासस्थान के रूप में है।

यह निवासस्थान निर्वीर्य है क्योंकि जब तक उसमें कोई बसने वाला न हो तब तक वह निरर्थक है। बसने वाले के बिना उसका कोई महत्त्व नहीं। यहाँ त्रिष्टुप् वीर्यवान् है। अतः त्रिष्टुप् स्विष्टकृत् में वीर्य का सञ्चार करता है, अतः ये दोनों त्रिष्टुप् ही हैं।

ये दोनों स्विष्टकृत् और त्रिष्टुप्, त्रिष्टुप् छन्द में ही प्रयोग में लाये जाते हैं। अनुष्टुप् वास्तु है अर्थात् निवास स्थान है और स्विष्टकृत् भी वास्तु है। इस रहस्य को

जानने वाला यजमान फूलता–फलता है और उसकी सन्तान और पशु भी फूलते–फलते हैं, जिसके याज्या और अनुवाक्या दोनों त्रिष्टुप् होते हैं।

यहाँ याज्ञवल्क्य इसके महत्त्व को ऐतिहासिक कथानक द्वारा प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते हैं – ''एक भाल्लवेय था उसने अनुवाक्या में त्रिष्टुप् का अनुप्रयोग किया तथा याज्या में त्रिष्टुप् का प्रयोग किया। उसकी मनसा थी कि एक ही विधि में दोनों का फल उपलब्ध हो जाये। वह रथ से गिर पड़ा और दोनों बाहू टूट गये। अब वह सोचने लगा – ''मैंने कहाँ भूल की जिसके कारण यह बुरा परिणाम हुआ। तब उसकी समझ में आया कि मैंने यज्ञ में विलोमता की है, अतः यज्ञ में कभी भी विलोमता न करें। ये दोनों याज्या–अनुवाक्या यज्ञ में एक ही छन्द से प्रयुक्त होने चाहिएँ, ये दोनों या तो त्रिष्टुप् हों अथवा अनुष्टुप् हों।

''स्विष्ट्कृत्'' आहुति के सन्दर्भ में जो व्यवस्था याज्ञवल्क्य ने दी है उस व्यवस्था का हमें पालन करना चाहिए। व्यवस्था से मर्यादित यज्ञ ही हमें करना चाहिए क्योंकि यह स्विष्टकृत् आहुति महत्त्वपूर्ण है इस सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य लिखते हैं–

> ''स वा उत्तरार्धाद् अवद्यति। उत्तरार्धे जुहोति एषा हि एतस्य
> देवस्य दिक् तस्माद् उत्तरार्धाद् अवद्यति उत्तरार्धे जुहोति एतस्यै
> वै दिश उदपद्यत तं ततः एव अशमयन् तस्माद् उत्तरार्द्धाद्
> अवद्यति उत्तरार्द्धे जुहोति'' ।। १–७–३–२०।।

स्विष्टकृत् के महत्त्व को समझने के लिए इस कण्डिका को समझना अनिवार्य है। यहाँ याज्ञवल्क्य आदेश देते हैं कि – ''स्विष्टकृत् का यज्ञ में अवदान उत्तरी भाग से काट कर हवन के लिए लेना चाहिए और उत्तरी भाग में ही यज्ञकुण्ड में आहुति देनी चाहिए। क्योंकि यही इस देव स्विष्टकृत् की दिशा है। इसी दिशा से यह उत्पन्न हुआ है। इसी दिशा में इसे शान्त किया गया है। इसीलिए उत्तरी भाग से काटता है और यज्ञ कुण्ड के उत्तरी भाग में हवन में चढ़ाता है क्योंकि–

> ''प्राची वै देवानां दिगुदीची मनुष्याणां दिगिति''।

अर्थात् पूर्व की दिशा देवताओं की है और उत्तर की दिशा मनुष्यों की है यहाँ स्विष्टकृत् देव उत्तर दिशा में विद्यमान है। अतः उत्तर दिशा में ही इसका हवन करें।

स्विष्टकृत् आहुति को अन्य आहुतियों से बचा कर चढ़ाना चाहिए क्योंकि अन्य आहुतियों के पश्चात् प्रजा उत्पन्न होती है। स्विष्टकृत् को रुद्रिय अर्थात् रुद्र की शक्ति माना गया है। यदि अध्वर्यु स्विष्टकृत् आहुति को अन्य आहुतियों से मिला दें तो मानो वह पशु पर रुद्र की शक्ति को लाये और उसके घर और पशु नष्ट हो जावें। इसीलिए स्विष्टकृत् आहुति को अन्य आहुतियों से बचाकर उत्तर दिशा में ही देता है।

यह वही यज्ञ है जिससे देव लोग द्यौलोक तक पहुँचे हैं। यहाँ आहवनीय ही वह यज्ञ है। जो यहाँ रह गया, वह गार्हपत्य है। अतः इसे अर्थात् आहवनीय को पूर्व दिशा में रखा जाता है। उसके लिए गार्हपत्य से अंगारा लेकर पूर्व दिशा में स्थापित किया जाता है।

यहाँ कुछ लोगों का मन्तव्य है कि आहवनीय अग्नि को गार्हपत्य अग्नि से आठ पग पूर्व की ओर रखें। क्योंकि गायत्री आठ अक्षर की होती है। इस प्रकार यजमान गायत्री द्वारा द्यौलोक को चढ़ता है।

कुछ लोगों की धारणा है कि ग्यारह पग पर रखें क्योंकि त्रिष्टुप् ग्यारह अक्षरों का होता है। इस तरह से यजमान त्रिष्टुप् के द्वारा द्यौलोक को चढ़ता है।

कई लोगों की आवधारणा है कि इस आहवनीय अग्नि को बारह पग पर स्थापित करें क्योंकि जगती के बारह अक्षर होते हैं। अतः यह यजमान जगती छन्द के द्वारा देवलोक की ओर बढ़ता है। यहाँ याज्ञवल्क्य अपना मत इस तरह अभिव्यक्त करते हैं–

''नात्र मात्रास्ति यत्रैव स्वयं मनसा मन्येत तदादधीत स यद्वा
अप्यल्पकमिव प्राञ्चम् उद्धरति तेनैव दिवम् उप उत्क्रामति'' ।।

१–७–३–२५ ।।

अर्थात् यहाँ याज्ञवल्क्य का मत है कि यहाँ कोई भी मात्रा निश्चित नहीं है। जहाँ मन चाहे वहीं पर अवधान करें। यदि थोड़ा सा भी पूर्व की ओर रख दें तो उससे भी द्यौलोक की ओर चढ़ जायेंगे।

हवियों को आहवनीय अग्नि पर न पका कर गार्हपत्य अग्नि पर ही पकाना चाहिए। क्योंकि आहवनीय अग्नि इस काम के लिए नहीं है कि इस पर अपक्व अन्न को पकाया जावे। यह तो इसीलिए है कि यहाँ पकाये हुए अन्न की आहुति दी जावे। प्रायः करके देखा जाता है कि यज्ञ–कुण्ड की जलती हुई अग्नि पर घी को गरम करने का कार्य यजमान करता हुआ देखा जाता है, यह अपस्खलन है। उसी में पूजा और श्रम करना अनुचित है। यज्ञ में यज्ञ ही होना चाहिए अन्य कार्य नहीं।

इसी प्रसंग में यज्ञ की पुकार को अभिव्यक्त करते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं–

''स हैष यज्ञ उवाच। नग्नताया वै बिभेमी''ति।।१–७–३–२८

अर्थात् यज्ञ की सबसे एक ही पुकार है कि मुझे नंगेपन से डर लगता है। यज्ञ में यह नग्नता यज्ञ को स्वीकार्य नहीं। इसीलिए यज्ञ कुण्ड के चारों ओर कुशा के आसनों को बिछाया जाता है, कभी भी एक आसन बिछाकर यज्ञ नहीं करना चाहिए। यही नग्नता है। इसी से यज्ञ डरता है।

आगे फिर यज्ञ की पुकार है –

''तृष्णाया वै बिभेमीति का ते तृप्तिरिति ब्राह्मणस्यैव तृप्तिमनु–
तृप्येयमिति तस्मात् संस्थिते यज्ञे ब्राह्मणं तर्पयितवै
ब्रूयात् यज्ञमेव एतत् तर्पयति'' ।। १–७–३–२८।।

यज्ञ फिर बोला है – मैं भूख–प्यास से डरता हूँ। फिर यज्ञ से पूछा गया कि तेरी भूख–प्यास कैसे जायेगी? तथा तृप्ति कैसे होगी? तब यज्ञ बोला – यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण की तृप्ति से मेरी तृप्ति होती है। इसीलिए यज्ञ के पश्चात् ब्राह्मण को तृप्त करो। तभी यज्ञ तृप्त होगा। इस बात का ध्यान सभी यजमानों को रखना चाहिए। ब्राह्मण को अन्न, धन, वस्त्रादि से तृप्त करो। यज्ञ तृप्त हो जाएगा, यह कार्य भी स्विष्टकृत् होगा।

* * *

स्मृतिशेष लेखक
आचार्य रामानन्द जी
शिमला
-: सौजन्य :-
श्रीमती रमा व श्री सुरेश मुंजाल
श्रीमती अनु व श्री समीर मुंजाल
श्रीमती स्वाति व श्री गौतम मुंजाल
सत्यं फाउंडेशन, दिल्ली व लुधियाना